मीमांसादर्शन में विधिभिन्न वेदवाक्य



विधि मंत्र
अर्थवाद नामधेय
निषेध

डा0 गायत्री शुक्ला

मीमांसादर्शन में विधिभिन्न वेदवाक्य

Mimanasadarshan Mein Vidhibhinna Vedwaky

लेखिका

डॉ० गायत्री शुक्ला

एम०ए०, डी०फिल्०

रिसर्च एसोशिएट, संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इन्दिरा प्रकाशन

61D/6A/1 गायत्री नगर, तेलियरगंज

इलाहाबाद

वितरक

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान द्वारा प्रदत्त वित्तीय सहायता से प्रकाशित

प्रकाशक —
इन्दिरा प्रकाशन
61डी/6ए/1 गायत्रीनगर
तेलियरगंज, इलाहाबाद (उ० प्र०)

मूल्य —

मुद्रक —
शाकुन्तल आफसेट
बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद

समर्पण

अप्रतिमस्नेहमूर्ति पिताश्री

इन्दिरापति शुक्ल

को

सादर समर्पित

शुभाशीर्वाद

''यश्च व्याकुरुते वाचं यश्च मीमांसतेऽध्वरम्'
उभौ तौ पुण्यकर्माणौ पङ्क्तिपावनपावनौ''

''जो वाग्व्याकृति करता है जो यज्ञ की मीमांसा करता है- वे दोनों ही पुण्यकर्मा हैं, पङ्क्तिपावनों को भी पावन करने वाले हैं।'' डॉ० गायत्री शुक्ला यज्ञ की मीमांसा में सतत संलग्न हैं, इसलिये अति प्रशंस्य हैं, साधुवादार्ह हैं। मीमांसा का अध्यन अत्यल्प तथा लुप्तप्राय सा है। सूखते हुए ज्ञानवृक्ष को अपने तप और श्रम से सिञ्चित करना पुण्यपर्याय है, श्रेय है। इस दृष्टि से डॉ० गायत्री शुक्ला पुण्यभाक् हैं, श्रेयोभाक् हैं। इनका **''मीमांसादर्शन में विधिभिन्न वेदवाक्य''** मीमांसा ग्रन्थ इनके सतत श्रम और इनकी मेधिरता का प्रतिफल है। मैं इनके इस श्रम और मेधाप्रखरता की प्रशंसा करता हूँ। ये इस ज्ञानविधा को प्रचारित-प्रसारित कर सकें; इसके अध्ययन को आगे बढ़ा सकें, जीवन में सफल हों, एतदर्थ शुभाशंसा व्यक्त करते हुए शुभाशीर्वाद देता हूँ।

प्रो० हरिशङ्कर त्रिपाठी
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

शब्दसंकेत सूची

अ०, अष्टा०	अष्टाध्यायी
अ०मी०कु०वृ०	अध्वरमीमांसा कुतूहलवृत्ति
अर्थ०	अर्थसंग्रह
अर्थ० कौ० सहित	अर्थसंग्रह कौमुदी सहित
आप० धर्म०	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आप० श्रौत०	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
ऋ० सं०, ऋक्०	ऋक्संहिता
का० सं०, काठक सं०	काठकसंहिता (कठसंहिता)
का० श्रौ०	कात्यायन श्रौतसूत्र
का० हो०	कातीयहोत्रम्
कु०वृ०, कु० वृत्ति	कुतूहलवृत्ति
जै० सू०	जैमिनीय सूत्र
जै० सूत्रार्थ०	जैमिनीय सूत्रार्थ संग्रह
जै० न्याय० वि०	जैमिनीय न्यायमाला विस्तर
तं० वा०, तन्त्र०	तन्त्रवार्तिक
तं० सि० रत्ना०	तन्त्रसिद्धान्त रत्नावली
ता० ब्रा०	ताण्ड्य ब्राह्मण
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
द्र०	द्रष्टव्य
टुप्०	टुप्टीका
न्याय०, न्याय सु०	न्याय सुधा
न्या० वा० ता० टीका	न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका
न्याय० क०	न्यायकणिका
न्याय० कु० की बोधिनी	न्यायकुसुमाञ्जलि की बोधिनी
न्याय० रत्ना०	न्यायरत्नाकर टीका
प०ल०म०	परमलघुमञ्जूषा
प्र० हृ०	प्रपञ्च हृदय
पृ०, पृ० सं०	पृष्ठ संख्या
पा०गृ०सू०	पारस्कर गृह्यसूत्र
बा० रा० कि०	बाल्मीकि रामायण किष्किन्धा काण्ड

ब० ब्रा०	बहवृच ब्राह्मण
ब्रह्म० सू०	ब्रह्मसूत्र
भू०	भूमिका
भा०वि०, भाष्य विव०	भाष्यविवरण व्याख्या
भाट्ट०, भा० दी०	भाट्टदीपिका
भाट्ट०, भा० र०	भाट्टरहस्य
भा० वि०	भावनाविवेक
मनु०	मनुस्मृति
मा० सं०	माध्यन्दिन संहिता
मी० सू०	मीमांसासूत्र
मी० बाल०, मी० बा० प्र०	मीमांसा बालप्रकाश
मी० न्याय०, मी० न्या० प्र०	मीमांसा न्याय प्रकाश
मी० न्याय० की सा० वि०	मीमांसान्याय प्रकाश की सारविवेचिनी
मी० न्याय० की बाल०	मीमांसा न्याय प्रकाश की बालतोषिणी
मी० नय०	मीमांसा नयकोश
मी० परि०	मीमांसा परिभाषा
मी० परि० की आशु०	मीमांसा परिभाषा की आशुतोषिणी
मी० कौ०	मीमांसा कौस्तुभ
मै० सं०	मैत्रायणी संहिता
यजु०	यजुर्वेद
याज्ञ० स्मृति	याज्ञवल्क्य स्मृति
वृ०, वृहती प०	वृहती पञ्चिका सहित
वा० सं०	वाजसनेयि संहिता
श्लोक०, श्लो० वा०	श्लोक वार्तिक
श्लो०	श्लोक
शत० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शा० दी०, शास्त्र०	शास्त्रदीपिका
शा० भा०	शावरभाष्य
शारी० भा०	शारीरक भाष्य
शां ब्रा०	शांखायन ब्राह्मण
षड्० ब्रा० प्र० ख०	षड्विंश ब्राह्मण, प्रश्न, खण्ड
सां० सं०, सां सं० उ०	सामसंहिता, उत्तरार्चिक

पुरोवाक्

वेद की भाषा धार्मिक भाषा है और वह लोकभाषा से अर्थतः भिन्न है। धार्मिक भाषा आज्ञावाचक होती है और उसकी आज्ञा परमार्थतः सत्य, पालनीय और अनुलङ्घनीय है। वह लोकभाषा के आज्ञावाचक वाक्यों से भिन्न है। उदाहरण के लिये 'सत्यं वद', 'धर्मम् चर' आदि धार्मिक भाषा के आज्ञावाचक वाक्य हैं और बैठ जाओ, भोजन करो आदि लोकभाषा के आज्ञावाचक वाक्य हैं। लौकिक आज्ञावाचक वाक्य, करणीय, अकरणीय या अन्यथाकरणीय होते हैं, किन्तु वैदिक आज्ञायें ऐसी नहीं हैं। इस दृष्टि से वेदभाषा को सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये वेदों को अपौरुषेय माना गया। जो लोग वेदों को अपौरुषेय नहीं मानते वे वास्तव में वेदभाषा के प्रति न्याय नहीं करते जैसे- नैयायिक। वेदभाषा को न्यायसङ्गत सिद्ध करने के लिये मीमांसादर्शन का विकास हुआ, जिसे पूर्वमीमांसा, कर्ममीमांसा या द्वादशलक्षणी कहा जाता है। वेद और मीमांसा के सम्वन्ध को बताने वाला निम्न श्लोक विद्वानों के मध्य प्रचलित है-

"धर्मे प्रमीयमाणे तु वेदेन करणात्मना
इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति।"

पुनश्च यद्यपि मीमांसा का मुख्य प्रतिपाद्य यज्ञादि कर्म हैं, तथापि इन कर्मों का अवबोध वेद के वाक्यों से होने के कारण मीमांसा वाक्यशास्त्र हो गयी। इस विषय में मेरा मत है—

"प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा वाक्यादेवावगम्यते
ततो हि कर्ममीमांसा वाक्यशास्त्रं प्रकीर्त्यते।"

धर्म विधिमूलक या प्रतिषेधमूलक होता है। जिसका बोध विधिमूलक या प्रतिषेधमूलक वाक्यों से होता है। इन दो प्रकार के वाक्यों का व्याख्यान करते हुए मीमांसकों ने इनके अङ्ग के रूप में तीन प्रकार के और वाक्य बताये जिन्हें मन्त्र, नामधेय और अर्थवाद कहा जाता है। सामान्यतः इन पाँच प्रकार के वाक्यों में विधिवाक्यों की प्रधानता होने के कारण अधिकांश विद्वान् विधि का ही विवेचन अधिक करते हैं और शेष वाक्यों का विवेचन या तो नहीं करते या संक्षेप में करते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखकर डा० गायत्री शुक्ला ने विधिभिन्न वेदवाक्यों के ऊपर अनुसंधान किया। वे वेदवाक्यों के विवेचन में पटीयसी हैं। अपने वैदुष्य के आधार पर उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ को तैयार किया है। इस ग्रन्थ की मुख्य विशेषताएँ अधोलिखित हैं—

1. इसमें निषेधवाक्यों का जो विवेचन किया गया है, वह आधुनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है इन्होंने धार्मिक भाषा के रूप में निषेध का जो वर्णन

किया है, वह नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के क्षेत्र में उनका मौलिक प्रदेय (योगदान) है।

2. अर्थवाद के प्रकार तथा महत्त्व को जिस प्रकार उन्होंने रेखाङ्कित किया है वह पर्याप्त रूप से सिद्ध करता है कि अर्थवाद विधि और निषेध का मुख्य अङ्ग है।

3. मन्त्र और नामधेय वाक्यों की जो व्याख्या उन्होंने की है, वह प्रभाकर आदि को भले ग्राह्य न हो किन्तु कुमारिल आदि मीमांसकों तथा शङ्कराचार्य आदि वेदान्तियों के मतानुकूल है क्योंकि उसमें स्वीकार किया गया है कि वेदों में तत्त्ववादी वाक्य या भाग भी है।

4. अंत में विधि के विषय में भी इस पुस्तक की भूमिका में विस्तार पूर्वक लिखकर डा० गायत्री शुक्ला ने प्रस्तुत ग्रन्थ को पूर्ण बना दिया है।

वास्तव में वाक्यशास्त्र का जो शुभारम्भ मीमांसकों ने किया था, उसको वैयाकरणों, नैयायिकों तथा वेदान्तियों ने और आगे बढ़ाया। इस प्रकार यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो सम्प्रति भारतीय दर्शन में चार प्रकार के वाक्यशास्त्र हैं- मीमांसक, वैयाकरण, नैयायिक और वेदान्ती। इनमें बहुत समानतायें हैं, परन्तु कहीं-कहीं इनमें मौलिक मतभेद भी है। जैसे अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद (मीमांसा) स्फोटवाद (व्याकरण) तात्पर्यवाद (न्याय) और अखण्डार्थवाद (अद्वैतवेदान्त)। मुझे लगता है इस प्रसङ्ग में आधुनिक भाषादर्शन का यह मत अधिक उपयोगी है कि ज्ञान की इकाई वाक्य है पद नहीं है। इस प्रसंग में वैयाकरणों का स्फोटवाट और अद्वैतवेदान्तियों का अखण्डार्थवाद अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद और तात्पर्यवाद तीनों से अधिक समीचीन है। मेरी दृष्टि में मीमांसक भवभूति ने जिनका एकनाम 'उम्बेक' भी था अखण्डार्थवाद को वाक्य की इकाई के रूप में स्वीकार किया था। क्योंकि उन्होंने स्पष्ट कहा था कि ऋषियों के लिये अर्थ अपने अनुकूल शब्दों को पकड़ लेता है अर्थात् वे अपने जिस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उसके कारण अभिव्यक्त पदों के पूर्व वाक्यार्थ विद्यमान रहता है—

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते,
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति।''

यह प्रस्तुत ग्रन्थ की अनुपम विशेषता है कि इसमें वाक्यशास्त्र के रूप में मीमांसा का प्रतिपादन किया गया है। इस कारण आधुनिक भाषाविज्ञान, भाषादर्शन नीतिशास्त्र तथा धर्मदर्शन के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। मैं आशा करता हूँ इन शास्त्रों के विद्यार्थी इस ग्रन्थ से वैसे ही लाभ उठायेंगे जैसे मीमांसा के विद्यार्थी। इति शम्।

गुरुपूर्णिमा 28 जुलाई 99

डा० सङ्गमलाल पाण्डेय
पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
इ० वि०, इलाहाबाद

निवेदन

धर्मज्ञापक शास्त्रों में अग्रणीभूता मीमांसा भारतीय दर्शन में वेदों एवं वेदवाक्यों के प्रामाण्य की प्रतिष्ठापिका है। यह मीमांसा यद्यपि परमपुरुषार्थ-भूत मोक्ष की प्राप्ति में सहायक है, तथापि कर्मकाण्ड सम्वन्धी अर्थों के निश्चय में सहायक होने के कारण वाक्यार्थ बोधिका भी है। क्योंकि भाषा की इकाई वाक्य है। अतः पदार्थ एवं वाक्यार्थ वोध के विना पुरुष किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता। इसीलिये मीमांसा को वाक्यशास्त्र की संज्ञा से अभिहित किया गया। वर्तमान समय में लौकिक व्यवहार एवं अर्थनिर्णय में प्रवीणता प्राप्त करने हेतु मीमांसा का अध्ययन अनिवार्य है। वेदों के पूर्वभाग अर्थात् संहिता, ब्राह्मण एवं आरण्यक भाग के प्रतिपाद्य विषय के अर्थनिर्णय में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने के कारण इसे पूर्वमीमांसा की संज्ञा से अभिहित किया गया। मीमांसा का प्रमुख प्रतिपाद्य यागादि कर्म है, इसीलिये इसे कर्ममीमांसा भी कहा जाता है। इन यागादिकर्मों का ज्ञान वेदवाक्यों से होने के कारण इसे वाक्यशास्त्र का नाम दिया गया।

मीमांसा का प्रमुख प्रतिपाद्य वताते हुए जैमिनि ने 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र की रचना की और यह प्रतिपादित किया कि मीमांसा का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय 'धर्म' है। इस धर्म का ज्ञान विधिरूप प्रमाण के द्वारा होता है (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः)। यहाँ धर्म के साथ अधर्म का ज्ञान भी अनिवार्य है। जिसका बोध वेदगत प्रतिषेधवाक्य कराते हैं। इन विधि और प्रतिषेध वाक्यों के साथ एकवाक्यता प्राप्त करने वाले अर्थवादों को विधि-निषेध के सहायक होने से उनका अङ्गभूत वाक्य माना गया है। विधि, निषेध एवं अर्थवाद वाक्यों के अतिरिक्त कतिपय वेदवाक्य मन्त्र एवं नामधेयरूप हैं। इन वाक्यों में विधिवाक्य के प्रमुख प्रमाण होने से प्राचीन एवं नवीन मीमांसकों द्वारा विधि का सर्वाधिक विवेचन किया गया है। अन्य चारों वाक्यों का संक्षिप्त विवेचन ही मीमांसकों ने किया है जिससे विधिभिन्न वेदवाक्यों के स्वरूप और प्रयोजन तथा प्रकार का वोध सम्भव नहीं होता। फलतः इन वाक्यों के प्रामाण्य के बारे में भी विद्वानों में मतभेद दृष्टिगत होता है। कुछ विद्वान् केवल विधि को प्रमाण मानते हैं तो कतिपय विद्वान् विधि, अर्थवाद एवं मन्त्र का प्रामाण्य ही स्वीकृत करते हैं अन्य वाक्यों को वे निष्प्रयोजन मानते हैं। जिससे वेदों की अपौरुषेयता भी संदेह के घेरे में आ जाती है। प्रस्तुत ग्रन्थ इन्हीं ग्रन्थियों के शोधन के मार्ग को सुलभ बनाने की दिशा में एक प्रयास है। इस ग्रंथ में विधि, अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय एवं निषेधवाक्यों

के विषय में सर्वाङ्गीण विवेचन का यत्न किया गया है। जो इन वाक्यों के स्वरूप, उपयोगिता, प्रकार तथा प्रामाण्य बोध एवं वाक्यार्थबोध में उपयोगी है। इस ग्रन्थ में मैंने अपने प्रतिपाद्य विषय के प्रामाण्य के लिये अनेक प्रामाणिक उद्धरणों एवं प्रमाणों को प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में मैंने मीमांसा दर्शन की वाक्यशास्त्र के रूप महत्ता प्रतिपादित की है और इसी प्रसङ्ग में स्फोटवाद, अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद, तात्पर्यवाद (लक्षणा) तथा अखण्डार्थवाद आदि के स्वरूप और उपयोगिता का भी उल्लेख किया है। वाक्य का स्वरूप, वाक्यशास्त्र और वाक्यशास्त्र के रूप में मीमांसा के योगदान का भी प्रसङ्गवश उल्लेख किया है। परिशिष्ट भाग में इस ग्रन्थ में प्रयुक्त श्रुतिवाक्यों का विवरण विद्यमान है। इसके साथ ही इस ग्रन्थ में मैंने मीमांसा के अनेक दुरूह सिद्धान्तों का भी प्रसङ्गवश विवेचन किया है, जिससे मीमांसा के मूलभूत सिद्धान्तों को समझने में जिज्ञासुओं को सहायता मिलेगी और भ्रान्तियों का निराकरण होगा। इन समस्याओं के निराकरण एवं मीमांसा सिद्धान्तों को सर्वग्राह्य बनाने के लिये मैंने गहन विवेचना की है। मीमांसा के सभी आकर ग्रन्थों की भाषा संस्कृत है जिसमें जनसाधारण की पैठ दुरूह है, क्योंकि वर्तमान में संस्कृत के व्यावहारिक भाषा न होने से मीमांसा का अध्ययन समाप्तप्राय हो रहा था। अतएव मीमांसा के न्यायों को लोकग्राह्य बनाने के हेतु मैंने राष्ट्रभाषा हिन्दी में इस विषय को प्रतिपादित किया है। आशा है कि जिज्ञासु इसका लाभ अवश्य उठायेंगे। भगवान् शिव के कृपाप्रसाद एवं गुरुजनों के आशीर्वाद से मैं इस ग्रन्थ की रचना कर सकी हूँ।

इस ग्रन्थ को वर्तमान रूप में लाने हेतु मैंने जिन विद्वानों की कृतियों का अध्ययन किया और उनसे उद्धरण लिये उन सभी के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ और नतमस्तक हूँ। पूज्यपाद गुरुवर्य डा० सङ्गमलाल पाण्डेय के प्रति मैं सर्वथा कृतज्ञ हूँ क्योंकि इन्होंने समय-समय पर चर्चा-प्रतिचर्चा द्वारा मुझे अपने विषय के प्रति जागरूक रखा। उनके सत्परामर्शों के फलस्वरूप यह ग्रन्थ अपने वर्तमान कलेवर में आया। उनके पुस्तकालय में से मैंने अनेकशः लाभ उठाया। वस्तुतः पाण्डेय जी के अदम्य साहस को देखकर मुझे अपने कर्तव्यपथ पर आगे बढ़ने के लिये प्रेरणा मिलती है। मैं डॉ० सङ्गमलाल पाण्डेय जी के प्रति आभारी हूँ उन्होंने इस पुस्तक का पुरोवाक् लिखकर पुस्तक की गुणवत्ता को उजागर किया है। पूज्य गुरुवर डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ जिनकी कृपा से मैं इस योग्य हो सकी कि एकलव्य की भाँति स्वाध्याय करते हुए मीमांसा के दुरूह ग्रन्थों को समझने में और स्वतः ग्रन्थलेखन में प्रवृत्त हो सकी हूँ। पूज्य गुरुवर्य प्रो० हरिशङ्कर त्रिपाठी की भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर अनेक प्रश्न करके मेरी

प्रवृत्त हुई। इसके साथ ही उन्होंने ग्रन्थ प्रकाशन के लिये सदैव प्रोत्साहित किया। मैं पूज्य गुरुवर प्रो० वाचस्पति उपाध्याय की आभारी और कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मीमांसा के अनेक उच्च ग्रन्थों के अध्ययन हेतु मुझे प्रेरित किया। इसके साथ ही मैं डा० गोपराजु रामा प्राध्यापक गङ्गानाथ झा केन्द्रीय विद्यापीठ के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ। डा० रामानन्द थपलियाल जी के उपकार को मैं कैसे भुला सकती हूँ, जिन्होंने सदैव निस्वार्थ भाव से मुझे आवश्यक ग्रन्थों को उपलब्ध कराया। मैं विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अन्य गुरुजनों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ उन्होंने सदैव मेरे उत्साह में वृद्धि की।

मेरी सुहृदा डा० लक्ष्मी शुक्ला और डॉ० अभय शुक्ल के प्रति असीम आभार प्रकट करती हूँ इन्होंने ग्रन्थ के प्रकाशन में मेरी समस्याओं को सुलझाने में सदैव मेरा सहयोग किया। ग्रन्थ प्रकाशन काल में मुझे गृहस्थी सम्बन्धी कार्यों से मुक्त रखने वाली मेरी पूज्यनीया सासजी श्रीमती सुशीला शुक्ला एवं पूज्य श्वसुर श्री इन्दिरापति शुक्ल की भी आभारी व कृतज्ञ हूँ, इन्होंने प्रूफ संशोधन आदि कार्यों में मेरी अनेकशः सहायता की। इसके अतिरिक्त मैं ग्रन्थ के प्रकाशन में सँहयोगी बन्धुओं एवं भ्रातृपुत्रों को भी साधुवाद देती हूँ। इस ग्रन्थ को प्रस्तुत कर मैंने अपने पूज्य पिताजी श्री वेदस्वरूप पाण्डेय व माताजी के स्वप्न को साकार रूप देने का प्रयास किया है। अपने इस ग्रंथ को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करके मैं उनकी प्रतिक्रिया की अभिलाषी हूँ, जिससे भविष्य में अन्य ग्रन्थों के लेखन और प्रकाशन के कर्तव्यपथ पर अग्रसर हो सकूँ। सधन्यवाद

विनयावनत

25.7.99 (त्रयोदशी आषाढ) **डॉ० गायत्री शुक्ला**

विषयानुक्रमणिका

ॐ नमः शिवाय

विषय-प्रवेश

भारतीय दर्शन के आस्तिक और नास्तिक की मान्यता के आधार पर दो भेद माने जाते हैं। इसमें नास्तिक दर्शन के छह प्रस्थान हैं—चार्वाक, आर्हत्, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक। आस्तिक दर्शन के भी छह प्रसिद्ध प्रस्थान हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा एवम् उत्तरमीमांसा। इन द्वादश दर्शनों के अपने-अपने सूत्र तथा आगम हैं, जिनमें जगत् की उत्पत्ति, आत्मा एवं मोक्ष आदि विषयक विचार प्रतिपादित हैं। आस्तिक दर्शन के अन्तर्गत आने वाली पूर्वोत्तरमीमांसा पूर्णरूपेण वेद के संहिता एवं ब्राह्मण भागों पर आधारित है।

उक्त विभाजन में "आस्तिकता" का अर्थ है—वेद को प्रमाण मानना। समस्त आस्तिक दर्शनों ने वेदों के प्रामाण्य को स्वीकृत किया है। वेदों को प्रमाण न मानने वाले दर्शन नास्तिक कहे गये हैं। इस प्रसङ्ग में आस्तिकता और नास्तिकता की धारणा ईश्वर या पुनर्जन्म पर आधारित नहीं है।

वेदों के पूर्वभाग अर्थात् ब्राह्मण एवं संहिता-भाग से मुख्यतः सम्बन्धित होने के कारण इस दर्शन को पूर्वमीमांसा की संज्ञा दी गयी है। वाक्यार्थविवेचन प्रधान होने के कारण इसे मीमांसा कहा गया है। मीमांसादर्शन में कर्मकाण्ड से सम्बद्ध अनुष्ठानों के सन्दर्भ में विधि, निषेध एवं मन्त्र आदि का विवेचन मुख्य रूप से प्राप्त होता है। अनुष्ठान प्रक्रिया में वैविध्य, दुरूहता और असामान्यता के कारण ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थ निकालने में प्रायः मतभेद और अनिश्चय की स्थितियाँ उपस्थित होती थीं। ऐसे स्थलों पर निर्णयात्मक वाक्यार्थ बोध के लिये विवेचित एवं प्रतिपादित किये गये सिद्धान्तों की स्थापना मीमांसा का मुख्य प्रयोजन था।

मीमांसा का व्युत्पत्यात्मक अर्थ-

"मीमांसा" शब्द की व्युत्पत्ति "माङ्माने" अथवा "मान् पूजायाम्" धातु से स्वार्थ में सन् प्रत्यय और "मान्बधदानूशान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य"[1] इस पाणिनि सूत्र से अभ्यास के आकार को दीर्घ करके हुई है। भ्वादिगणीय "मान्" धातु का अर्थ पूजा एवं चुरादिगणीय "मान्" धातु का अर्थ विचार

1. पा० सू० 3/1/6।

है। अतः मीमांसा शब्द का अर्थ है—परम-पुरुषार्थ स्वर्ग का कारणभूत प्रशस्त विचार या आदरणीय विवेचना। कतिपय विद्वान् मीमांसा की निष्पत्ति "मान्थृ" या "मान्सृ" धातु से मानते हैं। यह व्युत्पत्ति अवेस्तीय है।

सूत्रकार जैमिनि ने मीमांसाशास्त्र के प्रतिज्ञा सूत्र ''अथातो धर्मजिज्ञासा'' में जिज्ञासा पद का प्रयोग मीमांसा के लिये किया है[1]। ''मीमांसा'' पद का प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेकशः मिलता है[2]। कौषीतकि ब्राह्मण में मीमांसा शब्द का प्रयोग विचार-विमर्श करने के अर्थ में प्राप्त होता है। उपनिषद् वाङ्मय में मीमांसा का तात्पर्य उच्च दार्शनिक विषयों पर विचार करने से है। वस्तुतः मीमांसा का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मकाण्ड का स्वरूप-वर्णन है। अतः मीमांसादर्शन का प्रारम्भिक स्वरूप कर्मकाण्ड के अनुष्ठानों से सम्बन्धित विषयों को प्रामाणिक रूप में स्थापित करना था।

''मीमांसा'' को कई स्थलों पर तन्त्र, न्याय एवं तर्क की संज्ञा से अभिहित किया गया है। ''विधिर्विधेयः तर्कश्च वेदः'' (पा० गृ० सू०) विधि का तात्पर्य ब्राह्मण, विधेय अर्थात् मन्त्र और तर्क का तात्पर्य मीमांसादर्शन से है। दार्शनिक-शिरोमणि वाचस्पति मिश्र ने भी तात्पर्य टीका में ''वेदोद्भवस्तर्को मीमांसा'' ऐसा कथन किया है[3]। जिससे इस विचारशास्त्र की तर्करूपता सिद्ध होती है। ''यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मो वेद नेतरः'' इस मनुस्मृति में उक्त श्लोक में भी 'तर्क' शब्द से विचारस्वरूपा मीमांसा ही ग्राह्य है।

मीमांसादर्शन के लिये ''वाक्यशास्त्र'' शब्द भी व्यवहृत होता है। पूर्वमीमांसा वस्तुतः ''वेद के वाक्यार्थविचार अर्थ'' वाली है क्योंकि वेद के वाक्यार्थ निर्णय में इसका सर्वाधिक उपयोग है। यथा —''अग्निहोत्रं जुहोति''—यह वाक्य कर्म के स्वरूप का व्याख्यान करने के कारण कर्मोत्पत्ति विधिवाक्य है, ऐसा अर्थ-निर्धारण न तो वैयाकरणों द्वारा किया जा सकता था, और न ही तर्कदक्ष नैयायिकों द्वारा सम्भव था। इसीलिये दार्शनिक क्षेत्र में **''पदवाक्यप्रमाणपारावरीणः''** संज्ञा का व्यवहार किया जाता रहा है। यहां ''पद'' शब्द के द्वारा प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा उचित शब्दों, निर्वचनपरक निरुक्तादि एवं मुनित्रय द्वारा निर्मित व्याकरणशास्त्र का ग्रहण किया गया है। ''वाक्य'' शब्द मीमांसा के लिये प्रयुक्त हुआ है और ''प्रमाण'' शब्द से

1. पट्टाभिराम शास्त्री-सम्पादित अध्वरमीमांसा कु० वृ० भाग— 4की भू० पृ०-4।
2. ''इति मीमांसन्ति ब्रह्मवादिनः'' (तै० सं०5/7/1), ''उत्सृज्यां नोत्सृज्यामिति मीमांसन्ते।'' (काठक सं० 3/3/7 एवं मै० सं० 1/8/5 इत्यादि।
3. ''मीमांसासंज्ञकस्तर्कः सर्ववेदसमुद्भवः,
सोऽतो वेदो समाप्राप्तकाष्ठादिलवणाम्बुवत्।'' (न्याय वा० ता० टी० पृ०—61)

तर्कशास्त्र अभिहित हुआ है। याज्ञवल्क्य स्मृति[1] में ज्ञान एवं धर्म के मूलस्वरूप चतुर्दशविद्याओं में मीमांसाशास्त्र की गणना की गयी है। यही कारण है कि मीमांसाशास्त्र[2] का वाक्यार्थ निर्णय प्रसङ्ग में महान् समादर है। जैसा कि जयकृष्ण मिश्र ने भी कहा है—

"नैवाश्रावि गुरोर्मतं न विदितं कौमारिलं दर्शनम्,
तत्त्वज्ञानमहो न शालिकगिरा वाचस्पतेः का कथा।
सूक्तं नापि महोदधेरधिगतं माहाव्रती नेक्षिता,
सूक्ष्मा वस्तुविचारणा नृपशुभिः स्वस्थैः कथं स्थीयते।।"

इस शास्त्र को पूर्वमीमांसा कहने का कारण यह है कि ब्रह्मज्ञान की इच्छा करने के पूर्व कर्मकाण्ड तथा धर्म का विचार अर्थात् ज्ञान आवश्यक है। धर्मज्ञान के उपरान्त ही मनुष्य वेदान्त या उत्तरमीमांसा में प्रतिपादित ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा का अधिकारी हो सकेगा। अतः वैदिक अर्थों के निश्चय हेतु मीमांसा दर्शन की अत्यधिक एवम् अपरिहार्य उपयोगिता स्वतः सिद्ध है।

मीमांसाशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास

भारतीय दर्शन वाङ्मय में मीमांसादर्शन विषय, आकार एवं साहित्य सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। विषयभेद से इसके दो भाग हैं- द्वादशाध्यात्मक पूर्वमीमांसा और षोडशाध्यात्मक उत्तरमीमांसा।[3]

जैमिनि के सूत्रों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य जैमिनि इसके आद्य आचार्य नहीं हैं। उनके पूर्व मीमांसा-दर्शन के व्याख्यान की एक दीर्घ परम्परा विद्यमान थी। जैमिनि के सूत्रों में **"औडुलोमि"**, **"आश्मरथ्य"**, **"ऐतिशायन"** आदि अनेक विद्वानों के मत का उल्लेख मिलने से इस मत की पुष्टि होती है। जैमिनि ने तो उसी प्रवाह को सूत्रबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः जैमिनि के पूर्ववर्ती किसी आचार्य द्वारा विरचित कोई मीमांसा-ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। सर्वप्रथम जैमिनि ने मीमांसादर्शन को सूत्र-साहित्य के रूप में लिपिबद्ध करके प्रस्तुत किया, अतः इसे "जैमिनीय-दर्शन"[4] भी कहते

---

1. "पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः,
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।" (याज्ञ० स्मृति आचाराध्याय श्लोक)।
2. "प्रवृत्तिर्वानिवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा,
शासनात् शंसनाच्चैव शास्त्रमित्यभिधीयते।" (श्लो० वा० शब्द परिच्छेद श्लो०—4)
3. "तदिदं विंशत्यध्यायनिबद्धम् (मीमांसाशास्त्रम्) तत्र षोडशाध्यायनिबद्धं पूर्वमीमांसाशास्त्रम् पूर्वकाण्डस्य धर्मविचारपरायणं जैमिनिकृतम्। तदन्यदध्यायचतुष्कम् उत्तरमीमांसाशास्त्रम् उत्तरकाण्डस्य ब्रह्मविचारपरायणं व्यासकृतम्।"
(प्रपञ्चहृदय पृ० 38-39)।
4. **"तेन प्रोक्तम्'** (अष्टा० 4/3/101)।

हैं।

आचार्य "जैमिनि" द्वारा विरचित सूत्र ग्रन्थ के संकर्षणकाण्ड (13-16) नामक चार अध्यायों के पठन-पाठन के शैथिल्य के कारण यह भाग लुप्तप्राय है। सम्भवतः इसके ऊपर शबरस्वामी कृत भाष्य न होने के कारण यह भाग मुख्यतः लुप्तप्राय हुआ। इस भाग पर केवल दो-तीन ग्रन्थकारों ने ही संक्षिप्त भाष्य लिखा है। जैमिनि को 400 ईसा पूर्व से 200 ई० पूर्व के लगभग का माना गया है।

षोडशाध्यायी पर सर्वप्रथम **"बौधायन"** ने "कृतकोटि" नामक भाष्य लिखा। तत्पश्चात् विपुलता के कारण इसका उचित पठन-पाठन न होते देख **"उपवर्ष"** ने इन सूत्रों का संक्षेप में भाष्य लिखा। इस वृत्ति के अनेक वाक्य शाबरभाष्य में उद्धृत हैं।[1] "शंकराचार्य" ने भी अपने शारीरक-भाष्य में उपवर्ष की वृत्ति के अनेक उद्धरण दिये हैं।[2] इन्हें भवदास का समकालीन माना गया है। इसके अतिरिक्त इनकी वृत्ति का उल्लेख "पार्थसारथि मिश्र" की "न्यायरत्नाकर" तथा "वेदान्तदेशिक" की "सेश्वरमीमांसा" में मिलता है।[3] इसी वृत्ति को भाष्यकार ने "महाभाष्य" के नाम से व्यवहृत किया है। उपवर्ष का स्थिति काल 100 से 200 ई० शती था।

भवस्वामी या देवस्वामी का मीमांसाभाष्य–

उपवर्ष कृत भाष्य की जनसामान्य के प्रति दुर्ज्ञेयता देखकर भवस्वामी ने षोडशाध्यायी पर संक्षिप्त व्याख्या लिखी। यह व्याख्या सम्प्रति संकर्षण काण्ड पर ही उपलब्ध है। यह व्याख्या 1965 में मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है।

भवदास —जन्मकाल–[प्रथम से द्वितीय ईस्वी शती]

इनकी व्याख्या का उल्लेख प्रपञ्चहृदयकार द्वारा किया गया है। इन्हीं की वृत्ति का उल्लेख कुमारिलभट्ट ने "वृत्त्यन्तरेषु केषाञ्चित् लौकिकार्थ-व्यतिक्रमः" से दर्शाया है[4] तथा अनेक दोष भी उद्भावित किये कुमारिलभट्ट ने प्रतिज्ञासूत्र[5] में भवदास का स्पष्ट रूप से नामोल्लेख किया

1. द्र०-मीमांसाभाष्य 1/1/5 "वृत्तिकारस्तु" अत्रगौरित्यत्र स चैतद् वृत्तिकारेण"
2/1/32, 2/1/31, 2/1।
2. "वर्णा एव तु शब्दाः" 1/3/28, "अतएवो च भगवतोपवर्षाचार्येण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरिके वक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः।
(3/3/53) शारीरक भाष्य।
3. "यत्तूपवर्षवृत्तौ— "तस्यनिमित्तपरीष्टिं न कर्तव्यम्"(पृ०—13)
4. द्र०—श्लोक० —प्रतिज्ञासूत्र श्लोक—33।
5. "समुदायादवच्छिद्य भवदासेन कल्पितात्"। (प्रतिज्ञा सू० श्लोक० —63)

है।[1] इस प्रकार भवदास कृत भाष्य के अनेक प्राप्त उद्धरणों से उनके भाष्य का स्वरूप अवगत होता है।

इसके अतिरिक्त कृष्ण द्वैपायन व्यास, भर्तृमित्र और भर्तृहरि आदि व्याख्याताओं का भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। इनके पूर्वमीमांसा सम्बन्धी ग्रन्थ का संकेत कुमारिलभट्ट के 'श्लोकवार्तिक' के उपोद्घातश्लोक तथा उसकी "न्यायरत्नाकर" टीका से मिलता है।[2]

शबरस्वामी -जन्मकाल-[द्वितीय ईस्वी शती]

आद्य शंकराचार्य ने उत्तरमीमांसा के भाष्य में नामनिर्देशपूर्वक "शबरस्वामी" का स्मरण किया है —"इत एवाकृष्याचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम्"। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि शबरस्वामी शंकराचार्य के पूर्ववर्ती थे। शबरस्वामी ने "सङ्कर्षणकाण्ड" को छोड़कर जैमिनिकृत "द्वादशाध्यायी" पर चौबीस हजार श्लोक के परिमाणवाले[3] मीमांसाभाष्य की रचना की। इस समय उपलब्ध मीमांसाभाष्य ग्रन्थों में 'शाबरभाष्य' सबसे प्राचीन है। इसे मीमांसा-दर्शन का दृढ़ स्तम्भ कहा जा सकता है। इस भाष्य में सभी विद्याओं के उपकारक धर्मतत्त्व का प्रमाणादियुत अध्यायों द्वारा विचार करके निर्णय लिया गया है। प्रत्येक अध्याय का प्रतिपाद्य सुव्यवस्थित है। "भास्करराय" कृत सङ्कर्षकाण्ड भाष्य की समाप्ति होने पर उक्त एक श्लोक से द्वादशाध्यायी पर्यन्त शाबरभाष्य होने की पुष्टि होती है, जिसमें कहा गया है कि "अभी तक जो मीमांसा त्रिपदा गायत्री के समान चतुर्थभाग से रहित थी उसे मैंने श्रमपूर्वक सोलह कलाओं अर्थात चार पादों से युक्त कर दिया है।"

वेङ्कटाचार्य आदि कतिपय विद्वानों ने संकर्षण्काण्ड को जैमिनि प्रणीत न मानकर "काशकृत्स्न" प्रणीत माना है और यह सम्भावना व्यक्त की है कि शायद इसी कारण शबर स्वामी ने द्वादशाध्याय पर्यन्त ही भाष्य लिखा है।

भगवान् शङ्कराचार्य ने "समन्वयसूत्रभाष्य" में—"तथा च शास्त्र-तात्पर्यविदानुक्रमणं दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम"[4] कहा है। इस उल्लेख

---

1. "केषाञ्चिद् भवदासादीनां वृत्यन्तरेषु"।
(श्लोक० प्रतिज्ञा० श्लोक—33 की न्यायरत्नाकर टीका)।
2. "प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता,
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया। (प्र०सू० श्लोक—10)।
3. "पुनराचार्येण शबरस्वामिना पूर्वमीमांसाशास्त्रस्य चतुर्विंशतिसहस्रेः अतिसंक्षेपेण कृतम्।" (प्र० हृ० पृ०—39)
4. द्र०—ब्रह्मसूत्र पर शाङ्करभाष्य 1/1/4।

से भाष्यकार शबरस्वामी की महिमा का प्रतिपादन होता है। इस भाष्य को वस्तुतः तत्कालीन भर्तृमित्र आदि विद्वानों ने बाधित करने का प्रयत्न किया था। उन्हीं दोषपूर्ण व्याख्याओं के खण्डन के लिये इस भाष्य पर आचार्य कुमारिलभट्ट ने इसके वास्तविक अर्थ के प्रकाशन के लिए सर्वतोमुखी वार्तिकों की रचना की थी, जिससे इस भाष्य की गरिमा का ज्ञान होता है।

मीमांसादर्शन के तीन प्रस्थान

शाबरभाष्य की व्याख्या को आधाररूप में मानकर तीन व्याख्यान या प्रस्थान प्रवृत्त हुए-

प्रथम प्रस्थान—"कौमारिल" कहा जाता है। इसी को अभियुक्तों द्वारा "भाट्ट प्रस्थान" कहा गया है। जिसका अनुसरण करते हुए मण्डन मिश्र, सुचरित मिश्र, पार्थसारथि, भवदेव, खण्डदेव आदि विद्वानों ने क्रमशः विधि-विवेक, काशिका, शास्त्रदीपिका, तौतातित-मततिलक, और भाट्टदीपिका जैसे गुरु-गम्भीर ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

द्वितीय प्रस्थान— प्रभाकर मिश्र का है जो "गुरुमत" के नाम से विख्यात हुआ। इसके अनुयायी शालिकनाथ, भवनाथ, नन्दीश्वर, क्षीरसागर एवं रामानुजाचार्य आदि विद्वान् हुए। जिन्होंने क्रमशः प्रकरणपञ्चिका, नयविवेक, भाष्यदीप, प्रभाकरविजय, तन्त्ररहस्य आदि विश्रुत ग्रन्थों की रचना की।

तृतीय-प्रस्थान— "मुरारि मिश्र" का है। इसका स्मरण सुधीजन "मुरारेस्तृतीयापन्थाः" वाक्य द्वारा करते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि "भर्तृमित्र" का भी एक अलग सम्प्रदाय था, किन्तु इसके ठोस प्रमाण हमें नहीं उपलब्ध होते। भर्तृमित्र का काल 300 से ६०० के मध्य अनुमानित है।

इन प्रस्थानों में से भाट्ट और प्राभाकर प्रस्थानों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा मिलती है, किन्तु मुरारि-प्रस्थान के सिद्धान्त का प्रतिपादक त्रिपादीनीतिनयन और एकादशाध्यायाधिकरण ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं। उपर्युक्त दोनों प्रस्थानों में "भाट्टमत" का अधिक प्रचार है, जबकि "प्रभाकर मत" का प्रचार न्यून है। मुरारि मिश्र के मत का सर्वप्रथम उल्लेख हमें नैयायिकों के "परतःप्रामाण्यवाद" के निरास के प्रसङ्ग में मिलता है। यद्यपि भट्ट और प्रभाकर दोनों प्रस्थानों के अवान्तर सिद्धान्तों में भेद है, तथापि इनके मौलिक सिद्धान्त प्रायः एक जैसे हैं।

प्रस्थानत्रय के प्रमुख आचार्य-

1. कुमारिल भट्ट-(400 से 600 ई०)

भारतीय दार्शनिकों में कुमारिल भट्ट का स्थान अप्रतिम है। इन्होंने वेद विरोधी जैन और बौद्ध दार्शनिकों के मत का जोरदार खण्डन किया है, और वैदिक धर्म के पुनर्स्थापन का प्रयास किया है। जैमिनीय सूत्रों की व्याख्या के रूप में इन्होंने तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

(क) श्लोकवार्तिक-कुमारिल भट्ट ने द्वादशाध्यायी के प्रथमाध्याय के प्रथम पाद (तर्कपाद) की व्याख्या के रूप में 'श्लोकवार्तिक' की रचना की। इसमें तर्क के आधार पर पूर्व-पक्ष का बड़ा ही युक्तिपूर्ण खण्डन किया गया है। साथ ही इस ग्रन्थ में पथभ्रष्ट हो गये भर्तृमित्रादि मीमांसकों के मत का खण्डन भी किया गया है। इस ग्रन्थ के ऊपर उम्बेकभट्ट की "तात्पर्य-टीका", जयमिश्र की "शर्करिका", सुचरित मिश्र की 'काशिका' तथा शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र की "न्यायरत्नाकर" टीका लिखी गई है, जो इसके महत्त्व को दर्शाती है।

(ख) तन्त्रवार्तिक-द्वादशाध्यायी के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर तृतीय अध्याय पर्यन्त जैमिनि सूत्रों पर यह ग्रन्थ आधारित है। इसकी तीन प्रमुख टीकायें हैं—1. परितोष मिश्र कृत "अजिता", 2. भवदेव का "तौतातितमततिलक", 3. सोमेश्वर भट्ट कृत "न्याय-सुधा" या "राणक" टीका। इस प्रसिद्ध ग्रन्थ का डा० गङ्गानाथ झा ने अंग्रेजी अनुवाद किया है। इसकी सभी टीकायें प्रकाशित हैं।

(ग) टुप्टीका-द्वादशलक्षणी के चतुर्थ अध्याय से लेकर शेषभाग पर कुमारिल भट्ट ने इस संक्षिप्त ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इस पर पार्थसारथि मिश्र ने "तन्त्ररत्न" नाम की टीका लिखी है।

इनके द्वारा विरचित "**बृहट्टीका**" और "**कारिका**" नामक दो अन्य ग्रन्थ भी थे[1], जो कि इस समय उपलब्ध नहीं हैं।

2. प्रभाकर मिश्र-(चतुर्थ पञ्चम शताब्दी)

"गुरुमत" या "प्रभाकर मत" के संस्थापक प्रभाकर मिश्र कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। प्रभाकर मत में अध्ययन विधि की अपेक्षा अध्यापन विधि का महत्त्व है। इसका कारण यह है कि आठ वर्ष का बालक उपनयन संस्कार से

1. द्र०-मी० नयकोश पृ०—47।

युक्त होने के पश्चात् वेदाध्ययन को इष्ट मान कर उसके अध्ययन का कर्तव्य रूप में पालन करने में तत्पर नहीं हो सकता। यह दायित्व गुरु का है कि वह उसे शिक्षा देकर योग्य बनाये। संभवतः अध्यापक या गुरु को अधिक महत्त्व देने के कारण ही यह मत "गुरुमत" के नाम से विख्यात हुआ। इन्होंने जैमिनीय सूत्रों पर आधारित दो टीकाग्रन्थ लिखे —

(क) बृहती–"प्रभाकर मिश्र ने द्वादशाध्यायी के तर्कपाद पर "बृहती" की रचना की। इस ग्रन्थ का एक संस्करण वाराणसी चौखम्वा सीरीज से तर्कपादपर्यन्त प्रकाशित हैं तथा दूसरा पाँच भागों में ऋजुविमलापञ्चिका सहित मद्रास से प्रकाशित हुआ है।

(ख) लघ्वी–"प्रभाकर की दूसरी प्रमुख कृति "लघ्वी" टीका है। यह टीका इस समय अनुपलब्ध है। इस ग्रन्थ पर इनके शिष्य शालिकनाथ मिश्र ने "दीपशिखा" टीका लिखी है, जो इस समय आड्यार संग्रहालय में सुरक्षित है। वस्तुतः लघ्वी प्रभाकर की पूर्व रचना है और बृहती बाद की। लघ्वी में द्वादशलक्षणी के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर आगे के विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इसका दूसरा नाम "विवरण" भी है।

3. मण्डन मिश्र–(670—720)

ये भाट्टमतानुयायी थे। इन्होंने विधि विवेक, भावना विवेक एवं विभ्रम विवेक तथा मीमांसानुक्रमणिका, ब्रह्मसिद्धि, स्फोटसिद्धि जैसे अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण मौलिक ग्रन्थों की रचना की है। इनका विधिविवेक एक प्रौढ ग्रन्थ है। इसमें वैयाकरणों का एवं प्रभाकर के मत का विस्तार से खण्डन किया गया है। इसके साथ ही भर्तृमित्रादि एकदेशीय मीमांसकों का खण्डन करके विध्यर्थ का प्रतिपादन किया गया है। मण्डन मिश्र कुमारिल भट्ट के साक्षात् शिष्य व दामाद थे। इनके विषय में एक श्लोक प्रसिद्ध है।[1] डॉ० गङ्गा नाथ झा इन्हें नैष्कर्म्यसिद्धि आदि ग्रन्थों के प्रणेता सुरेश्वराचार्य से अभिन्न मानते हैं।[2]

1. मीमांसानुक्रमणिका इसमें द्वादशलक्षणी के मीमांसा सूत्रों की अनुक्रमणी के अनुसार व्याख्या दी गई है। इस ग्रन्थ पर डा० झा ने मण्डन नामक टीका का प्रणयन किया है। मीमांसानुक्रमणी का सम्पादन डॉ० गंगानाथ झा ने किया है। इसका प्रकाशन "चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी" से हुआ है। इसकी दूसरी टीका श्री पट्टाभिराम शास्त्री ने लिखी है जो बनारस से प्रकाशित है।

1. "उम्बेकः कारिकां वेत्ति तत्त्वं वेत्ति प्रभाकरः
   मण्डनस्तूभयं वेत्ति न उभयं वेत्ति रैवणः"।
2. द्र०- भा० वि० का गङ्गानाथ झा कृत प्रारम्भिक नोट।

2. विधि विवेक-इस ग्रन्थ में इन्होंने प्राभाकर एवं न्यायमत में स्वीकृत विध्यर्थ का खण्डन करते हुए विधि का स्वरूप बताया है। इस ग्रन्थ पर वाचस्पति मिश्र (850 ई० से 900) ने "न्यायकणिका" नामक टीका लिखी है, जो महाप्रभुलाल गोस्वामी द्वारा संपादित एवं 'तारा प्रिन्टिंग वर्क्स वाराणसी' से प्रकाशित है।

3. भावना विवेक-इस ग्रन्थ में मण्डन मिश्र ने भावना के स्वरूप को समझाया है और नैयायिकों द्वारा स्वीकृत भावना सिद्धान्त का खण्डन किया है। यह गङ्गानाथ झा एवं गोपीनाथ कविराज द्वारा सम्पादित और प्रकाशित है। इस ग्रन्थ पर उम्बेकभट्ट ने टीका का प्रणयन किया है जो तारा प्रिंटिंग वर्क्स बनारस से प्रकाशित है।

4. स्फोटसिद्धि-इसमें 36 कारिकायें हैं जिनमें वर्ण, पद, वाक्यस्फोट द्वारा शाब्दबोध का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ पर इनकी स्वयं की व्याख्या है।

5. ब्रह्मसिद्धि-यह ग्रन्थ वस्तुतः भर्तृहरि के द्वारा सम्मत "शब्दब्रह्म" की स्थापना करता है। इस ग्रन्थ के आधार पर ही कतिपय विद्वान् इन्हें शङ्कराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य से अभिन्न मान लेते हैं, जो सर्वथा भ्रामक है। इनके सिद्धान्त प्रकरण-पञ्चिका और जयन्तभट्टकृत न्यायमञ्जरी से भी प्रमाणित होते हैं। अतः उक्त दोनों व्यक्ति सर्वथा भिन्न-भिन्न थे। मण्डन शब्दब्रह्म का वर्णन करते हैं, जबकि सुरेश्वराचार्य ने अद्वय ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। इनकी विद्वता का परिचय हमें उस समय विख्यात इस श्लोक से मिलता है-

"स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति
द्वारस्थनीडा तरुसन्निपाते जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम।"

4. शालिकनाथ मिश्र-(850 ई० से नवम् शताब्दी)

प्रभाकर के शिष्य शालिकनाथ ने उनके "बृहती" एवं "लघ्वी" दोनों ही ग्रन्थों पर टीकायें लिखी हैं। बृहती की टीका "**ऋजुविमला**" एवं लघ्वी की टीका "**दीपशिखा**" है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने प्रभाकरमत की विवेचना के लिये "**प्रकरण-पञ्चिका**" नामक प्रकरणात्मक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। यह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त इन्होंने "**मीमांसाजीवरक्षा**"तथा "**वाक्यार्थ मातृकावृत्ति**" नामक ग्रन्थ भी लिखे हैं। इनके गौडदेशीय होने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं।[1]

1. (क) "वेदानुकारेण पठ्यमानासु मन्वादिस्मृतिषु अपौरुषेयत्वाभिमानिनो गौडमीमांसक स्वार्थनिश्चयः।"

5. गोविन्द स्वामी

इन्होंने शावरभाष्य पर ''भाष्य विवरण' नामक व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या प्रथम अध्याय से लेकर तृतीय अध्याय के प्रथम पाद पर्यन्त ही है। यह व्याख्या संक्षिप्त परन्तु अत्यन्त स्पष्ट है। इसकी हस्तलिपि आड्यार संग्रहालय (मद्रास) में सुरक्षित है। इसका प्रकाशन शावरभाष्य, तन्त्रवार्तिक तथा न्याय-सुधा एवं भावबोधिनी के साथ ''तारा पब्लिकेशन्स'' वाराणसी से हुआ है।

6. पार्थसारथि मिश्र—(नवम शताब्दी)

ये भी भाट्टमत के प्रवल समर्थक हैं। इन्होंने जैमिनीय मीमांसा पर **''शास्त्रदीपिका''** नामक अधिकरण प्रधान ग्रन्थ की रचना की है। यह मीमांसादर्शन का कीर्तिस्तम्भ है। यह मीमांसा का प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया है। इसमें जैमिनि सूत्रों के शावरभाष्य के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर द्वादशाध्यायपर्यन्त टीका की गयी है। इसका प्रकाशन निर्णय सागर प्रेस बम्बई से मयूखमालिका एवं युक्तिस्नेहप्रपूरणी के साथ तथा लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय विद्यापीठ दिल्ली से प्रभा टीका के साथ हुआ है। इनका दूसरा ग्रन्थ **''न्यायरत्नमाला''** है। यह सर्वथा मौलिक ग्रन्थ है, जो इनके पाण्डित्य का परिचायक है। इसके अतिरिक्त कुमारिल भट्ट की ''टुप्टीका'' पर इन्होंने **''तन्त्ररत्न''** नामक व्याख्याग्रन्थ भी लिखा है।

7. माधवाचार्य-(चौदहवीं शती)

पार्थसारथिकृत शास्त्रदीपिका के क्लिष्ट होने से मीमांसा दर्शन के विचार को हृदयङ्गम कराने के लिये माधवाचार्य ने पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष सहित **''जैमिनीय- न्यायमाला''** नामक ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ श्लोकात्मक एवं अधिकरण प्रधान है। इसे और अधिक बोधगम्य बनाने के लिये इन्होंने स्वयं ही ''विस्तर'' नाम्नी संक्षिप्त व्याख्या भी लिखी है। इस ग्रन्थ में लगभग 1500 श्लोक हैं। ये सायणाचार्य के भाई थे।

8. रामकृष्ण

रामकृष्ण ने शास्त्रदीपिका पर **''युक्ति स्नेहप्रपूरणी-सिद्धान्तचन्द्रिका''** नामक

(ख) गौडोमीमांसकपञ्चिकाकारः। गौडो हि वेदाध्ययनाभावात् अवेदत् न जानातीति गौड-मीमांसकस्येत्युक्तम्।''(न्याय कु० की० बोधिनी टीका पृ०—121)
(—मद्रास से प्रकाशित बृहती भाग—2 की प्रस्तावना एवं द्र०- भाग—3 पृ०—34)।

व्याख्या लिखी थी। इसका तर्कपादान्त भाग "निर्णयसागर प्रेस बम्बई" से प्रकाशित है। यह स्पष्ट नहीं ज्ञात होता कि इन्होंने सम्पूर्ण शास्त्रदीपिका की व्याख्या की थी या केवल तर्कपाद पर। इनके अनुसार इनके पूर्व किसी अन्य ने शास्त्रदीपिका की व्याख्या नहीं लिखी थी।

9. **सोमेश्वर भट्ट**–(1493 ई०)

इन्होंने तन्त्रवार्तिक पर "**न्याय-सुधा**" एवं शास्त्रदीपिका पर "**कर्पूर-वार्तिक**" नाम्नी टीका लिखी है। ये भी भाट्टमतानुयायी है। न्यायसुधा एक प्रौढ़ टीका है।

10. **सोमनाथ**–(1540 ई०)

इन्होंने शास्त्रदीपिका के प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद से प्रारम्भ करके बारहवें अध्यायपर्यन्त "**मयूखमालिका**" नाम्नी टीका लिखी है। सम्भव है कि प्रथम पाद पर रामकृष्ण की टीका होने के कारण इन्होंने उसके आगे की व्याख्या लिखी हो "या फिर मीमांसकों में मयूखमालिका को अधिक महत्त्व मिलने के कारण रामकृष्ण द्वारा शेष भाग पर लिखी टीका युक्तिस्नेहप्रपूरणी नष्ट हो गई हो।

11. **सुदर्शनाचार्य**

इन्होंने भी शास्त्रदीपिका पर "प्रकाश" टीका लिखी है। इन्होंने न्याय दर्शन के वात्स्यायन भाष्य पर भी 'सुबोध' नाम्नी टीका लिखी है।

12. **खण्डदेव**–(1650 से 1722 वि० स०)

इन्होंने मीमांसा दर्शन में नव्य-मत की उद्भावना की। इसके साथ ही इन्होंने जैमिनीय सूत्रों पर व्याख्या ग्रन्थ "**मीमांसाकौस्तुभ**" और "**भाट्टदीपिका**" नामक अधिकरणात्मक टीका लिखी एवं "**भाट्टरहस्य**" नामक स्वतंत्र ग्रंथ लिखा है जो श्री वेङ्कट सुब्रह्मण्य स्वामी के द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित है।

(क) मीमांसाकौस्तुभ–यह ग्रन्थ द्वादशाध्यायी के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर तृतीयपाद के बलाबलाधिकरण पर्यन्त सूत्रों की व्याख्या है। इस ग्रन्थ में खण्डदेव ने प्रायः सभी प्रसिद्ध ग्रन्थकारों के मतों का खण्डन-मण्डन किया है। यह एक दुरूह गुरुगम्य ग्रन्थ है।

(ख) भाट्टदीपिका–खण्डदेव ने अपने दूसरे ग्रन्थ "भाट्टदीपिका" का प्रणयन शास्त्रदीपिका के अनुकरण पर किया है। यह भी मीमांसा कौस्तुभ की

भाँति ही द्वितीय पाद से ही प्रारम्भ किया गया है। इसका प्रथम संस्करण कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है। यह नवम अध्याय के चतुर्थ पाद के छठे अधिकरण तक ही है। इसका मैसूर संस्करण चार भाग में प्रकाशित है। इस ग्रन्थ पर **भाट्टकल्पतरु, भाट्ट-चिन्तामणि, नयोद्योत** एवं **प्रभावली** टीका लिखी गई है। शम्भुभट्टकृत "प्रभावली" व्याख्या तृतीय अध्याय के तृतीयपाद पर्यन्त ही प्रकाशित है। शम्भुभट्ट खण्डदेव के साक्षात् शिष्य थे। इन्होंने कहीं-कहीं गुरुमत का खण्डन भी किया है।[1] भाट्टदीपिका पर श्री वाञ्छेश्वर यज्वा (19वीं शती) की भाट्टचिन्तामणि टीका भी उल्लेखनीय है।

13. वासुदेव दीक्षित–(1740 से 1800)

इनका प्रमुख ग्रन्थ "अध्वरमीमांसा कुतूहलवृत्ति" है। जैमिनि सूत्रों की यह व्याख्या अत्यन्त उपादेय है। ये अत्यन्त क्लिष्ट से विषय को भी अत्यन्त सरल रूप से प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त हैं। यह ग्रन्थ प्रथमाध्याय से लेकर तृतीयाध्याय पर्यन्त कुप्पूस्वामी के संपादन में प्रकाशित हुआ है। इस समय यह चार भागों में राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। इन्होंने सिद्धान्तकौमुदी पर बालमनोरमा टीका की भी रचना की है।

14. रामेश्वर सूरि

इन्होंने जैमिनि सूत्रों की "**सुबोधिनी**" नामक सुगमवृत्ति लिखी है। यह वाराणसी से प्रकाशित है। इन सूत्रवृत्तियों के अतिरिक्त "**ऋषिपुत्रपरमेश्वर**" ने "**जैमिनीयसूत्रार्थसंग्रह**" नामक उपादेय ग्रन्थ लिखा है।

15. भवनाथ–(10वीं से11वीं शताब्दी)

इनका "**नयविवेक**" ग्रन्थ मीमांसादर्शन के प्रकरण ग्रन्थों में उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ में शालिकनाथ के मत का विस्तृत विवेचन है। इस पर वरदराज ने **दीपिका** और दामोदर सूरि ने **अलंकार** टीका का प्रणयन किया है, जिसकी हस्तलिपि सरस्वती भवन पुस्तकालय सम्पूर्णानन्द के पाण्डुलिपि भाग में रखी है। ये मिथिला निवासी थे।

16. अप्पयदीक्षित

इन्होंने **'विधिरसायन'** नामक ग्रन्थ की रचना की जो विधि का

1. "यद्यप्यत्र गुरोः कृतावपि मयाऽपि उद्‌भाविते काचनासंभूतिः तदपि प्रचारचतुरे नैषा पुरोभागिता। किन्तु क्ष्मातिलकाः कुशाग्रधिषणाशास्त्रबद्धादरा, मद्‌वाक्यं परिहृत्य तत्कृतिमलं कुर्वन्ति वयं मतिः।" (प्रभावली टीका की प्रस्तावना)।

साङ्गोपाङ्ग वर्णन करता है। इसका महत्ता को देखता हुए विधि रसायन दूषण नामक खण्डन लिखा गया है। इनका दूसरा ग्रन्थ **'वादनक्षत्रमाला'** है।

17. आपदेव–(1687 सं०)

आपदेवकृत **''मीमांसान्यायप्रकाश''** प्रकरण ग्रन्थों में अन्यतम है। वेदवाक्यों का पञ्चधा विभाजन सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में दुरूह सिद्धान्तों को बड़ी ही सरल भाषा में वर्णित किया गया है। इसका दूसरा नाम ''आपोदेवी'' है। इस ग्रन्थ पर इनके पुत्र अनन्तदेव ने वृत्ति लिखी है। इसकी पट्टाभिरामशास्त्री कृत हिन्दी टीका सम्प्रति ''लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत संस्थान'' से प्रकाशित है। इसकी चिन्नस्वामी कृत 'तत्वबोधिनी' संस्कृत टीका भी उल्लेखनीय है। इसकी पाण्डुलिपि इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में विद्यमान है।

18. लौगाक्षिभास्कर

इन्होंने **'अर्थसंग्रह'** नामक लघुकाय ग्रन्थ की रचना की है। जिस पर अर्जुन मिश्र (1727 सं०) तथा शिवयोगि भिक्षु (1727) विरचित टीका प्राप्त होती है। इस ग्रन्थ पर पं० दयाशंकर शास्त्री ने हिन्दी टीका लिखी है। इस ग्रन्थ पर वाचस्पति उपाध्याय द्वारा पट्टाभिरामशास्त्री कृत अर्थालोक टीका सहित वैदुष्यपूर्ण हिन्दी टीका का प्रकाशन हुआ है। इसके अतिरिक्त इन्होंने **तर्ककौमुदी** की भी रचना की है, यह न्याय का ग्रन्थ है।

19. शङ्कर भट्ट

इन्होंने **''मीमांसाबालप्रकाश'** नामक ग्रन्थ लिखा है जो मीमांसा के कतिपय पदार्थों का विस्तार से कथन करता है। इनका दूसरा ग्रन्थ **'मीमांसासारसंग्रह'** है।

20. श्रीकृष्णयज्वा

''श्रीकृष्णयज्वा'' कृत ''मीमांसा परिभाषा'' एक लघुकाय प्रकरण ग्रन्थ है। यह सारगर्भित प्रकरण ग्रन्थों की श्रृंङ्खला में एक महत्वपूर्ण कड़ी है। ये 18वीं शती के भाट्ट सम्प्रदाय के विद्वान् थे। इसका प्रकाशन कलकत्ता व बनारस से हुआ है। बनारस से सम्पादित संस्करण का सम्पादन महामहोपाध्याय डॉ० गङ्गानाथ झा ने किया है। इसकी टीकाओं में ''आशुतोषिणी'' टीका सम्प्रति विद्वानों का कण्ठहार है।

इन ग्रन्थों के अलावा **नारायणभट्ट** का ''भाट्टभाषा प्रकाशिका'',

वेंकटाध्वरि का "मीमांसामकरन्द" तथा **चिन्नस्वामी शास्त्री** की "तन्त्र सिद्धान्त रत्नावली" मीमांसा दर्शन के अप्रतिम पुष्प हैं।

21. मुरारि मिश्र

इनके दो ग्रन्थ **एकादशाध्यायाधिकरण** और **त्रिपादीनीतिनयन** महामहो० डा० उमेश मिश्र के नोट्स के साथ प्रकाशित है। इनका काल 12वीं 13वीं शती माना गया है।[1]

वेदवाक्यों का वर्गीकरण

आचार्य जैमिनि ने द्वादशलक्षणी (जैमिनि सूत्र) में सबसे पहले "अथातो धर्मजिज्ञासा" सूत्र को रखा है। धर्म की जिज्ञास्य के रूप में प्रतिज्ञा होने से द्वादशलक्षणी में वस्तुतः धर्म ही प्रतिपादित किया गया है। प्रश्न यह उठता है कि जैमिनि द्वारा द्वादशलक्षणी में प्रतिपादित धर्म क्या है? इसका समाधान करते हुए स्वयं जैमिनि नें कहा कि "चोदना (विधि) परक़ अर्थ ही धर्म है" चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः (जै० सू० 1/1/2)। इसी चोदनापरक धर्म रूप अर्थ को व्याख्यायित करते हुए अन्य शास्त्रकारों ने यह प्रतिपादित किया है कि वेद में प्रयोजन के रूप में विधीयमान याग-होमादि पदार्थ ही धर्म हैं। इस विधि लक्षण वाले धर्म का प्रतिपादन करने वाले वेदवाक्य पाँच प्रकार के होते हैं-[2]—1. विधि, 2. मन्त्र, 3. नामधेय, 4. निषेध, 5. अर्थवाद।

पञ्चविध वेदवाक्यों का स्वरूप

1. विधि–"यजेत स्वर्गकामः" आदि अज्ञात स्वर्गादि पदार्थ के ज्ञापक वेदवाक्य "विधि" के नाम से व्यवहृत होते हैं।[3] इसी को मीमांसा-शास्त्रकारों ने चोदना, उपदेशं इत्यादि नामों से व्यवहृत किया है। "चोदना चोपदेशश्चविधिश्चैकार्थवाचिनः"। (कुमारिल भट्ट-तंत्रवार्तिक)

2. मन्त्र–याग में प्रयुक्त द्रव्य अथवा देवता आदि पदार्थों के स्मारक वेदवाक्य "मन्त्र" कहलाते हैं।[4] ये वाक्य पदार्थ स्मरण या प्रकाशन कराने के साथ ही अदृष्ट या अपूर्व की प्राप्ति भी कराते हैं। अतः मन्त्र दृष्ट (पदार्थ स्मरण) और अदृष्ट (अपूर्वोत्पत्ति) दोनों प्रकार के प्रयोजनों की सिद्धि करते हैं।

3. नामधेय–विधि के विधेयभूत यागादि के परिच्छेदक (व्यावर्तक) पद नामधेय

---

1. महामहोपाध्याय कुप्पूस्वामी की "ए प्राइमर ऑफ इण्डियन लॉजिक"-पृ० 68
2. "स च वेदो विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः। (अर्थसंग्रहः)।
3. "तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः।" (अर्थसंग्रह)।
4. "मन्त्राणां च प्रयोगसमवेतार्थस्मारकतयाऽर्थवत्त्वम्"। (मी०न्या०पृ० 110)।

कहलाते हैं।[1] ये पद विधि के विशेषक होने के कारण विधेय याग को इतर यागविधियों से अलग करते हैं। यद्यपि नामधेय "पद" हैं किन्तु विधिवाक्य के विशेषक होने से उपचार से 'वाक्य' के रूप में व्यवहृत होते हैं।

4. निषेध–श्येनादि अनर्थभूत कर्मों से पुरुष की निवृत्ति कराने वाले वेदवाक्य "निषेध" के नाम से अभिहित होते हैं।[2] वस्तुतः ये वाक्य विधि के द्वारा प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति में सहायक होते हैं। नञ्सहित लिङ्युक्त वाक्य ही मीमांसा में निषेधवाक्यों के नाम से व्यवहृत होते हैं।

5. अर्थवाद–विधि के द्वारा विधेय याग अथवा तत्संबंधित द्रव्य या देवता आदि की स्तुति द्वारा या निन्दा द्वारा विधि की प्ररोचना करने वाले वेदवाक्य अर्थवाद-वाक्य कहलाते हैं।[3] ये विधेयार्थ की प्रशंसा द्वारा विधि के प्रति रुचि उत्पन्न करके यागादि के अनुष्ठान में पुरुष को प्रवृत्त कराते हैं।

वेदवाक्यों का यह पञ्चविध विभाजन केवल नव्यमीमांसकों द्वारा किया गया है यह विशेष रूप से प्रकरण-ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से व्याख्यात है। यद्यपि जैमिनि, शबरस्वामी, कुमारिल भट्ट आदि प्राचीन मीमांसकों द्वारा विधि, मन्त्र, नामधेय एवं अर्थवाद रूप वेदवाक्यों की विस्तृत विवेचना की गई है, तथापि "निषेध" इस वेदभाग का पृथक्रूपेण नामतः उल्लेख नहीं किया गया; किन्तु केवल इस आधार पर यह कहना अयुक्त है कि जब जैमिनि आदि प्रामाणिक मीमांसकों द्वारा निषेध का प्रामाण्य नहीं स्थापित किया गया तो नव्यमीमांसकों ने "निषेध" नामक विचित्र वेद-विभाग की कैसे कल्पना कर ली।

उक्त शङ्का का समाधान यह है कि यद्यपि प्राच्य मीमांसकों ने "निषेध" इस वेदभाग की शब्दतः पृथक्रूप से विवेचना नहीं की अथवा द्वादशलक्षणीकार जैमिनि ने अपने द्वादशलक्षणी में अन्य वेदभागों के प्रतिपादन हेतु जिस प्रकार से पृथक्-पृथक् अधिकरण की रचना की है, उसी प्रकार से "निषेधलक्षणाधिकरण" इस नाम से अधिकरण की रचना नहीं की, तथापि आचार्य जैमिनि ने द्वादशलक्षणी के पांचवें तथा दसवें अध्याय में "बाध" इस शीर्षक से बाध का लक्षण बताते हुए उसी प्रसंग में निषेधवाक्यों के स्वरूप और प्रामाण्य की विवेचना की है। वस्तुतः प्राचीन मीमांसकों द्वारा निषेध की अलग से चर्चा न करके उसे विधिवाक्य के अन्तर्गत ही समाहित किया गया है। उन्होंने निषेधवाक्यों को अधर्मभूत कर्मों से पुरुषनिवृत्ति द्वारा धर्मरूपी पुरुषार्थ प्राप्ति का हेतु माना है। विधि और निषेध दोनों प्रकार के वाक्यों में प्रेरणाशक्ति रहती है।

---

1. "नामधेयानां विधेयार्थपरिच्छेदकतयाऽर्थवत्त्वम्।' (मी०न्या०प्र०पृ० 117)।
2. "अनर्थहितो: कर्मणः सकाशात् पुरुषस्य निवृत्तिकरत्वेन निषेधानां पुरुषार्थानुबन्धित्वम्।" (मी०न्या०प्र०पृ० 146)
3. "प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः।" (अर्थसंग्रह)।

यद्यपि निषेधवाक्यों में नञ्श्रुति के द्वारा विधि की भाँति साक्षात् निवर्तना नहीं सम्पादित होती तथापि लिङ्प्रत्यययुक्त नञ् द्वारा पुरुष निवर्तन सम्भव होता है। जिससे अनर्थकारी क्रियाओं से पुरुष की निवृत्ति होती है और निषेधवाक्यों द्वारा धर्म का प्रतिपादन सम्भव होता है। इस प्रकार निषेधवाक्यों का भी धर्म के प्रति प्रामाण्य सिद्ध होता है। वस्तुतः धर्म में प्रवृत्ति के लिये अधर्म के स्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक है और यही निषेधवाक्यों का प्रयोजन (कार्य) है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदगत निषेधवाक्य अधर्मरूप अनिष्टकारी क्रियाओं से पुरुष की निवृत्ति कराने के कारण उपयोगी है।

विधिवाक्यों का स्वरूप और उपयोगिता

मीमांसाशास्त्र में विधि का स्थान् महत्वपूर्ण है। मीमांसा में विधि, उपदेश, प्रेरणा आदि एक दूसरे के पर्याय माने गये हैं।[1] क्रियागत लिङ्, लोट् एवं तव्य प्रत्यय के द्वारा विधिवाक्यों का विधायकत्व ज्ञात होता है। जैसे—"स्वर्गकामो यजेत" इस वाक्य में प्रयुक्त "यजेत" यह क्रियापद लिङ्- "त" प्रत्यय से युक्त है। क्रियापदगत यही प्रत्यय विधिप्रत्यय के नाम से भी व्यवहृत होते हैं। ये विधायक प्रत्यय श्रोता पुरुष में प्रवृत्ति उत्पन्न करने के कारण "प्रवर्तना" इस संज्ञा से भी अभिहित होते हैं। पुरुष-प्रवृत्यनुकूल व्यापार ही प्रवर्तना है। लोक में यह प्रवृत्यनुकूल व्यापार प्रेरणा देने वाले गुरु आदि में स्थित होता है। वेद के अपौरुषेय होने के कारण वहाँ यह प्रवर्तना लिङादियुक्त प्रेरणाबोधक शब्द में रहती है।

प्रभाकर मिश्र ने विधि प्रत्ययगत इन लिङादि का अर्थ "नियोग" माना है, क्योंकि विधिप्रत्यय अपने अभीष्ट सम्पादन के लिये अपने विषयभूत यागादि में पुरुष को नियुक्त करता है, इसीलिये इसे नियोग कहा गया है। नियोग का दूसरा नाम **"कार्य"** भी है। कार्य वस्तुतः पुरुष प्रयत्न (कृति) द्वारा साध्य है। अतः कार्य अपनी सिद्धि हेतु नियोज्य पुरुष का नियोग करता है। वेदगत विधिवाक्यों को सुनने के पश्चात् "यह मेरे करने योग्य है" अर्थात् "मत्कृतिसाध्य" है; ऐसी बुद्धि जिस श्रोता पुरुष में उत्पन्न होती है वही "नियोज्य पुरुष" है। जिन लिङादिप्रत्ययों के श्रवण से ऐसी बुद्धि पुरुष में उत्पन्न होती है, वह विधि प्रत्यय ही नियोजक अथवा प्रेरक होने से प्रेरणारूप है। यथा —"स्वर्गकामो जुहुयात्" आदि वाक्यों में स्वर्गरूप फल पुरुषप्रयत्न (कृति) द्वारा साध्य हैं। अतः स्वर्ग फल की कामना से युक्त पुरुष अग्निहोत्रहवन कर्म में नियोज्य है। स्वर्ग की कामना से युक्त पुरुष होम द्वारा काम्य स्वर्गफल का सम्पादन करेगा। क्योंकि साधन ज्ञान के बिना पुरुष

1. "चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः।"

यागादिकर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकेगा, अतः इस स्वर्गादिरूप अभीष्ट के सम्पादक यागादि इसके साधन हैं। इस प्रकार यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विधिवाक्य प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से अज्ञात स्वर्गादि साध्य के साधनभूत यागादि का ज्ञान कराने के कारण धर्म में प्रमाण हैं। यागादि की यह कार्यरूपता विधि (शब्द) प्रमाण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रत्यक्ष या अनुमानादि प्रमाण के द्वारा नहीं सिद्ध होती। अतः जिस प्रकार सदैव विषययुक्त पदार्थ का ही ज्ञान होता है, उसी प्रकार "कृति" अर्थात् पुरुषप्रयत्न भी सविषयक ही होता है। इसके साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि साधन ज्ञान के बिना पुरुषकृति द्वारा क्रिया का सम्पादन सम्भव नहीं है। विधि-वाक्यगत धात्वर्थ ही क्रिया का करण या साधन होता है। अतः धात्वर्थरूप साधन के द्वारा पुरुष कार्य का उत्पादक (सम्पादक) बनता है।

मीमांसादर्शन में अपूर्व रूप फल को उद्देश्य करके पुरुष द्वारा किया गया याग, दान, होमादि क्रियाविषयक व्यापार "कृति" संज्ञा से विभूषित होता है। यह कृति या प्रयत्न वस्तुतः चेतन आत्मा का गुण है, जो नियोज्य पुरुष में रहता है। इसका कारण यह है कि कार्य या नियोग की सिद्धि के लिये चेतन पुरुष हीं प्रयत्नवान् होता है, अचेतन पदार्थ कृतिमान् न होने के कारण नियोज्य नहीं हो सकता।

निष्कर्ष यह है कि "स्वर्गकामो यजेत" आदि विधिवाक्यगत लिङ् प्रत्यय ("त") प्रेरणा या नियोग रूप हैं। यही लिङ् प्रत्यय 'यज' के धात्वर्थ याग-क्रिया द्वारा स्वर्ग फल का सम्पादक होने से करण या साधन हैं और यह धात्वर्थ क्रियारूप है। अतः धात्वर्थविशिष्ट 'त' प्रत्यय को "आख्यात" भी कहा जाता है।

विधि की यह प्रवर्तनाशक्ति "भावना" कहलाती है। इन लिङादिप्रत्ययों के अर्थ को "अभिधाभावना" भी कहा गया है। वस्तुतः लिङादिप्रत्यय युक्त यजेतादि पद में दो प्रकार की भावनाओं की स्थिति मानी गयी।[1] यागादिक्रियाओं से स्वर्गादिफल को भावित करने से सम्बन्धित प्रेरयिता (लिङादि) का जो विशिष्ट व्यापार है, वहीं मीमांसाशास्त्र में भावना के नाम से व्यवहृत होता है।[2] यह भावना "शाब्दीभावना" और "आर्थीभावना" के भेद से दो प्रकार की है-

शाब्दी भावना-जब अभिधासंज्ञक भावना लिङादिप्रत्ययगत शब्द के आश्रित रहती है तब वह शब्दनिष्ठ होने के कारण शाब्दभावना या शाब्दीभावना के नाम से व्यवहृत होती है। लोक में यह भावना प्रयोक्ता अर्थात् (प्रेरयिता) गुर्वादिपुरुष में रहती है; जबकि वेद के अपौरुषेय होने से वेदगत विधिवाक्यों

1. "अभिधा भावनामाहुः अन्यामेव लिङादयः"। (तंत्रवार्तिक —पृ० 344)।
2. "भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः"। (अर्थ संग्रह)।

में प्रयुक्त लिङादि-शब्दनिष्ठ होती है। प्रेरणारूप लिङादि प्रत्यय के श्रवण से प्रयोज्य पुरुष में प्रवृत्ति बुद्धि उत्पन्न होने के कारण यह शाब्दीभावना कहलाती है। अभिधावृत्ति से श्रवण मात्र से ही लिङादि के अर्थ का प्रतिपादन होने के कारण इसे "अभिधाभावना" कहा जाता है। यह विधायक प्रत्यय के "लिङ्त्वांश" से सम्बद्ध होती है।

आर्थीभावना-यह भावना पुरुष प्रवृत्ति रूप है। क्योंकि यागादि क्रियाओं में पुरुष की प्रवृत्ति ही विधि का प्रयोजन (अर्थ) है, इसीलिये इसे आर्थीभावना कहा गया है। यह विधायक प्रत्यय के 'आख्यातांश' से सम्बद्ध होती है। पुरुषप्रवृत्ति रूप होने के कारण आख्यात को क्रियारूप कहा गया है। वस्तुतः यह भावना स्वर्गादि प्रयोजन की इच्छा से उत्पन्न हुआ यागादि क्रियाविषयक व्यापार है जो अभीष्ट स्वर्गादिफल के सम्पादयिता (भावयिता) पुरुष में विद्यमान रहती है और विधि के विधेयभूत यागादि से सम्बद्ध पुरुष का "विशेष-प्रयत्न" (प्रवृत्तिरूप) है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ही विधायक प्रत्यय (त) का अंश होते हुए भी ये दोनों भावनायें भिन्ननिष्ठ होती हैं। जहाँ शाब्दी भावना इष्टसाधनता ज्ञान से युक्त प्रयोक्ता पुरुष में रहती है वहीं आर्थीभावना शाब्दीभावना का साध्य (फल) है और प्रयोज्य पुरुष में स्थित होती है। ये दोनों ही भावनायें साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता रूप अंशत्रय से युक्त होती हैं। शाब्दीभावना का 'साध्य है—पुरुष-प्रवृत्तिरूप आर्थीभावना, 'साधन' लिङादि ज्ञान और यागादि क्रिया अथवा विधि के विधेय पदार्थ का प्राशस्त्यज्ञान "इतिकर्तव्यता" है। पुरुषव्यापाररूपा आर्थीभावना का स्वर्गादि "साध्य" है, याग होमादि क्रियायें "साधन" और समस्त अङ्गसमुदाय से युक्त यागादि क्रियाओं से स्वर्गादि इष्टफल का सम्पादन "इतिकर्तव्यता" है। मीमांसा सिद्धान्त के अनुसार इन विधिविहित यागादि क्रियाओं के सम्पादन से "अपूर्व" की उत्पत्ति होती है। यह अपूर्व यजमान पुरुष की आत्मा में समवेत रहता है और शरीर त्याग के पश्चात् यह अपूर्व ही पुरुष को स्वर्गादि की प्राप्ति करात। है।

तात्पर्य यह है कि विधि शब्द प्रमाण का महत्त्वपूर्ण घटक है। यह विधि कार्य की विधायक होती है अतएव जो वाक्य विधायक या प्रेरक होता है, वही विधिवाक्य की संज्ञा से विभूषित होता है। जैसे-"अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः" वाक्य पुरुष को अग्निहोत्र कर्म को करने के लिये प्रेरित करता है अतएव यह विधिवाक्य का उदाहरण है। मीमांसा दर्शन में प्रमाणान्तर से सर्वथा अज्ञात अर्थ का बोध कराने वाले वेदभाग को विधि कहा गया है। यह विधि सामान्यतः दो प्रकार की होती है- वैदिक विधि, लौकिक विधि। लौकिक विधि-वाक्य के उदाहरण 'गामानय', 'ओदनकामः तण्डुलं पचेत्'

इत्यादि वाक्य हैं। वैदिक विधि वाक्यों के उदाहरण "स्वर्गकामो यजेत", अग्निहोत्रं जुहुयात्" आदि वाक्य हैं। लिङ्, लोट्, लेट् और तव्यादि प्रत्ययों के द्वारा अभिहित अर्थ ही विधि है।

वैदिक विधि के प्रयोजन की दृष्टि से तीन भेद किये जाते हैं-

1. **अपूर्व विधि**—यह सर्वथा अज्ञात अर्थ की ज्ञापक होती हैं। जैसे—"स्वर्गकामो यजेत" वाक्य।

2. **नियम विधि**—यह विधि अनेक प्राप्त साधनों में से किसी एक साधन की प्राप्ति की नियामक होने से नियमविधि कहलाती है। जैसे "व्रीहीन् अवहन्ति' विधि। यहाँ धान्य से तुषविमोचन के अवहनन, नखविदलन, अश्मकुट्टन (पत्थर से कूटना) आदि अनेक प्राप्त साधनों में से केवल अवघात का ही ग्रहण विहित है; शेष का नहीं। यही इस विधि का प्रयोजन है। यह अप्राप्तांशपूरणफला विधि कहलाती है।[1]

3. **परिसंख्याविधि**—यह विधि प्राप्त पक्षों की निवृत्ति कराने के कारण अर्थात् अनेक प्राप्त पक्षों में से इतर साधन की निवर्तक होने से परिसंख्या कहलाती है[2]। वस्तुतः यह विधि प्राप्तांशभूत इतर साधन की निवर्तक होती है। जैसे- 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' विधि से अश्वरशनाग्रहण का विधान नहीं अपितु गर्दभरशनादान की निवृत्ति परिसंख्या का प्रयोजन है। यह श्रौती और लाक्षणिकी के भेद से दो प्रकार की है।

इन विधियों में से **अपूर्व विधि** के पुनः चार प्रकार दृष्टिगत होते हैं-

1. उत्पत्ति विधि 2. विनियोगविधि 3. प्रयोगविधि 4. अधिकारविधि ।

1. **उत्पत्तिविधि**—जिस वेद वाक्य से याग कर्म के स्वरूप मात्र का बोध होता है वह 'उत्पत्ति विधि' कहलाती है। जैसे—**'अग्निहोत्रं जुहोति'**—यह वाक्य अग्निहोत्र के स्वरूप मात्र का बोधक होने से उत्पत्ति विधि का उदाहरण है। कतिपय स्थलों पर ये उत्पत्ति वाक्य कर्म के स्वरूप एवं गुण दोनों के बोधक होते हैं, किन्तु यह स्थिति वहाँ होती है जहाँ कर्म का और गुण का प्रापक वाक्य भिन्न-भिन्न नहीं होता। जैसे **'सोमेन यजेत'** इस वाक्य द्वारा सोम याग और सोमगुण दोनों का विधान होता है। क्योंकि सोमयाग का उत्पत्ति वाक्य प्राप्त नहीं है, अतः यहाँ मत्वर्थलक्षणा की सहायता से इस वाक्य का 'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्' अर्थात् 'सोमविशिष्ट द्रव्य से याग को भावित करें' ऐसा अर्थ किया जाता है। लौगाक्षिभास्कर आदि कतिपय मीमांसकों ने इसे विशिष्ट

---

1. "अनेन हि विधिना अवघातस्य न वैतुष्यार्थत्वं बोध्यते अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात् किन्तु नियमः, स चाप्राप्तांशपूरणम्"।
2. विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य- मी०परि० की आशु० पृ० 179-181

विधि कहा है। वस्तुतः ऐसा अर्थ तब स्वीकार किया जाता है। जब कोई अन्य विकल्प संभव न हो। क्योंकि मत्वर्थलक्षणा से कल्पनागौरव में वृद्धि होती है; अतएव अगत्या ही मत्वर्थलक्षणा स्वीकार करना चाहिए।[1]

याग के दो रूप स्वीकृत है—1. द्रव्य 2. देवता। इन्हीं से कर्म का स्वरूप निर्धारित होता है। यद्यपि 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य से द्रव्य या देवता का श्रवण नहीं होता तथापि यह उत्पत्ति वाक्य है। क्योंकि इसके अग्निरूप देवता की प्राप्ति 'अग्निर्ज्योतिः ज्योतिरग्निः' आदि मंत्र से एवं द्रव्य की प्राप्ति **'दध्ना जुहोति'** इस गुण विधायक वाक्य से होती हैं, अतः इसे उत्पत्तिविधि मानना युक्तिसङ्गत है। यदि इसे देवतादि की प्राप्ति कराने वाली विधि मानेगें तो इसकी अपूर्वता भङ्ग होगी, क्योंकि उसकी प्राप्ति अन्य वेदवाक्य से होती है; इसलिये यहाँ अप्राप्तार्थप्रापकता नहीं सिद्ध होगी। अतः यह उत्पत्ति विधि का ही उदाहरण सिद्ध होता है। 'श्रीकृष्णयज्वा' ने इसे कर्मोत्पत्तिविधि कहा है।

2. विनियोगविधि—जो अपूर्व विधि अङ्गभूत कर्मों का प्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध प्रतिपादित करती है वह विनियोग विधि कहलाती है। जैसे- "दध्ना जुहोति" इस वाक्य में दधि रूप विधेय (अङ्गभूत) द्रव्य का होमरूप उद्देश्य (प्रधानकर्म) के साथ सम्बन्ध निरूपित किया गया है अर्थात् इस वाक्य से यह बोध होता है कि- होमरूप प्रधान कर्म का दधि अङ्ग है। यहाँ दधि के विधेय होने से उसकी अङ्गता बोधित होती है और 'अग्निहोत्रं जुहोति' से अनूदित "जुहोति" (होम) के उद्देश्य होने से होमकर्म की प्राधान्यता ज्ञात होती है। वस्तुतः कर्मोत्पत्ति विधि में धात्वर्थ विधेय होता है। अतः वाक्यार्थ में धात्वर्थ का करणत्वेन अन्वय होता है। जबकि विनियोग (गुण) विधि में धात्वर्थ करण नहीं होता प्रत्युत तृतीयादि श्रुतिसंयुक्त द्रव्यादि ही करण होते हैं, जो धात्वर्थ से करणत्वेन सम्बद्ध (अन्वित) होते हैं। देवता को उद्देश्य करके अग्नि आदि आधार में द्रव्य का प्रक्षेपण ही याग है। कतिपय स्थलों पर इस धात्वर्थ का अन्वय आश्रय रूप में किया जाता है। जैसे **'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्'** आदि वाक्यों में "दधिकरणत्वेन इन्द्रियं भावयेत्' ऐसा अर्थबोध होता है। अतएव यहाँ इन्द्रिय (समृद्धि) फल को उद्देश्य करके दधिरूपसाधन से होम का विधान प्राप्त होता है। यह दधिकारणता होम के साथ आश्रय रूप सम्बन्ध के कारण ही चरितार्थ होती है।[2] दधि आदि की यह अङ्गता उनकी पारार्थ्यता के कारण है। जैसा कि जैमिनि ने कहा भी है, **"शेषः परार्थत्वात्'**। यहाँ परार्थता

1. अतश्च विशिष्टविधाविव गुणविधावप्यस्त्येव मत्वर्थलक्षणेति चेन्नैवम्। गुणान्वयानुपपत्त्या मत्वर्थलक्षणा अङ्गीक्रियते।" [मी०न्याय० पृ०35]
2. "तत्सिद्धं धात्वर्थस्य न करणत्वेनैवान्वय इति। किं तर्हि क्वचित् करणत्वेन क्वचित्साध्यत्वेन क्वचिदाश्रयत्वेनेति। गुणविधौ साध्यत्वेनैवान्वयः सम्भवतीति न मत्वर्थलक्षणायाः प्रयोजनम्'। [अर्थ०]

का तात्पर्य अन्य की स्वरूप सिद्धि में जिसका प्रयोजन हो उन द्रव्यादि से है। 'दध्ना जुहोति' आदि वाक्यों में भी दधि का प्रयोजन परार्थ अर्थात् होम आदि की स्वरूपसिद्धि के लिये होने से दधि होम का अङ्ग सिद्ध होता है।

इस अङ्गत्व का निर्धारण श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या रूप छह सहकारिकारणों की सहायता से किया जाता है।

श्रुति जो शब्द किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न करे वह श्रुति है। श्रुति के भी तीन भेद हैं-

1. विधात्री श्रुति 2. अभिधात्री श्रुति 3. विनियोक्त्री श्रुति

जो शब्द किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न करे, वह विधायिका श्रुति विधात्री है। जैसे- 'व्रीहीभिर्यजेत'। इस वाक्य में प्रयुक्त 'यजेत' इस एकपद में यजरूप प्रकृति से धात्वर्थ याग का एवं प्रत्ययार्थ से भावना का बोध होता है। यहाँ भावना का तात्पर्य आख्यातरूपा आर्थीभावना से है। इस आख्यात के द्वारा ही संख्या भी ज्ञात होती है, जो भावना का अङ्ग है। संख्या और भावना के अङ्गाङ्गिभाव में समानाभिधान (एकाभिधान) श्रुति ही प्रमाण है।

यहाँ संख्या की यागाङ्गता साक्षात् नहीं अपितु भावना के द्वारा है और इस अङ्गाङ्गिभाव की बोधिका श्रुति एकपदरूपा है अर्थात् एक ही पद में प्रयुक्त संख्या भावना के साथ और संख्यान्वित भावना याग के साथ अङ्गता को प्राप्त करती है, इस बोध में एक-पदरूपा श्रुति ही प्रमाण है; इनका सम्बन्ध वस्तुतः एक ही पद में उपस्थित होने से है। तात्पर्य यह है कि समानाभिधान श्रुति से संख्या भावना का अङ्ग सिद्ध होती है और एकपदश्रुति से संख्या याग का अङ्ग सिद्ध होती है। यहाँ यह शङ्का अयुक्त है कि अमूर्त होने से संख्या भावना का अङ्ग नहीं हो सकती क्योंकि संख्या कर्तृसंयुक्त भावना में अन्वित होती है। अतः **एकहायनीन्याय** से जैसे गो द्रव्य के साथ अमूर्त आरुण्यादि गुण अन्वित होते हैं, वैसे ही भावना के साथ आक्षिप्त कर्त्ता में अमूर्त संख्यादि गुण भी अन्वित हो सकते हैं। यह शङ्का वस्तुतः वैयाकरणों की है, क्योंकि वैयाकरण भावना को धात्वर्थगत मानता है; जबकि मीमांसक भावना को प्रत्ययार्थ मानते है, अतः कर्त्ता को प्रत्ययार्थ मानने वाले वैयाकरण मत में यह वैरस्य भले ही हो किन्तु प्रत्ययार्थ या आख्यातार्थ को भावना मानने वाले मीमांसक के मत में कर्त्ता के आक्षेपलभ्य होने से कर्तृपरिच्छेद द्वारा संख्या की यागाङ्गता भी सिद्ध होती है।

यह श्रुति लिङ्गादि अन्य प्रमाणों की अपेक्षा प्रबल होती है। क्योंकि लिङ्गादि अन्य प्रमाण जहाँ श्रुत्यादि की सहायता की अपेक्षा रखते हैं, वहीं निरपेक्ष प्रमाण होने से श्रुति विनियोग सम्बन्ध का शीघ्र बोध करा देती है।

जैसा कि जैमिनि ने कहा भी है—**श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्**[1]। तात्पर्य यह है कि विधान करने वाली श्रुति विधात्री कहलाती है अर्थात् जो वाक्य विधायक प्रत्यय से संयुक्त होता है वह **'विधात्री'** है जैसे— "अग्निहोत्रं जुहुयात्" आदि वाक्य। जो विधि पदार्थ का अभिधान करती है अर्थात् अभिधा द्वारा स्वार्थ का प्रतिपादन करती है वह **अभिधात्री'** श्रुति है। जैसे—'व्रीहीन् प्रोक्षति' आदि वाक्य व्रीहि प्रोक्षण का कथन करने के कारण अभिधात्री श्रुति के उदाहरण हैं। जहाँ शब्द के श्रवणमात्र से ही विनियोग सम्बन्ध प्रतीत होता है; वह विनियोक्त्री श्रुति कहलाती है। जैसे- "व्रीहीभिर्यजेत" वाक्य में वाक्य के श्रवण मात्र से ही व्रीहियों की अङ्गता और याग की प्रधानता का सम्वन्ध प्रतीत होने से यह विनियोक्त्री श्रुति का उदाहरण है। इस विनियोक्त्री श्रुति के भी तीन भेद दृष्टिगत होते हैं—

1. विभक्तिरूपा 2. समानाभिधानरूपा 3. एकपदरूपा विनियोक्त्री श्रुति

विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति की अङ्गता विभक्ति से निर्णीत होती है। जैसे **'व्रीहीभिर्यजेत'** वाक्य में व्रीहियों की यागाङ्गता तृतीया श्रुति द्वारा ज्ञात होने से यह विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति का उदाहरण है। यहाँ व्रीहियों की यागाङ्गता वस्तुतः साक्षात् नहीं अपितु पुरोडाश का प्रकृतिभूत द्रव्य होने से सिद्ध होती है। यह विभक्तिरूपा विनियोक्त्रीश्रुति द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी आदि भेदों से भी विभक्त होती है। "**व्रीहीन् अवहन्ति**", "**अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति**", "**मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति**", "**अग्नेस्तृणान्यपचिनोति**" **एवं** "**यदाहवनीये जुहोति**" आदि वाक्य क्रमशः इन भेदों के उदाहरण हैं। इन सभी विभक्ति श्रुतियों से विनियोग सम्बन्ध ज्ञात होता है।

समानाभिधानश्रुति वह है जहाँ एक ही प्रत्यय द्वारा अङ्गता निर्णीत होती है जैसे—**'पशुना यजेत'** इस वाक्य में पशु के साथ संयुक्त 'टा' इस एक ही प्रत्यय से एकत्व, पुंसत्व और कारक (करण) तीनों का बोध होता है। यहाँ एकत्व और पुंसत्व कारक में अन्वित होने से उसके अङ्ग सिद्ध होते हैं। वस्तुतः सभी प्रत्ययार्थो में कारक की ही प्रधानता होने से शेष अर्थ उसके अङ्ग के रूप में अन्वित होते हैं। निष्कर्ष यह है कि इस वाक्य से यह बोध होता है कि एकत्व संख्या विशिष्ट पुंस्त्व संयुक्त पशु से याग करना चाहिए।

लिङ्ग—शब्द की सामर्थ्य 'लिङ्ग' कहलाती है। यह सामर्थ्य दो प्रकार की होती है 1. शब्दगत सामर्थ्य 2. अर्थगत सामर्थ्य। **शब्दगत सामर्थ्य** वहाँ होती है जहाँ

1. जै०सू०3/3/14

शब्द से ही विनियोग कल्पित होता है जैसे **'अग्नये जुष्टं निर्वपामि'** इस मंत्र की निर्वापाङ्गता है- यह शब्द सामर्थ्य से ही निर्धारित होता है। इसी प्रकार **बर्हिर्देवसदनं दामि'** (देवसदन के लिये कुशों को काटता हूँ) इस मंत्र की कुशोच्छेदन कर्म के प्रति अङ्ता है न कि उलपादि (तृणविशेष) की- यह बोध भी मन्त्र की शब्द सामर्थ्य से ही होता है। अतः लिङ्ग से भी विनियोग होता है। **अर्थगत सामर्थ्य** वह है जहाँ कार्य का प्रयोजन सामर्थ्य से विनियोग होता है। अर्थात् जिसकी जिस कार्य को करने में सामर्थ्य है वही उस कर्म के प्रति अङ्ग सिद्ध होता है। जैसे प्रथम अध्याय में सामर्थ्याधिकरण में **'स्रुवेणावद्यति', स्वधितिना अवद्यति, हस्तेनावद्यति'** इत्यादि वाक्य पठित हैं, वहीं पर **'उरु प्रथस्व उरुप्रथा** यह मन्त्र पठित है। यह मन्त्र हस्तावदान का अङ्ग है- यह बोध अर्थगत सामर्थ्य से ही होता है, क्योंकि पुरोडाश को हाथ से ही फैलाया जा सकता है उसके लिये स्रुवा या छुरी की आवश्यकता नही है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द की अर्थ को कहने की सामर्थ्य ही लिङ्ग है। जैसा कि वार्तिककार ने कहा भी है- **सामर्थ्यं सर्वभावानां लिङ्गमित्यभिधीयते**।

यह लिङ्ग श्रुति की अपेक्षा दुर्बल प्रमाण है और वाक्य, प्रकरणादि की अपेक्षा प्रबल है। क्योंकि श्रुति की कल्पना करके ही वह विनियोग कराने में समर्थ होता है जवकि वाक्य की अपेक्षा लिङ्ग प्रवल होता है। वस्तुतः वाक्य से जहाँ पहले लिङ्ग की कल्पना करने के अनन्तर श्रुति कल्पित की जाती हैं वहाँ लिङ्ग सीधे श्रुति की कल्पना करके वाक्य से पूर्व ही विनियोग करा देता है अर्थात् लिङ्ग की अपेक्षा वाक्य के दूरस्थ होने से वह लिङ्ग से वाधित हो जाता है। अतः लिङ्ग श्रुति से दुर्बल है; किन्तु वाक्यादि की अपेक्षा प्रबल होने से उनकी अपेक्षा शीघ्र अङ्गतावोध कराता है।

वाक्य—सहोच्चारण को 'वाक्य-प्रमाण' की संज्ञा दी गई है। यह सहोच्चारण या समभिव्याहार' वहाँ कार्य करता है जहाँ द्वितीया आदि विनियोक्त्री श्रुति का अभाव होने पर भी अङ्गाङ्गिबोधक पदों का एक साथ उच्चारण विनियोग कराता है जैसे—**'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं श्रृणोति'** इस वाक्य में पर्णता और जुहू के सहोच्चारण से ही यह वोध होता है कि पर्णता जुहू का अङ्ग है। यह वाक्य प्रमाण प्रकरणादि की अपेक्षा शीघ्र विनियोग कराने के कारण प्रकरणादि का बाधक है और श्रुति एवं लिङ्ग से दुर्वल होने से उससे बाधित होता है।

प्रकरण—दो वाक्यों की पारस्परिक आकाङ्क्षा ही प्रकरण प्रमाण है। जैसे—**समिधो यजति, तनूनपातं यजति** आदि वाक्यों से विहित प्रयाजादि कर्मों का विशेष फल निर्दिष्ट न होने से इन वाक्यों का अर्थवोध होने के पश्चात् यह आकाङ्क्षा होती है कि ये कर्म किसके उपकारक हैं। इसी प्रकार

'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' वाक्यों के श्रवण के अनन्तर यह आकाङ्क्षा होती है कि दर्शपूर्णमास याग कैसे सम्पादित हो; इस उभयाकांक्षा से ही सिद्ध होता है कि प्रयाजादिकर्म दर्शपूर्णमास कर्म के अङ्ग हैं और दर्शपूर्णमास अङ्गी। यह प्रकरण दो प्रकार का होता है- 1. महाप्रकरण 2. अवान्तर प्रकरण। उनमें मुख्य भावना से सम्बद्ध प्रकरण महाप्रकरण है। जैसे- प्रयाजादि की दर्शपूर्णमासाङ्गता एवं अङ्गभूत भावना से सम्बद्ध प्रकरण अवान्तर प्रकरण है। जैसे अभिक्रमणादि कर्मों की प्रयाजादि की अङ्गता। यह प्रकरण क्रिया का साक्षाद् विनियोजक है, जबकि द्रव्य और गुण का क्रिया द्वारा। यह प्रकरण प्रमाण स्थानादि प्रमाणों से प्रबल और श्रुत्यादि से दुर्बल है।

स्थान—समानदेशता ही स्थान है; किन्तु यह समानदेशत्व क्रम से सर्वथा भिन्न है। समानदेशता दो प्रकार की दृष्टिगत होती है- पाठसादेश्य और अनुष्ठान सादेश्य। पाठसादेश्य के भी दो भेद हैं 1. यथासंख्यपाठ 2. सन्निधिपाठ। यथासंख्यपाठ में जिस क्रम से वाक्य पठित होते हैं। उसी क्रम से उनका विनियोग भी होता है। जैसे काम्येष्टि प्रकरण में पठित **ऐन्द्राग्नम् एकादशकपालं निर्वपेत्, वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्'** इस विहित क्रम में **इन्द्राग्नी रोचना दिवः** आदि याज्यानुवाक्या मन्त्रों का पाठ के अनुसार प्रथम मन्त्र का प्रथम के साथ एवं द्वितीय का द्वितीय से विनियोग होता है।

समाख्या-यौगिक शब्द "समाख्या" कहे गये हैं। स्थान प्रमाण समाख्या से प्रबल होता है[1]। स्थान से विनियोग में पदार्थ और देशसामान्यरूप सम्बन्ध प्रत्यक्ष होता है जबकि समाख्या द्वारा विनियोग में यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष नही होता, क्योंकि पदार्थ के भिन्न देशीय होने के कारण समाख्या सम्बन्ध की वाचक नही होती। इस समाख्या के दो भेद हैं 1. वैदिकी समाख्या 2. लौकिकी समाख्या। ''वैदिकी समाख्या'' के उदाहरण **'होतुश्चमसः'** आदि हैं। ज्योतिष्टोम याग में चमस (काष्ठनिर्मित चतुष्कोणाकारपात्र) के द्वारा सोमरस का होम और पान किया जाता है। यहाँ होता चमसभक्षण का अङ्ग है यह बोध **'होतुश्चमसः'** इस वैदिकी समाख्या से होता है। **प्र तु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्र उदगातृणाम्** इस वैदिक वचन के अनुसार ब्रह्मा और उद्गाता के साथ होता चमससंज्ञक पात्र में सोमरस को पीता (भक्षण करता) है। ''लौकिकी समाख्या'' का उदाहरण है- **'आध्वर्यवम्'**- यहाँ अध्वर्यु सम्बन्धी कर्म ही आध्वर्यव है यह बोध "आध्वर्यवम्, इस लौकिक समाख्या से ज्ञात होता है। यह समाख्या दुर्बल प्रमाण होने से अन्य सभी प्रमाणों से बाधित होती है।

---

1. श्रुति लिङ्गवाक्य प्रकरण स्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् प्रकृतिवत्। जै०सं० 3/11

बाधिकैव श्रुतिर्नित्यं समाख्या बाध्यते सदा,
मध्यमानां तु बाध्यत्वं बाधकत्वमपेक्षया[1] ।

निष्कर्ष यह है कि श्रुत्यादि छह प्रमाणों की सहायता से विनियोग विधि के द्वारा समिदादि यागों से उपकृत हुए दर्शपूर्णमास याग के अनुष्ठान के द्वारा पुरुष अभीष्ट का सम्पादन करता है। विनियोग विधि से विनियुक्त अङ्ग दो प्रकार के होते हैं- 1. **सिद्धरूप-** सिद्धरूप अङ्ग क्रिया की भाँति साध्य न होने से जाति द्रव्य एवं संख्या आदि के बोधक होते हैं। 2. **साध्यरूप-** क्रिया या साध्य स्वरूप अङ्गों के भी दो भेद हैं—1. गुण कर्म 2. प्रधानकर्म। सिद्धरूप अङ्ग के भी दो भेद हैं 1. गुणकर्म 2. प्रधानकर्म। गुण कर्मों को **'सन्नि- पत्योपकारक'** एवं प्रधानकर्म को **'आरादुपकारक'** कर्मों की संज्ञा भी दी गई है। वस्तुतः कर्म के अङ्गभूत द्रव्यादि के उद्देश्य से विधीयमान कर्म सन्निपत्योपकारक कहे गये हैं- "यानि अङ्गानि साक्षात्परम्परया वा प्रधानयागशरीरं निष्पाद्य तद्द्वारा तदुत्पत्त्यपूर्वोपयोगीनि तानि 'सन्निपत्त्योपकारकाणि"[2]। ये दृष्ट और अदृष्ट और दोनों प्रयोजनों वाले होते हैं। जैसे- अवहनन और प्रोक्षणादि कर्मों में अवघातादि दृष्ट एवं प्रोक्षणादि अदृष्टार्थक हैं एवं पशुपुरोडाश दृष्टादृष्टार्थक है। जहाँ द्रव्यादि को उद्देश्य किये बिना ही कर्म का विधान हो वहाँ कर्म आरादुपकारक होता है "द्रव्याद्यनुद्दिश्य केवलं विधीयमानं कर्म आरादुपकारकम्।"[3] जैसे प्रयाजादि कर्म। वस्तुतः आरादुपकारक कर्म केवल परमापूर्व की उत्पत्ति में उपयोगी हैं; जबकि सन्निपत्त्योपकारक कर्म द्रव्यदेवता के संस्कार द्वारा यागस्वरूप की सिद्धि में उपयोगी होते हैं।

प्रयोगविधि—अनुष्ठान में शीघ्रता सम्पादित कराने वाली विधि **'प्रयोगविधि'** है। वस्तुतः अङ्गभूत वाक्यों के साथ महावाक्यता को प्राप्त प्रधानविधि ही प्रयोगविधि है। समस्त अङ्गों से विशिष्ट प्रधान याग के प्रयोग विधायक होने से इसे प्रयोगविधि कहा जाता है। यद्यपि अङ्गभूत वाक्यों के साथ एकवाक्यता प्राप्त प्रधानविधि साहित्य का विधान करती है, तथापि उन कर्मों की एककालानुष्ठेयता सम्भव न होने पर अविलम्ब से उनके अनुष्ठान का विधान करना प्रयोग विधि का कार्य है।[4] यह अविलम्ब नियतक्रम के आश्रित होता है, क्योंकि नियतक्रम का आश्रय न लेने पर किसके अनन्तर कौन सा कर्म

1. (क) तन्त्र० पृ० 866
(ख) विस्तृत विवरण के लिये द्र०- मीमांसा परिभाषा की आशुतोषिणी टीका पृ० 74-76
2. मी०परि० आशु० सहित पृ०- 79
3. अर्थ० पृ०117
4. "प्रधानविधिरेव अङ्गविधिभिरेकवाक्यतापन्नः सन् सर्वाङ्गविशिष्टप्रधान प्रयोगविधायकत्वात् प्रयोगविधिः इत्युच्यते' [मी०परि०पृ०22]

करें- ऐसा भ्रम बना रहेगा, अतएव अपने विधेयभूत कर्म के प्रयोग प्राशुभाव की सिद्धि के लिये प्रयोगविधि ही पदार्थ के विशेषण के रूप में नियत क्रम का भी विधान करती है। इसीलिये इसे अङ्गता की क्रमबोधक विधि कहा गया।

यह क्रम रूप विस्तारविशेष अथवा पौर्वापर्य छह प्रमाणों के आश्रित होता है[1]। वे छह प्रमाण इस प्रकार हैं 1. श्रुतिक्रम 2. अर्थक्रम 3. पाठक्रम 4. स्थानक्रम 5. मुख्यक्रम 6. प्रवृत्तिक्रम।

1. श्रुतिक्रम—क्रम का वाचक शव्द (वाक्य) ही श्रुति है। यह क्रम दो प्रकार का कहा गया है- 1. केवल क्रम परक श्रुति 2. क्रमविशिष्ट पदार्थ परक श्रुति। "वेदं कृत्वा वेदिं करोति' वाक्य शुद्ध क्रम का बोधक है। यहाँ वेद का तात्पर्य कुशमुष्टि से एवं वेदि का तात्पर्य यज्ञ सम्बन्धी पात्र रखने की संस्कृत भूमि से है, अर्थात् यहाँ यह बताया गया है कि वेद (कुशमुष्टि) निर्मित करने के अनन्तर वेदि निर्माण (भूमि का संस्कार) करे। **'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः'** आदि श्रुति क्रमविशिष्ट पदार्थ परक वाक्य हैं। याज्यामन्त्रों के प्रारम्भ में **"ये यजामहे"** और अन्त में **"वौषट्"** का उच्चारण किया जाता है। यज्ञ का होता नामक ऋत्विज् वौषट् का उच्चारण करता है। यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् **"यजमानपञ्चमा इडा भक्षयन्ति'** से ऋत्विजों का इडाभक्षणविहित है, किन्तु इनमें वषटकर्त्ता पहले इडाभक्षण करे' ऐसा बोध उक्त श्रुति से होता है। अतएव यह प्राथम्यरूप क्रमविशिष्ट पदार्थपरक श्रुतिवाक्य का उदाहरण हैं। यह श्रुतिक्रम आर्थादि इतर क्रमबोधक प्रमाणों का वाधक होने से बलवान् है, क्योंकि अन्य क्रम श्रुतिवचन की कल्पना द्वारा प्रमाण बनते हैं।

2. अर्थक्रम—जहाँ प्रयोजनवशात् अर्थ का निर्णय किया जाता है उसे "आर्थक्रम" कहते हैं जैसे —अग्निहोत्रहोम में "होम और यवागूपाक में से पहले किसका अनुष्ठान करें" ऐसी शङ्का होने पर अर्थक्रम से निर्णय लिया जाता है। क्योंकि यवागूपाक होम के लिये ही होता है, अतः पाठक्रम में बाद में स्थित होने पर भी वह पहले अनुष्ठित होता है; ऐसा बोध अर्थक्रम से होता है। अर्थक्रम पाठक्रम से बलवान् होता है। वस्तुतः यहाँ यदि होम के पश्चात् यवागू पाक (जौ का हलवा) किया जाय; तो व्यर्थ होगा।

3. पाठक्रम—अनुष्ठेय पदार्थों का बोध कराने वाले वाक्यों का क्रम 'पाठक्रम' है। तात्पर्य यह है कि जिस क्रम से वाक्यों का पाठ हुआ हो उसी क्रम से पदार्थ का ज्ञान व स्मरण करके अनुष्ठान करना चाहिए। यह पाठक्रम भी दो प्रकार का होता है—1. मन्त्रपाठक्रम 2. ब्राह्मणपाठक्रम। जैसे- दर्शपूर्णमास के पूर्णमासयाग में विहित आग्नेयादि में से मन्त्र में पहले आग्नेय याग के

1. विस्तृत विवरण के लिये द्र०मी०परि०की आशु० पृ० 221-232

याज्या-अनुवाक्या मन्त्रों का पाठ है। तदनन्तर अग्नीषोमीय याग के याज्या-अनुवाक्या मन्त्रों का पाठ है जबकि ब्राह्मण पाठ में पहले अग्नीषोमीय याग के याज्यानुवाक्या का तत्पश्चात् आग्नेय याग के मन्त्रों का। मन्त्र और ब्राह्मणपाठ में से मन्त्रक्रम के बलवान् होने से मन्त्रक्रम के अनुसार ही अनुष्ठान प्राप्त होता है। मन्त्रपाठ के अन्तरङ्ग और ब्राह्मण पाठ के बहिरङ्ग होने से सभी कर्मों का अनुष्ठान मन्त्रक्रम के अनुसार ही मान्य है। यह क्रम स्थानादि की अपेक्षा बलवान् है।

4. **स्थानक्रम**—यहाँ स्थान का तात्पर्य "पदार्थ की उपस्थिति" से है; न कि देशसामान्य से। वस्तुतः विकृतियाग के जिस देश में जिस अङ्ग का अनुष्ठान विहित है उसके पूर्ववर्ती अङ्ग का अनुष्ठान होने पर वही अङ्ग पहले उपस्थित होगा, अतः उसी का पहले अनुष्ठान युक्त है। जैसे- ज्योतिष्टोम के विकृतिभूत साद्यस्क्र याग में एक ही दिन में सभी अङ्गों का अनुष्ठान होता है। विकृति होने से अतिदेश द्वारा प्राप्त अग्नीषोमीय पशु सवनीयपशु और आनुबन्ध्यपशु तीनों का सहानुष्ठान सवनीयदेश मं प्राप्त होने से पहले सवनीय पशु का अनुष्ठान और तत्पश्चात् शेष दो पशुयाग अनुष्ठित होते हैं। **'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति'** इस वाक्य से आश्विन ग्रहण के पश्चात् सवनीययाग विहित है। यहाँ स्थान क्रम से साद्यस्क्र में भी आश्विनग्रहण के पश्चात् सवनीय ही उपस्थित होता है; अतएव उसी का अनुष्ठान पहले और आग्नेयादि का बाद में होता है और तदनन्तर आनुबन्ध्य याग का अनुष्ठान होता है।

5. **मुख्य क्रम**—जहाँ प्रधान के क्रम से अङ्गों का क्रम निश्चित होता है वही मुख्य क्रम है। तात्पर्य यह है कि जिस क्रम से प्रधान कर्म अनुष्ठित होते हैं, उसी क्रम से उनके अङ्गभूत कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। अन्यथा किसी प्रधान कर्म और अङ्गकर्म में अत्यन्त समीपता होगी और किसी में अत्यन्त व्यवधान होगा। जिससे प्रयोगविधि का साहित्य ही बाधित हो जायेगा। इस मुख्य क्रम का अनुसरण करके **'प्रयाजशेषेण हवींषि अभिघारयति'** वाक्य से विहित अभिघारण कर्म में पहले आग्नेय हविष् तत्पश्चात् ऐन्द्रदधिपय का अभिघारण सम्पन्न होता है। जिससे आग्नेय हविरभिघारण और याग के मध्य केवल ऐन्द्रदधिपय के अभिघारण का व्यवधान होगा। इसी प्रकार ऐन्द्रहविरभिघारण और याग के मध्य केवल आग्नेय याग का व्यवधान होगा। जिससे दोनों में समानरूप से केवल एक का व्यवधान ही होगा। मन्त्र के द्वारा यागों का क्रम निश्चित होने से विपरीत क्रम में अभिघारण करना अयुक्त है। अतः प्रधान के क्रम से अङ्गों के क्रम का अनुष्ठान मुख्यक्रम से ही होता है।

यह मुख्य क्रम पाठक्रम से दुर्बल और प्रवृत्तिक्रम से प्रबल होता है।[1]

6. प्रवृत्तिक्रम—एक साथ अनुष्ठित होने वाले प्रधानयागों में सन्निपत्योपकारक अङ्गों की आवृत्ति का अनुष्ठान होने पर प्रथम अङ्ग को जिस किसी प्रधानकर्म से प्रारम्भ करके सभी प्रधानों में उस अङ्ग का अनुष्ठान हो जाने पर द्वितीय अङ्ग का भी उसी प्रधान से अनुष्ठान शुरु करना चाहिए। यही "प्रवृत्ति क्रम" है। जैसे—वाजपेययाग में **सह पशूनालभेत** वाक्य से प्रजापति देवताक सत्रह पशुद्रव्य वाले याग विहित हैं। इन पशुओं का उपाकरण नियोजन एवं पर्यग्निकरणादि सन्निपत्योपकारक अङ्ग भी विहित है जिसे सभी पशुओं में करना अभीष्ट है। यहाँ एक के उपाकरण के पश्चात् दूसरे का उपाकरण विहित है इसी प्रकार नियोजनादि अङ्गभूत कर्म भी विहित हैं। यहाँ प्रारम्भ में जिस किसी भी पशु से एक अङ्ग का अनुष्ठान करने के पश्चात् सभी में करना चाहिए और उसी क्रम से पर्यग्निकरणादि कर्म भी करना चाहिए; यही प्रवृत्ति क्रम है। यह प्रवृत्ति क्रम श्रुत्यादि क्रमों की अपेक्षा दुर्बल है। अतः उनके द्वारा प्रयोग प्राशुभाव अनुष्ठित न होने पर ही प्रवृत्तिक्रम चरितार्थ होता है।

निष्कर्ष यह है कि प्रयोग विधि का व्यापार इन्हीं श्रुत्यादिक्रमों पर आश्रित होता है। क्रम से ही पदार्थ अनुष्ठित होते हैं।

4. अधिकारविधि—स्वर्गादि फलों की स्वामिता का बोध कराने वाली विधि अधिकार विधि है। यहाँ फलस्वामिता का तात्पर्य कर्मजन्य फलभोक्तृत्व से है। जैसे- '**स्वर्गकामो यजेत**' वाक्य में स्वर्ग को उद्देश्य करके यागविधान प्राप्त होने से स्वर्गकामी पुरुष की यागजन्य फलभोक्तृता कही गयी है। वस्तुतः अधिकारी के विशेषण से विशिष्ट पुरुष का ही फलस्वामित्व है। अतः "**राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत**' अर्थात् स्वाराज्य की कामना वाला राजा राजसूय याग करे- इस वाक्य से क्षत्रिय राजा ही राजसूय याग का अधिकारी होता है, ब्राह्मणादि अन्य अधिकारी नहीं होते। वस्तुतः काम्यकर्म में स्वर्गादिफल की कामना नैमित्तिक कर्म में अग्निदाहादिरूप निमित्त का निश्चय एवं नित्य कर्मों में पवित्रतापूर्वक जीवनयापन आदि भी अधिकारी के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न क्रियाओं के अनुष्ठान की सामर्थ्य भी '**आख्यातानामर्थं ब्रुवता शक्तिः सहकारिणी**' न्याय से भिन्न-भिन्न कालों में अनुष्ठेय कर्म हेतु पुरुष का विशेषण होती है, क्योंकि उनके अनुष्ठान में समर्थ होने पर ही पुरुष का स्वामित्व संभव है; असमर्थ होने पर नहीं।

निष्कर्ष यह है कि इन चारों विधियों से ज्ञात होने वाले अर्थों में अज्ञातार्थज्ञापन होने से इनकी अपूर्वता सिद्ध होती है।

1. "स चायं मुख्यक्रमः प्रवृत्तिक्रमाद् बलवान्। प्रवृत्तिक्रमे हि आश्रीयमाणे बहूनामङ्गानां प्रधानविप्रकर्षो भवति, अस्मिंस्तु आश्रीयमाणे सन्निकर्षः।" [मी०न्याय०पृ०176]

विधि का अर्थ

विधि रूप शब्द से प्रतिपादित यह विधि प्रेरणा रूप होती है। **भाट्टमीमांसकों** ने इसे विधि, प्रेरणा, प्रवर्तना आदि शब्दों से अभिधेय पुरुषप्रवृत्त्यनुकूल व्यापार कहा है।

'गामानय' इस आचार्य वाक्य के श्रवण के पश्चात् शिष्य की गाय लाने में प्रवृत्ति बालक देखता है। वहाँ शब्द श्रवण के पश्चात् होने वाली प्रवृत्ति में प्रवर्तनाज्ञान हेतु है। यह प्रवर्तना **'ओदन कामः पचेत्'** आदि लौकिक वाक्य में प्रयोजक पुरुषनिष्ठ अभिप्राय-विशेष है। **'स्वर्गकामो यजेत''** आदि वैदिक वाक्यों में पुरुष का अभाव होने से प्रवर्तना शब्दनिष्ठ होती है। शब्दनिष्ठ होने के कारण ही वह शब्दभावना कही जाती है; यही विध्यर्थ है। वस्तुतः यह शब्दभावना 'स्वर्गकामो यजेत' के 'त' प्रत्यय के लिङ्त्वांश द्वारा अभिहित होती है। आर्थीभावना पुरुष की प्रवृत्ति आदि व्यापार रूप वाली होती है। वह प्रत्यय के आख्यातांश द्वारा उक्त होती है। तात्पर्य यह है कि मीमांसक लिङादि प्रत्यय में दो अंश कल्पित करते हैं—1. लिङ्त्व और आख्यातत्व। इनमें लिङत्वांश से शब्दनिष्ठ प्रवर्तनारूप व्यापार ज्ञात होता है; जो मीमांसक-सरणि में 'शब्दभावना' की संज्ञा से अभिहित होता है। इस प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार के द्वारा यागादिकर्त्ता पुरुषनिष्ठ प्रवृत्ति नामक व्यापार सम्पादित होता है; जो आख्यातांश से ज्ञात होता है। इस पुरुष प्रवृत्ति रूप व्यापार को ही मीमांसकों ने ''आर्थीभावना' कहा है। इस प्रकार पुरुषनिष्ठ प्रवृत्ति व्यापार के अनुकूल प्रवर्तनासंज्ञक शब्दनिष्ठ व्यापार ही भाट्टमीमांसकों के अनुसार विध्यर्थ है।

प्राभाकर मीमांसक कार्यतामात्र को विध्यर्थ मानते हैं। यह कार्यता कृतिसाध्यता स्वरूप वाली है। उनके अनुसार यद्विषयिका बुद्धि प्रवृत्ति की कारणभूता इच्छा को उत्पन्न करती है, वही विधिप्रत्यय का प्रतिपाद्य है। प्रवृत्त्योत्पादक इच्छा कृतिसाध्यत्व विशेषण वाली होती है जिसका तात्पर्य यह है कि कृतिसाध्यत्व प्रकारिका बुद्धि ही प्रवृत्ति की उत्पादिका इच्छा है। प्रभाकर के अनुसार "इष्टसाधनता" भी विध्यर्थ ही है। इसीलिये वे 'संध्यामुपासीत', 'न कलञ्जं भक्षयेत्' आदि विधि-निषेधों के द्वारा नित्यापूर्व, निषेधापूर्व आदि की भी कल्पना करते हैं। प्रभाकर अन्यथाख्याति को नहीं स्वीकार करते।

तात्पर्य यह है कि कृतिसाध्य कार्यता ही विध्यर्थ है और उस कृति से साध्य कार्यता का ज्ञान प्रवर्तक है। प्रभाकर के अनुसार कार्यत्व विशिष्ट अपूर्व के विध्यर्थ होने से विशेषणभूत कार्यता विधि का अर्थ है और चिकीर्षाजन्य

कृतिसाध्यता कार्यता है। अतएव कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान से कृतिसाध्यता प्रकारिका इच्छा उत्पन्न होती है और इस इच्छा के द्वारा पुरुष में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इस कार्य को उन्होंने नियोग की संज्ञा दी। विधि रूप कार्य या नियोग ही नियोज्य पुरुष में कृतिसाध्यताप्रकारिका इच्छा से उत्पन्न प्रवृत्ति का उत्पादक होने से विध्यर्थ है। मीमांसक सम्मत विध्यर्थ का प्रतिपादन इस श्लोक से भी होता है-

''लिङनेऽभिधा सैव च शब्दभावना भाव्या च तस्या पुरुषप्रवृत्तिः,
लिङादिज्ञानं करणन्तदीयं प्ररोचना चाङ्गतयोपयुज्यते।''

★★★★★

प्रथम अध्याय

अर्थवादवाक्य

अर्थवादवाक्य का स्वरूप और उपयोगिता

विधिवाक्यों के अनन्तर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वाक्य अर्थवाद के सम्बन्ध में उपवर्ष तथा जैमिनि से लेकर शबरस्वामी, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र, शालिकनाथ तथा पार्थसारथि मिश्र प्रभृति मीमांसकों ने जो विस्तृत विचार प्रस्तुत किये हैं, उसका प्रमुख कारण यह है कि श्रुति-प्रामाण्यसङ्गत होने पर भी अर्थवाद के वास्तविक स्वरूप की अस्पष्टता के कारण इसके सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गयी थीं। किसी व्यक्ति अथवा वस्तु की प्रशंसा या निन्दा करने वाले वाक्य "अर्थवाद" हैं। मीमांसादर्शन में विधेय याग अथवा द्रव्यादि की या याग आदि से सम्बद्ध वस्तु की निन्दा अथवा प्रशंसा करने वाले वेद-वाक्य **"अर्थवाद"** कहे जाते हैं। इन अर्थवाद वाक्यों का अपने आप में कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु विधेय की प्रशंसा या निन्दा के द्वारा यागादि के प्रति अनुष्ठाता पुरुष में प्रवृत्तिबुद्धि अथवा निवृत्तिबुद्धि उत्पन्न करके ही ये प्रयोजनवान् होते हैं। यागादि क्रियाओं में पुरुषप्रवर्तन या निवर्तन रूप कार्य के द्वारा ये विधि के उपकारक होते हैं और विधि के विधेय पदार्थों की स्तुति अथवा निन्दा करने के कारण अर्थवाद वाक्य विधिवाक्यों के अङ्ग है। **"न कलञ्जं भक्षयेत्"** आदि निषेध स्थलों में जहाँ ये पुरुष में निवृत्तिबुद्धि उत्पन्न करके अनुष्ठाता का उपकार करते हैं, वहाँ भी ये विधि के अङ्ग ही सिद्ध होते हैं। **"वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता"**, आदि प्रशंसावाक्यों से वायव्ययागादि की स्तुति करके अनुष्ठाता पुरुष का उपकार करने के कारण विधि के ही अङ्ग सिद्ध होते हैं, क्योंकि ऐसे स्थलों पर अर्थवाद पुरुष प्रवर्तन में सहायक होते हैं। इस प्रकार विधि अथवा निषेध वाक्यों के अङ्ग होने के कारण अर्थवादों का विधि से पृथक् स्वतंत्र रूप से कोई प्रयोजन नहीं है।

2. अर्थवाद का प्रामाण्य

प्रश्न यह उठता है कि वे कौन से हेतु हैं, जिनके द्वारा अर्थवादों के प्रामाण्य एवं नित्यत्व पर आक्षेप किया गया है। जैमिनि प्रभृति आचार्यों ने पूर्वपक्ष के रूप में उनका विवरण दिया है, आक्षेप को दृष्टिगत किये बिना उनका उचित समाधान नहीं हो सकता।[1] वे आक्षेप अग्रलिखित हैं—

1. "विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
सिद्धार्थो तेन सम्बन्धः श्रोतुः वक्ता प्रचक्षते।"

पूर्वपक्ष—

1. अर्थवाद निष्प्रयोजन हैं, क्योंकि वे विधिवाक्यों की भाँति किसी यागादि क्रिया का प्रतिपादन नहीं करते।[1] यहाँ क्रियार्थता का तात्पर्य है- यागादि कर्मों या तत्सम्बद्ध किसी द्रव्यादि का कर्तव्यरूप से प्रतिपादन'। यथा— **''सोऽरोदीत्'', ''प्रजापतिरात्मनो वपाम् उदखिदत्''** इत्यादि अर्थवाद- वाक्य किसी क्रिया या क्रियासम्बद्ध वस्तु का ज्ञान नहीं कराते। अतः विधि की भाँति इनका धर्म में प्रामाण्य नहीं है।

2. अध्याहार, विपरिणाम, व्यवहितकल्पना, व्यवधारणकल्पना अथवा गुणकल्पना[2] आदि साधनों से अर्थवाद वाक्यों की विध्यर्थता (कर्तव्यरूपता) कल्पित करना उचित नहीं है, क्योंकि कल्पित होने के कारण वे अनित्य होंगे। अनित्य दोषग्रस्त होकर वे नित्य अर्थों का प्रतिपादन नहीं कर सकेंगे। इसके साथ ही विधि कल्पित करने पर ये वाक्य वाक्यभेद दोष से ग्रस्त हो जायेंगे। अतः लक्षणावृत्ति से क्रियार्थता कल्पित करने पर भी व्यवस्थापक हेतु के अभाव में वे धर्म का निश्चय नहीं करा सकेंगे।

3. सिद्धार्थ का प्रतिपादन करने के कारण अर्थवाद निराकाङ्क्ष हैं,[3] इसलिये भी वे व्यर्थ हैं। अर्थवादों को साकांक्ष मानने में एक दोष यह भी है कि यदि विधि को अर्थवादापेक्षी मानते हैं तो **'यस्य खादिरः स्रुवो भवति सच्छन्दसामेव रसेनावद्यति''**[4] इत्यादि स्तुतिनिरपेक्ष विधियाँ अपने प्रयोजन को सिद्ध करने में असमर्थ हो जाएँगी। अतः विधि निराकाङ्क्ष रूप से विधायक हैं और अर्थवाद मात्र प्रमादपाठ हैं।

4. अर्थवादों की सप्रयोजनता **''स्वाध्यायोऽध्येतव्यः''**[5] इस अध्ययन विधि से नहीं सिद्ध होती; न ही यह अपूर्व के साधन हैं। अध्ययनविधि तो स्वर्गार्थ या पापक्षयार्थ अथवा यथाश्रुतार्थ ज्ञान रूप प्रयोजन का विधान करती है; जबकि अर्थवादों का पृथक् रूप से कोई प्रयोजन विवक्षित नहीं है।

5. विधि और निषेधवाक्यों के साथ एकवाक्यता होने से प्राशस्त्य या अप्राशस्त्य रूप लक्षण द्वारा भी अर्थवाद धर्म में प्रमाण नहीं है, क्योंकि विधि

---

1. ''आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्'' (जै० सूत्र 1/1/21)
2. ''अध्याहारो श्रुताक्षेपो व्यत्यासो व्यवधिः पदैः,
मतो विपरिणामोऽसौ प्रकृतिप्रत्ययान्यथा,
वाक्यान्यथाकरणत्वं व्यवधारणकल्पना। ''इति प्राचाम्''
3. ''अर्थवादा निराकाङ्क्षा भूतार्थ-प्रतिपादनात्''
विध्युद्देशाः समाप्यन्ते विशिष्टार्थविधानतः।'' (शा०दी० अर्थवादाधिकरण)
4. तै० सं० 3/5/7
5. तै०आ० 2/15/7, शत० ब्रा०11/5/6/3

या निषेधवाक्यों के साथ इनकी भिन्नवाक्यता ही प्रतीत होती है, न कि एकवाक्यता। इसलिये अर्थवादपद व्यर्थ हैं और वाक्य का एक भाग निष्प्रयोजन होने से सम्पूर्ण वेदवाक्य निष्प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

6. अर्थवाद इसलिये भी निष्प्रयोजन हैं, क्योंकि विधिभाग से ही प्रवर्तना सिद्ध हो जाने के कारण स्तुतिवचन निरर्थक हो जाते हैं।

7. **"स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाक्"**[1] आदि अर्थवादों में शास्त्रदृष्ट विरोध, **"तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे"** इत्यादि में प्रत्यक्ष का विरोध तथा **"न चैतद्विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मः अब्राह्मणा वा"**[2] आदि वाक्यों में शास्त्रदृष्ट पदार्थ का विरोध लक्षित होने से भी अर्थवादवाक्य निरर्थक है।[3] किञ्च **"कोहि तद्वेद यद्यमुष्मिन् लोकेऽस्ति न वा"**[4] आदि अर्थवाद वाक्य तो "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" आदि शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित स्वर्ग सद्भाव का ही अपलाप करने के कारण स्वार्थ में भी प्रमाण नहीं है।

8. गर्गत्रिरात्र ब्राह्मण में जो यह अर्थवाद सुना जाता है कि **शोभतेऽस्य मुखम् य एवं वेद"**[5] यह यदि भूतार्थकथन है तो व्यर्थ है, और यदि फल का अनुवाद है तब भी असत् है, क्योंकि वेदानुमन्त्रण काल में अध्येता के मुख पर परिश्रम के कारण शोभा नहीं, अपितु क्लान्ति दिखायी देती है। कोई प्रमाण न होने के कारण इसे कालान्तर फलभावी भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यहाँ फल विधि के असिद्ध होने के कारण ये वाक्य निरर्थक सिद्ध होते हैं।[6]

9. अर्थवादवाक्य इसलिये भी निरर्थक हैं, क्योंकि **"पूर्णाहुत्या सर्वान्कामानाप्नोति, "पशुबन्धयाजी सर्वाल्लोकानभिजयति," तरति मृत्युं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते, य उ चैनमेवं वेद"** ये वचन फलवचन या भूतार्थानुवाद दोनों ही दृष्टियों से निरर्थक हैं, क्योंकि पूर्णाहुति कर्म किये बिना अग्निहोत्रादि कर्म सम्पादित नहीं किये जा सकते।[7] इसी प्रकार अग्नीषोमीय पशुयाग किये बिना पुरुष सोमयाग के लिये अधिकृत नहीं होता, क्योंकि **प्रथमं वा नियम्य** इस नियम से बिना फल प्राप्त किये इतरकर्म का अनुष्ठान अपूर्वसाधन नहीं बनता। इसी प्रकार अश्वमेध यज्ञ की विधि का अध्ययन किये बिना याग का अनुष्ठान संभव नहीं। जिस प्रकार मध्वर्थी को यदि मार्ग के मन्दार वृक्ष में ही मधु प्राप्त हो जाय तो वह पर्वत पर क्यों जाएगा[8] अर्थात् यदि अल्प प्रयास से ही

1. मै० सं०-4/5/2
2. तै० ब्रा०-2/1/2
3. द्र०-जै०सू० 1/2/2
4. तै०सं०-6/1/13
5. ता० ब्रा०-20/16/6, तै०ब्रा०-3/8/10
6. "द्रव्यसंस्कारकर्मसु फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्"। (जै०सू०4/3/1)
7. "तथा फलाभावात्" जै०सू० 1/2/3
8. "अर्के चेन्मधुविन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्"

इष्टप्राप्ति हो तो अधिक समय एवं श्रम के द्वारा साध्य अग्निहोत्र, अश्वमेधादि यज्ञों को कौन करना चाहेगा। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध अर्थ को कहने के कारण ये प्रमादपठित वाक्य हैं, प्रामाणिक नही है।

10. अर्थवादवाक्य इसलिये भी धर्म में प्रमाण नहीं हैं क्योंकि इनमें ऐसे अर्थों का प्रतिषेध किया गया है जो प्राप्त ही नहीं है। जैसे—"**न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि**"[1] इस वाक्य में प्रतिषेध के अविषय अन्तरिक्ष में अग्निचयन का निषेध किया गया है, जो निरर्थक है।[2] जबकि द्युलोक में एवं अन्तरिक्ष में अग्निचयन की असम्भवता सार्वजनिक प्रत्यक्ष का विषय है। पर्युदास योग्य अन्य अर्थ का अभाव होने से यहाँ पर्युदास का भी आश्रय नहीं लिया जा सकता है और यदि यहाँ बाध मानेंगे तो विधि ही निरर्थक हो जाएगी, क्योंकि पृथ्वी पर अग्निचयन नित्य प्राप्त है। अतः उसका प्रतिषेध करने पर यह वाक्य स्वयं व्यर्थ हो जायेगा। ऐसी दशा में विध्यन्तर[3] को बाधित करने वाले अर्थवाद धर्म में भला कैसे प्रमाण होंगे।

11. "बबरः प्रावाहणिरकामयत"[4] "कुसुरुविन्द औद्दालकिरकामयत"[5] आदि अर्थवादवाक्यों में बबर, प्रावाहणि आदि अनित्य विषयों का संयोग प्रतिपादित होने से भी अर्थवाद धर्म में प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि इन वाक्यों को यदि वेद में संगृहीत किया जाएगा तो सम्पूर्ण वेद आदिमत्ता दोष से ग्रस्त हो जाएंगे और पौरुषेय होने से वेदवाक्य अनित्य होंगे।[6] अतः यह सिद्ध होता है ये वाक्य धर्म में प्रमाण नहीं हैं।

अर्थवादों के साथ विधि की एकवाक्यता मानकर अर्थवादों का प्रामाण्य सिद्ध करने में एक दोष यह भी है कि ऐसी दशा में विधि के साथ सभी वाक्यों की एकवाक्यता सिद्ध होगी और सभी वाक्य प्रामाणिक मानने पड़ेंगे।

सिद्धान्त—

पूर्वपक्षी के उपरोक्त कथन का खण्डन मीमांसकाचार्यों ने इस प्रकार किया है—

1. क्रियाप्रतिपादन न करने पर भी अर्थवाद निष्प्रयोजन नहीं है—

यद्यपि "सोऽरोदीत्" आदि अर्थवाद-वाक्य किसी यागादि क्रिया का

इष्टार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्।"

1. तै०सं०- 5/2/7 (शा०भा०पृ० 41 से उद्धृत)
2. "अभागिप्रतिषेधाच्च" (जै०सू०1/2/5)
3. "हिरण्यं निधाय चेतव्यम्" (अनुपलब्धमूल)
4. तै० सं०- 7/1/10/4
5. तै०सं०- 6/2/2/1
6. जै०सू०1/2/6

प्रतिपादन नहीं करते, किन्तु यागादि क्रिया की अप्रतिपादकता के आधार पर उनकी निष्प्रयोजनता मान लेना उचित नहीं है। अर्थवादवाक्य तो विधि के स्तावक अर्थात् प्रशंसा या निन्दा करने वाले वाक्य हैं और इसी कारण वे विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता प्राप्त करते हैं[1] अतः वे निष्प्रयोजन नहीं हैं। अर्थवादवाक्यों का कार्य विधेय याग या तत्सम्बद्ध द्रव्य-देवता आदि की स्तुति करके पुरुष को उनमें प्रवृत्त कराना है। यद्यपि इष्ट प्राप्ति के साधन होने के कारण यागादि पुरुष के कर्तव्य हैं, तथापि उनका अनुष्ठान दुर्गम होने से पुरुष यागादि के अनुष्ठान में सरलता से नहीं प्रवृत्त होता। ऐसी स्थिति में अर्थवाद वाक्यों द्वारा प्रशंसा करने से पुरुष में यागादि अनुष्ठान के प्रति रुचि उत्पन्न होती है, और रुचि उत्पन्न होने से उसमें तत्सम्बद्ध प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। अतः अर्थवादवाक्य विधिवाक्यों के उपकारक होने के कारण व्यर्थ नहीं है, अपितु उनके पूरक होने से विधिवाक्यों के अङ्ग सिद्ध होते हैं। जैसाकि शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र ने कहा है—

"स्वाध्यायाध्ययनविधिना वेदः पुरुषार्थाय नीयते
सर्वस्तेनार्थवादानां प्राशस्त्येन प्रमाणता।"[2]

वासुदेव दीक्षित के अनुसार अर्थवाद विधि के एकदेश (अङ्ग) हैं, और यह एकदेशता विधि के साथ स्तुति रूप साधन से एकवाक्यता होने के कारण है।[3] इस प्रकार विधि के स्तुतिरूप प्रयोजन को सिद्ध करने के कारण अर्थवाद सप्रयोजन हैं।

यहाँ पर यह कहना तर्कसंगत नहीं है, कि ऐसे अर्थवाद जो स्तुति करने वाले नहीं हैं; प्रत्युत निषेधक हैं, उनकी विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता संभव नहीं है। क्योंकि निन्दा करने वाले अर्थवाद वाक्य नञ् आदि पदों से युक्त निषेधवाक्यों के अङ्ग हैं और अपने निन्दा कार्य के द्वारा वे पुरुष में निषेध्य पदार्थ के प्रति अरुचि उत्पन्न करके उसमें निवृत्ति बुद्धि उत्पन्न करते हैं अतः निवृत्ति प्रयोजन होने से निषेध व्यर्थ नहीं हैं। इस प्रकार अर्थवाद वाक्य विधि एवं प्रतिषेध वाक्यों के अङ्ग होकर स्तुति एवं निन्दा कार्य के द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति निर्णय के हेतु बनते हैं। जिन कतिपय स्थलों में निन्दावाक्यों का निवर्तन रूप प्रयोजन नहीं है, वहाँ पर वे **"नहिनिन्दान्याय"** से स्तुति प्रयोजन वाले हैं।[4] इसलिये स्तुति रूप अर्थवाद **"विधिशेष"** एवं

1. "विधिना तु एकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" (जै०सू०1/2/7)
2. द्र०-शा०दी०पृ०8
3. "अर्थवादाविध्येकदेशा ----------------------
तेन संभूय विशिष्टैकार्थप्रतिपत्तिजनकत्वादित्यर्थः।' (कु०वृ० पृ०-21)
4. "न हि स्तुतिनिन्दे नाम व्यवस्थिते— ---यथा वक्ष्यति न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु विधेयं स्तोतुमिति।" (तन्त्र० पृ०15-6)

निन्दारूपार्थवाद "**निषेधशेष**" कहे जाते हैं। नव्य मीमांसक "खण्डदेव" के अनुसार स्तुति एवं निन्दा ज्ञान पुरुष में यागादि अनुष्ठान के प्रति रुचि या द्वेष उत्पन्न करते हैं। इसी कारण वे विधि के प्रवर्तना अथवा निर्वतना रूप प्रयोजन को सिद्ध करने में सहायक हैं।[1]

2. "प्रजापतिरात्मनो" आदि अर्थवादवाक्यों में अध्याहारादि के द्वारा विधि कल्पित करना उचित नही है— "**प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्**"[2] "**वायुर्वै क्षेपिष्ठादेवता,**[3] "**सोऽरोदीत्**"[4] आदि वाक्यों में अध्याहारादि साधनों से विधि कल्पित करके इन्हें अनित्य सिद्ध करना भी उचित नहीं है, क्योंकि कल्पना तो वहाँ की जाती है जहाँ किसी अन्य मार्ग से प्रयोजन न सिद्ध हो जबकि अर्थवादवाक्यों की लक्षणा द्वारा स्तावकता होने के कारण विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता सिद्ध है। ऐसी दशा में वे अक्रियार्थक कहाँ हुए, जिससे उनकी क्रियारूपता कल्पित करनी पड़े। अतः अर्थवादवाक्य भी विधिवाक्यों की भाँति ही अपौरुषेय है, और विधि के अङ्ग रूप में उनका धर्म में प्रामाण्य है अप्रामाण्य नहीं।

3. अर्थवाद विधि के प्रवर्तन कार्य में सहायता करते हैं- वेद के विधि भाग से ही प्रवर्तना सिद्ध हो जाने पर भी अर्थवादवाक्यों को निरर्थक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यद्यपि विधिप्रत्यय लिङादि से ही कर्तव्य का प्रतिपादन हो जाता है, तथापि वे पुरुष प्रवर्तन के लिये फल की उत्कृष्टता रूप कथन के हेतु अर्थवाद की अपेक्षा रखते हैं। वस्तुतः पुरुष को जब तक यह ज्ञान नहीं होता कि यह कर्म प्रशस्त होने से करने योग्य है, तब तक वह उन यागादि कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता। इस प्रकार विधि की प्रवर्तन शक्ति के शिथिल हो जाने पर अर्थवादवाक्य द्वारा प्रतिपादित प्राशस्त्य ज्ञान उसे पुनः उत्तेजित करता है। अतः अनुष्ठान में अप्रवृत्त पुरुष को प्रवृत्त करने के कारण विधि स्वयं ही अर्थवाद द्वारा प्राशस्त्य प्रतिपादन की अपेक्षा रखती है। इसीलिये विधि प्रत्यय के शाब्दीभावना भेद के इतिकर्तव्यतांश के रूप में अर्थवाद का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि अर्थवादों का अपना पृथक् प्रयोजन न होने से यद्यपि वे साक्षात् श्रुति द्वारा धर्म में प्रमाण नहीं हैं, तथापि लक्षणा से विधिवाक्यों के प्राशस्त्य वर्णन रूप सामर्थ्य के कारण परम्परया धर्मरूपी प्रमिति को उत्पन्न करते हैं। इस सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रंथ तन्त्रवार्तिक में विस्तार से लिखा है।[5]

1. द्र०-भाट्टदीपिका प्रभावली सहिता—पृ०-23
2. तै०सं०2/1/1
3. तै०सं० 2/1/1/1
4. तै०सं०1/5/1
5. द्र० तन्त्रवार्तिक पृ०14-15

4. अर्थवाद वाक्य निराकाङ्क्ष नहीं है—अर्थवाद वाक्यों को निराकाङ्क्ष कह कर उन पर व्यर्थता आरोपित करना भी उचित नहीं है, क्योंकि वे निराकाङ्क्ष न होकर साकाङ्क्ष हैं। यह साकाङ्क्षता परस्पर विधि एवं अर्थवाद वाक्य की है। यद्यपि कहीं-कहीं अर्थवादरहित विधि भी प्राप्त होती है[1] जैसे— **"वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत"** आदि स्थलों में। वहाँ भले ही विधि से प्रवर्तना सिद्ध हो, किन्तु अन्य जिन स्थलों पर अर्थवाद वाक्य विधि के समीप पठित हैं वहाँ उनका अपलाप करना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर स्तुतिपद व्यर्थ हो जायेंगे। जैसे **"वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः"** आदि विधि वाक्यों के समीप **"वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता स एव एनं भूतिं गमयति"** आदि स्तुतिपद प्राप्त होते हैं। अतः ऐसे स्थलों पर विधिवाक्यों के साथ उनका अन्वय मानना चाहिए।[2] क्योंकि विधि यद्यपि स्वतंत्र रूप से पुरुष प्रवर्तन में समर्थ हैं, तथापि अर्थवादगत पदों का अङ्गी होने पर पुरुष प्रवर्तन भली प्रकार से कर सकती है।

अर्थवाद वस्तुतः यागादि की स्तुति करते हुए अनुष्ठाता पुरुष में उसके प्रति रुचि उत्पन्न करने के कारण क्रियाओं का उपकार करते हैं। इसलिये अर्थवाद वाक्य को प्रमाद-पाठमात्र नहीं कहा जा सकता है।[3] अर्थवाद वाक्य साकाङ्क्ष हैं। क्योंकि उनका श्रौतार्थ विवक्षित नहीं है, अतः लक्षणा से वे स्तुति रूप लक्ष्यार्थ के द्वारा विधिवाक्यों से युक्त होकर ही प्रेरणा कार्य सम्पन्न करते हैं। विधायकपद श्रौतार्थ प्रतिपादक होते हुए भी प्रवर्तन कार्य के लिए अर्थवाद पदों के साथ अन्वित होकर अपनें प्रयोजन की प्राप्ति करते हैं। अतः दोनों एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं।

"माधवाचार्य" का मत है कि विधिवाक्य पुरुष को प्रेरित करने के लिये विधेयार्थ यागादि की स्तुति की अपेक्षा रखते हैं, क्योंकि अध्ययन विधि से अर्थज्ञान रूप फल द्वारा पुरुषार्थ प्राप्ति संभव है। विधि के पुरुषार्थ प्राप्ति के साधन होने से विधिसापेक्ष प्राशस्त्य का लक्षणावृत्ति से प्रतिपादन करके अर्थवादवाक्य विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता प्राप्त करते हैं। अतः अर्थवादों का धर्म में प्रामाण्य है। प्रभाकर मिश्र के अनुसार अर्थवाद सहित विधिवाक्यों से ही कर्तव्य प्राप्ति सम्भव है।[4]

---

1. "न गम्यमानेऽर्थो विवक्षितानि भवितुमर्हन्ति योऽसौ विध्युद्देशः स शक्नोति निरपेक्षोऽर्थं विधातुं शक्नोति च स्तुतिपदानां वाक्यशेषी भवितुम्।"
(सूत्र 1/2/7 का शाबरभाष्य)
2. यदा स्तुतिपदासंनिधानम् तदा पूर्वेणैव विधिः, यदा स्तुतिपदसम्बन्धो स्तुतिपदानि ह्यनर्थकानि अभविष्यन् साकाङ्क्षाणि।" [शा०भा०पृ०-43]
3. "विध्यर्थवादौ साकाङ्क्षौ प्राशस्त्यपुरुषार्थयोः
तेनैकवाक्यता तस्माद्वादानां धर्ममानता।" [जै० न्यायमाला पृ० 22]
4. "यतो हि कर्तव्यता अवगम्यते स वेदः। अस्माद्यकर्तव्यतावगम्यते।"
(बृहती भा०प०सहित पृ०-26 से उद्धृत)

5. अर्थवादों की सप्रयोजनता अध्ययन विधि से भी सिद्ध है— "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः[1] यह अध्ययन विधि सम्पूर्ण वेद के अर्थज्ञानपूर्वक सप्रयोजन अध्ययन का विधान करती है। इससे अर्थवादों की प्राशस्त्यपरता सिद्ध होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि अध्ययन से प्राप्त अक्षर ग्रहण मात्र से पुरुषार्थ की प्राप्ति नही होती। इसीलिये अक्षर ग्रहण के फल के रूप में पदावधारण, पदज्ञान द्वारा अर्थज्ञान एवं पदार्थज्ञान से वाक्यार्थज्ञान होता है और वाक्यार्थज्ञानपूर्वक यागादि के अनुष्ठान से स्वर्गादि रूप फल की प्राप्ति हो जाने पर ही विधि निराकाङ्क्ष होती है। इसी प्रकार सम्पूर्ण विधिवाक्य पुरुषार्थप्राप्ति के पूर्व निराकाङ्क्ष नहीं होते हैं। यही मत आचार्य कुमारिल भट्ट का है।[2] खण्डदेव के मतानुसार स्वाध्यायविधि का "तव्य" प्रत्यय 'प्रैषातिसर्गकालेषु'[3] इस सूत्र के अनुसार प्रैषवाचक है और प्रैष सदैव प्राप्त कर्तव्य-विषय के प्रति प्रवर्तना कराने वाला होता है। जैसा कि कहा गया है—

"प्रवर्तनस्मृतिः प्राप्ते प्रैष इत्यभिधीयते
अप्राप्तप्रापणं सर्वम् विधित्वं प्रतिपद्यते।"

ब्राह्मण के अप्राप्तविषयक होने पर भी एकदेशलक्षणा के द्वारा "तव्य" प्रत्यय से प्रेरणा ही कही जाती है। अतः स्वाध्यायविधि के अनुसार भी अर्थवादों का अर्थज्ञान रूप दृष्ट प्रयोजन माना जाना ही उचित है, न कि अदृष्ट फल कल्पित करना।[4] स्वाध्याय विधि की प्रयोजनरूपता सिद्ध हो जाने पर अर्थवादों में भी तात्पर्यग्राहकता के कारण लक्षणा सिद्ध होती है और वह लक्षणार्थ समीप पठित विधि या निषेध का अपेक्षी होने से स्तुति या निन्दा रूप होता है। यही मत शास्त्रदीपिकाकार का भी है।[5]

"श्रीकृष्णयज्वा" का कथन है कि अर्थवादों का स्वार्थ में कोई प्रयोजन न होने से और स्वाध्यायविधि के द्वारा अर्थज्ञानरूप-फल पर्यन्त विधान होने के कारण विधेयगत प्राशस्त्य का कथन करके अर्थवाद विधि के साथ एकवाक्यता प्राप्त करते हैं। अतः अर्थवाद धर्मरूपी प्रमिति के उत्पादन में सहायक हैं।

6. विधि तथा निषेधवाक्यों के साथ अर्थवादों की एकवाक्यता है—विधि

---

1. श० ब्रा० 11/5/7/2
2. तन्त्रवार्तिक-पृ०-13 (पा०सू० 3/3/163)
3. पा०सू०3/3/163
4. "अतो वैयर्थ्यपरिहारार्थं प्रयोजनवदर्थज्ञानोद्देशेन स्वाध्यायाध्ययनं विधीयते। प्रयोजनवदर्थज्ञानादिसाधनीभूत स्वाध्यायोद्देशेन वाऽध्ययनमात्रं तव्यप्रत्ययेन स्वाध्यायस्य कर्मत्वाभिधानात्"। (भाट्ट०पृ०17-18)
5. "अतश्च स्वाध्यायाध्ययन विधिनार्थवादस्यापि पुरुषार्थपर्यवसानम् बोधयता परम्परयापि दृष्टलाभे----------।तद्धिपुरुषप्रवर्तनाय विधिरपेक्षते"। (शास्त्रदीपिका पृ०-10)

तथा निषेधवाक्यों के साथ अर्थवाद वाक्यों की एकवाक्यता है, भिन्नवाक्यता नहीं। यहाँ भिन्नवाक्यता तो तब होती जब दोनों का उद्देश्य भिन्न-भिन्न होता अर्थात् दोनों अलग अर्थों का कथन करते, जबकि अर्थवाद वाक्य एवं विधिवाक्य दोनों एक ही अर्थ का कथन करते हैं। जैसे—अर्थवाद वाक्य "वायुर्वै" और विधि-वाक्य "वायव्यं०" इन दोनों का उद्देश्य ऐश्वर्य प्राप्ति हेतु श्वेतछाग के आलम्भन द्वारा पुरुष को वायव्य याग में प्रवृत्त कराना है, अतः दोनों वाक्यों की एकवाक्यता सिद्ध है।

यह एकवाक्यता दो प्रकार की होती है- 1. वाक्यैकवाक्यता 2. पदैकवाक्यता। शबरस्वामी, वार्तिककार एवं प्रभाकर मिश्र नें अर्थवाद और विधिवाक्य में "पदैकवाक्यता" मानी है, जबकि माधवाचार्य के अनुसार इनमें पदैकवाक्यता न होकर "वाक्यैकवाक्यता"[1] है। कुतूहलवृत्तिकार ने भी इनकी पदैकवाक्यता ही मानी है और अपने कथन की पुष्टि के लिये उन्होंने "अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेत् विभागे स्यात्"[2] इस मीमांसा सूत्र को उद्धृत किया है। पदैकवाक्यता वहाँ होती है—जहाँ पर्यवसित प्रयोजन वाला वाक्य समाप्त या असमाप्त प्रयोजन वाले वाक्य के साथ सम्बद्ध होकर एकार्थ प्रतिपादन करे। यहाँ अर्थवादगत सभी पद प्राशस्त्य प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि सभी पदों की स्तुतिपरकता न मानने पर पदान्तरवैयर्थ्य और विनिगमनाविरह रूप दोष प्राप्त होंगे। वायव्य विधि एवं अर्थवाद की एकवाक्यता का स्वरूप है—"ऐश्वर्यरूप फल का हेतु होने से प्रशस्त वायुदेवताकयाग का अनुष्ठान करना चाहिए" और लक्षणाघटक सम्बन्ध का स्वरूप "क्षेपिष्ठादि अर्थवादपदवाच्य, शीघ्रगमन आदि गुणों से युक्त वायुदेवताकत्व का सामानाधिकरण्य से विधि में अन्वय" हैं।

नव्यमीमांसक खण्डदेव[3] एवं शङ्करभट्टादि विद्वानों के मतानुसार विधि एवं अर्थवादवाक्यों की एकवाक्यता "**पदैकवाक्यता**" एवं "**वाक्यैकवाक्यता**" दोनों प्रकार की है। "**वायुर्वै**" आदि अर्थवादों की विधि के साथ पदैकवाक्यता है। जबकि "**यजमानः प्रस्तरः**" आदि अर्थवाद की "**सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति**" आदि विधियों के साथ "वाक्यैकवाक्यता" है। इस सम्बन्ध में उन्होंने भाट्टरहस्य नामक ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है। वार्तिककार ने भी अक्ताधिकरण में कहा है—

"स्वार्थे परिसमाप्तानां अङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते।"

1. द्र०-जै० न्याय० विस्तर पृ०-23
2. जै०सू० 2/1/46
3. "यत्रैकस्मिन् पदे प्राशस्त्यलक्षणामङ्गीकृत्य तस्येतरपदार्थेऽन्वयम् अङ्गीकृत्य वाक्यार्थपर्यवसानं तत्रार्थवादविध्योर्वाक्यैकवाक्यता। यत्र तु न तथा तत्र सर्वत्र वाक्य एव प्राशस्त्यलक्षणामङ्गीकृत्य पदार्थविधयोपस्थितस्य तस्य विध्यारव्यातार्थ एवाऽन्वयात् विध्यर्थवादयोः पदैकवाक्यता।" (भाट्ट रहस्य पृ० 66 विधिवाद)

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अंशत्रय विशिष्ट भावना के विधान से चरितार्थ हो जाने पर भी अर्थवादों का श्रौतार्थ से प्रयोजन न सिद्ध होने कारण वे लक्षणा से स्तुति अथवा निन्दा रूप अर्थ का ज्ञान कराते हुए विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता प्राप्त करते हैं।

7. विधि एवं अर्थवादवाक्यों का प्रयोजन एक होने से अर्थवाद अपौरुषेय हैं—यह कहना तर्कसम्मत नहीं है कि अर्थवाद-वाक्यों के विना भी विधिवाक्य के पुरुषप्रवर्तन में समर्थ होने से अर्थवाद प्रमादपाठ हैं इसलिये अनित्य हैं, क्योंकि अध्ययन, अनध्ययन, गुरु-शिष्य परम्परा एवं गुरुमुख से ज्ञान प्राप्ति रूप नियम विधि तथा अर्थवाद दोनों में समान रूप से लागू होते हैं और दोनों का अध्ययन रूप प्रयोजन भी समान है।[1] अतः अर्थवादों को प्रमादपाठ कहकर उन पर अनित्यता का दोषारोपण उचित नहीं है।

वार्तिककार के अनुसार (यागादि) धर्म समूह वेद सम्प्रदाय के उपकार के लिये होते हैं और अर्थवाद तत्सम्बन्धी स्मरण को दृढ़ कराते हैं। इसीलिये अर्थवाद विधि के द्वारा वाञ्छनीय होने से विद्वानों द्वारा समान रूप से आदृत हैं। अतः विधि की भाँति ही अर्थवाद भी सप्रयोजन हैं। नियम एवं स्मृति भी वेदमूलक हैं।[2] इनमें भी अर्थवाद एवं विधि का समान आदर किया जाता है। अर्थवादों के निष्प्रयोजन होने पर यह आदर सम्भव नहीं था। "**अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्**" इस सूत्र के अनुसार सामर्थ्य हेतु से अर्थवादों का स्तुति या निन्दारूप विशेष प्रयोजन ज्ञात होता है।[3]

अतः यह सिद्ध होता है कि अर्थवाद भी विधिवाक्यों की भाँति अपौरुषेय हैं, पौरुषेय नहीं है।

8. "सोऽरोदीत्" आदि के कर्तव्यरूप से न प्राप्त होने से अर्थवादों में शास्त्रदृष्टविरोधादि दोष नहीं प्राप्त होते हैं—वादी द्वारा आरोपित शास्त्रदृष्टविरोधादि दोष अर्थवादों पर नहीं सिद्ध होते। "सोऽरोदीत्" आदि वाक्यों में शास्त्रदृष्ट अथवा प्रत्यक्ष दृष्ट का विरोध तो तब होता जब इन अर्थवाद वाक्यों में विधि कल्पित करके रोदन, वपोत्खनन, मिथ्या भाषण आदि का कर्तव्य रूप से अनुष्ठान किया जाता।[4] किन्तु यहाँ अर्थवादगत पदों का

---

1. तुल्यं च साम्प्रदायिकम्" (जै०सू०1/2/8)
2. "तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च श्रुतिचोदितैः
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्योद्विजन्मना (मनुस्मृति)
3. यतस्ते सप्रयोजनैर्विधिवाक्यैः तुल्यमेवाद्रियन्ते-----------------------
सामर्थ्यतोऽर्थवादानां इत्यादि सामर्थ्यतोऽर्थवादानां स्तुतिर्नाम प्रयोजनविशेषो लक्ष्यते"। (तन्त्र० पृ०-24)
4. "अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्यात्शब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतः तस्मादुपपद्येत" (जै०सू०1/2/9)

श्रौतार्थ विवक्षित नहीं, है, प्रत्युत स्तुति या निन्दा रूप लक्ष्यार्थ विवक्षित है। इसीलिये इन अर्थवादवाक्यों में अध्याहार आदि साधनों से विधि कल्पित करना उचित नहीं है। इन वाक्यों में स्तुति मानने पर विरुद्ध दर्शन नहीं होता। अतः **"सोऽरोदीत्" "स्तेनं मनः"** आदि कथन युक्त हैं, विपरीतार्थ का ज्ञान कराने वाले नहीं हैं।[1] अध्वरमीमांसाकार ने भी अर्थवादगत पदों को मात्र विधेय की स्तुति या निन्दापरक कहा है।[2] इस प्रकार वादी का यह कथन तर्कसम्मत नहीं है, कि अर्थवादवाक्यों में शास्त्रदृष्ट एवं प्रत्यक्ष दृष्ट सिद्धान्त का विरोध प्राप्त होता है। इनका यह कथन अज्ञानमूलक है, क्योंकि ये वाक्य याग क्रिया के विधेय रजतदाननिषेध, हिरण्यचयन आदि की निन्दा अथवा स्तुति ही लक्षित कराते हैं न कि कर्तव्यरूपता।

प्रभाकर मिश्र के अनुसार अर्थवादों में प्रमाणान्तर विरोध आदि दोष तब प्राप्त होंगे जब उनका अभिधाश्रुति से अर्थ लिया जायेगा। सिद्धार्थ प्रतिपादकता के कारण उनमें ये दोष नहीं प्राप्त होंगे, क्योंकि अर्थवाद सिद्धार्थ प्रतिपादन नहीं करते।

9. "आपोवैशान्ताः"आदि वाक्यों द्वारा विधेय से भिन्न की स्तुति भी गुणवाद से सिद्ध है—जिस प्रकार से लोक में वंश की स्तुति होने पर देवदत्त स्वयं को स्तुत मानता है, अथवा जैसे कश्मीर प्रदेश की स्तुति किये जाने पर वहाँ के निवासी की स्तुति सिद्ध होती है, उसी प्रकार **"आपो वै शान्ताः शान्ताभिः शुचं शमयति"**[3] इस अर्थवाद वाक्य से जल की स्तुति की जाने पर जल में उत्पन्न वेतसादि की स्तुति मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। जल कारण है, वेतस एवं अवक उसके कार्य हैं। अतः जल की स्तुति से विधेय अवकादि की भी स्तुति सिद्ध होती है। इसलिये वादी का यह कहना युक्त नहीं है कि अर्थवादों में विधेय अन्य होता है और स्तुति अन्य की प्राप्ति होती है। क्योंकि यागादि क्रिया के सम्बन्धी के स्तुति का विषय होने पर उससे सम्बद्ध अन्य पदार्थ की स्तुति लोक एवं वेद दोनों में सुनी जाती है, अतः इन अर्थवादों में भिन्न विषय की स्तुति रूप दोष सिद्ध नहीं होता।[4] यहाँ पर

1. अस्माकं पुनर्य एषां शब्दानां श्रौतोऽर्थः स नैव विवक्षितः। न च अध्याहारादिभिर्विधिः किं तर्हि स्तुतिमात्रं विवक्षितम्।" (तन्त्र०पृ०-25)
2. "यस्मात् विधिकल्पनया स्तेयादि प्रयोगे उच्यमाने विरोधः स्यात् नैवमस्ति, विधिकल्पनाया अनभ्युपगमात्--------- अतः तद्विषये विरोधो नास्ति।" (कु०वृत्ति-पृ०-23)
3. तै०सं० 5/4/4
4. "आप इत्ययं शब्दः अप्कार्यत्वगुणयोगाद् वेतसशाखासु वर्तते। अतो विधेय स्तावकत्वमुपपद्यते।" (कु०वृ०पृ०-23), भाष्यकार के "गौण एष वादो भवति०" आदि कथन से भी यही ध्वनित होता है। (द्र०-शा०भा०-पृ०-44)

"वेतसशाखया अवकाभिश्च अग्निं विकर्षति" यह विधिवाक्य है। क्योंकि वेतस एवं अवका की उत्पत्ति शान्त स्वभाव वाले जल से हुई है, इसलिये वह यजमान के भी कष्टों को शान्त करने में समर्थ हैं, यह स्तुतिवाक्य का तात्पर्य है।

इसके अतिरिक्त **"वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता०"**[1] आदि वाक्यों की स्तुतिपरकता भी 'गुणवाद" हेतु से सिद्ध हो जाती है। अर्थवादवाक्यों के प्रसङ्ग में "गुणवाद" एक ऐसा अस्त्र है जिसके द्वारा वादी द्वारा शास्त्रदृष्टविरोध, विप्रतिपत्ति आदि हेतुओं से उद्भावित दोषों की सम्पूर्ण व्यूहरचना ही ध्वस्त हो जाती है। क्योंकि कारण के अनुरूप कार्य होता है, इसलिये यह सिद्ध होता है शीघ्र गमन रूप गुण से युक्त देवता द्वारा साध्य कर्म शीघ्र ही फल देगा। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थवाद वाक्य के सम्पूर्ण पद अविरुद्ध रूप से विधेय की स्तुति ही करते हैं। इसी प्रकार समस्त अर्थवादस्थलों में गुणकथन रूप स्तुति या दोषकथन रूप निन्दार्थवाद गुणवाद हेतु से कल्पित किया जाना अभीष्ट है।

इसी न्याय से **"सोऽरोदीत् यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् यदश्रु व्यशीर्यत तद्रजतमभवत्, पुरास्यसंवत्सराद् गृहे रोदनम् अभवत्, तस्माद बर्हिषि रजतं न देयम्"**[2] इस ब्राह्मणवाक्य में "यथाश्रद्धं दक्षिणां ददाति" इस सामान्य नियम से विहित दक्षिणा में स्वेच्छा से रजतदान भी प्राप्त होता है। जिसका उक्त वाक्य में निषेध किया गया है। अश्रु एवं रजत दोनों का वर्ण श्वेत है। इसी वर्णसारूप्य[3] के आधार पर रजत में अश्रुप्रभवत्व का उपचार किया गया है।

प्रकृति एवं विकार में प्रायः सारूप्य देखा जाता है। क्योंकि लोक में अत्यन्त उदार गृहस्थ भी धनत्याग के कारण दुःखी देखे जाते हैं, अतः यहाँ धनत्याग रूप सामान्य कारण से जो रोदन कार्य का कथन किया गया है वह गौणार्थ लेने पर सङ्गत होता है, मुख्यार्थ से नहीं।[4] यहाँ "रजतदान करने वाले के गृह में वर्ष के भीतर ही रोदन होगा' इस कारण याग में रजतदान निषिद्ध है, यह वाक्यार्थ है।

वस्तुतः रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति ही—"रोदन जिसका निमित्त है" इस प्रकार से प्राप्त होती है। वैदिक परम्परा में "रुद्र" शब्द अग्नि के बारे में प्रचलित है, क्योंकि **"त्वमग्ने रुद्रो असुरो महोदिवः, रुद्रो वा एष, यदग्निः"** ऐसा प्रयोग मन्त्र और

1. तै० सं० 2/1/1
2. तै० सं० 1/5/1/2
3. "तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमालिङ्गसमवाया इति गुणाश्रयाः।" (जै०सू० 1/4/10)
4. "वर्णसारूप्यात् शुक्लत्वादिलक्षणादश्रुप्रभवमित्याह। प्रकृतिविकारयोः एवं प्रायः सारूप्यदर्शनाद्। इह च सारूप्याद् तेन धनत्यागसामान्यात् रोदनोपन्यासो गौणः न मुख्यः।" (सूत्र 1/1/10 का भाष्य वि०)

ब्राह्मण में सुना गया है। व्याकरण में भी "रुद्र" शब्द कर्त्रर्थवाचक "र" प्रत्यय से ही व्युत्पन्न माना गया है। वार्तिककार का भी यही मत है।[1] अतः लोक में जैसे सिंह गुण के सादृश्य से "सिंहो देवदत्तः" आदि प्रयोग देखे गये हैं उसी प्रकार यहाँ भी वर्णसाम्य गुणवाद का हेतु है।

नव्यमीमांसक खण्डदेव के मतानुसार **'तत्सिद्धिसूत्र'**[2] में कहे गये न्याय से रुद्र शब्द में अभिधेयत्व के सादृश्य से रोदनकर्तृत्व का उपचार किया गया है और अन्य स्थलों में कार्य में समवायिकारण का सादृश्य दिखायी देने से चक्षु द्वारा गृहीत अश्रु के शुक्ल वर्ण के सारूप्य से रजत को अश्रुजन्म का कारण कहा गया है।[3]

इसी प्रकार "**यः प्रजाकामः पशुकामो वा स्यात् स एवं प्राजापत्यं तूपरमालभेत, स आत्मनो वपामुदखिदत्**"[4] इस वाक्य के सम्बन्ध में वादी का यह कथन ठीक नहीं है कि इस वाक्य में वृत्तान्त कथन होने से यह अनित्य अर्थात् पौरुषेय है। यहाँ पर वपोत्खननादि अर्थवाद का प्रयोजन यह है कि जब पूर्वकाल में विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिये वपा को उखेड कर यागकर्म सम्पन्न किये जाते थे, तो बाह्य धनादि त्याग से याग करने में क्या हानि है। इस अर्थवाद की उपयोगिता भी स्तुतिमात्र में है, श्रौतार्थ विवक्षा में नहीं। क्योंकि अर्थवाद इतिकर्तव्यतारूप होने से शाब्दीभावना के अङ्ग हैं, इसलिये उनका प्रयोजन प्रवृत्तिविज्ञान मात्र है न कि अर्थविज्ञान, क्योंकि श्रौतार्थ मानने पर तो विरोध ही प्राप्त होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रोता में "मैं इस यागकर्म में प्रवृत्ति होऊँ" ऐसी भावना का उदय ही शाब्दी-भावना का विषय है। अतः अर्थ की सत्यता की अपेक्षा न रखते हुए प्रवृत्ति के अङ्गभूत प्राशस्त्य का विज्ञान मात्र ही अर्थवादों का प्रयोजन है।[5] जैसाकि न्याय-सुधाकार ने भी कहा है—

"प्रवर्तेऽहं इति ज्ञानं येन शब्देन जन्यते।
स चोदनोच्यते यद्वा प्रवर्तनफला मतिः"

मीमांसकों के अनुसार इन वाक्यों में वृत्तान्तकथन दोष नहीं है, क्योंकि लोक में भी 'नेत्र भी निकालकर दे देता है' आदि प्रशंसावचन प्राप्त होता है। अतः अविद्यमान अर्थों से भी स्तुति संभव है। वस्तुतः पूर्वकाल में प्रजापति वायु या आकाश अथवा आदित्य रूप कोई नित्य पदार्थ रहा होगा। उस समय पशुओं का

1. "गुणवादस्तु शब्दालम्बनं रुद्रशब्दोत्थापितविज्ञानवशेन रोदनसामान्यतोऽदृष्टकल्पना।" (तन्त्रवार्तिक-पृ०26)
2. जै०सू० 1/4/10
3. द्र०-मी०कौस्तुभ पृ०-32
4. तै०सं० 2/1/1/4-5
5. न्यायसुधा पृ० 57-58

अभाव होने से उसने अपनी वपा को निकालकर हवन किया। यहाँ वपा का तात्पर्य वृष्टि, वायु अथवा किरणों से है, और हवन का तात्पर्य वैद्युत या आर्चीस (जठराग्नि) या लौकिक अग्नि सें है जिसमें उसने वपा का प्रक्षेपण किया। जिससे श्रृङ्गरहित अज अन्न या बीज या लता उत्पन्न हुई। जिसके आलम्भन से याग सम्पादित करके उसने प्रजाओं और पशुओं को प्राप्त किया।[1]

वार्तिककार का मत है कि इस वाक्य को यदि गुणवाद न मानकर अनुवाद माना जाए तो भी विप्रतिपत्ति नहीं है, क्योंकि मन्त्र, अर्थवाद और ऐतिह्य प्रमाणों से सृष्टि एवं प्रलय दोनों प्रमाणित होते हैं। इस प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में पशुओं का अभाव होने से प्रजापति ने स्वयं को पशुरूप में निर्मित किया और वपोत्खननादि साधनों से इस प्राजापत्य याग को किया। तब उस याग से तूपर पशु उत्पन्न हुआ। इस प्रकार प्राजापत्य आदि यागकर्म निकट भविष्य में फल देने के कारण प्रशस्त है। अतः यदि इसे सत्य घटना मानें[2] तो श्रुतिलिङ्गन्याय[3] से प्रतिसृष्टि में समान प्रभाव वाली यागोपयोगी वस्तुओं की उत्पत्ति मानने पर भी ये अनित्यता दोष से ग्रस्त नहीं होंगे।

गुणवाद न्याय से ही **''आदित्यः प्रायणीयश्चरुरादित्यः उदयनीयश्चरुः''** इस विधि के अङ्गभूत'' **देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्''**[4] इस अर्थवाद वाक्य से आदित्ययाग की स्तुति सिद्ध होती है, क्योंकि यह आदित्य याग देवों[5] के मोह को दूर करने में समर्थ हैं।

सोमयाग अनेक कर्मकलापों का समूह है। प्रकृतयाग दर्शपूर्णमास में अभ्यस्त न होने के कारण ऋत्विज् भ्रमित हो जाते हैं, कि कौन सा कर्म किस क्रम से किया जाय। जैसा कि वार्तिककार ने कहा है- यज्ञकाल में प्रकृतियाग के अभ्यस्त न होने के कारण दर्शपूर्णमास सम्बन्धी सौमिक कर्मों को देखकर ''इन्हें किस क्रम से सम्पादित किया जाय''- ऐसी भ्रान्तिबुद्धि ऋत्विजों में उत्पन्न हो जाती है, इसीलिये उन्हें दिङ्मोह से युक्त कहा गया है। देवयज्ञ के सम्पादन के समय देवताओं को भी मोह हुआ था, किन्तु आदित्य याग

1. द्र०-जै० सू० 1/2/10 का शाबरभाष्य
2. ''यथेह महाभूतानि प्रजाः पान्तीति प्रजापतित्वेनोच्यते।------
मन्त्रार्थवादेतिहासप्रामाण्यात् सृष्टिप्रलयाविष्येते तत्र प्रजापतिरेव योगी------।''
(तन्त्र० पृ०-28)
3. जैसी कि स्मृति हैं—
''आरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः
चतुष्पात् सकलोधर्मः सत्यं चैव कृते युगे।''
(न्याय सु०-पृ०-60 से उद्धृत)
4. तै०सं० 6/15/1
5. ''कर्मसु कौशलेन दीव्यन्तीति देवः ऋत्विजः।'' सूत्र 1/1/10 के भाष्यविवरण से उद्धृत।

सम्पादित करने पर अदिति देवता की कृपा से उनका यह अज्ञान दूर हो गया था। अतः "अदिति देवता सम्बन्धी प्रायणीय एवं उदयनीय चरुयाग करने पर ऋत्विजों का भ्रम दूर होगा"- यह वाक्यार्थ है।

इस प्रकार के गौण कथन लोक में भी प्राप्त होते हैं। जैसे— "मेरा मन कर्तव्यदिशाओं में भ्रमण कर रहा है" आदि कथन। उपर्युक्त अर्थवाद वाक्य में देवगत दिङ्मोह के निवारण के सादृश्य से ऋत्विजगत अज्ञान का निवारण रूप अर्थ का उपचार है। अतः यह सिद्ध होता है कि यह अर्थवाद आदित्य याग की स्तुति के लिये ही प्रयुक्त है, न कि दिशाभ्रम के अर्थ में।

10. "स्तेनं मनः अनृतवादिनी वाक्" आदि अर्थवाद हिरण्य की स्तुति के लिये है—"स्तेनं मनः०" आदि अर्थवाद से अंशुग्रह के ग्रहण के समय **"हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृह्णाति"**[1] इस विधि से विहित हिरण्य की स्तुति की गई है, इसलिये यहाँ पर विप्रतिपत्ति दोष संभव नही है। मन सदैव चोर की भाँति अप्रत्यक्ष रहता है, अतः उसे "स्तेनं मनः "ऐसा कहा गया और वाणी प्रायः मिथ्याभाषण ही करती है[2] इसलिये उसे अनृतवादिनी कहा गया है। जबकि "सुवर्ण स्तेय और मिथ्याभाषण आदि दोषों से रहित है, अतः श्रेष्ठ होने से वह ग्रहण योग्य है" यहाँ यही वाक्यार्थ है।

यहाँ पर वादी की यह शङ्का भी नहीं उचित है कि मन और वागेन्द्रिय की निन्दा करने के कारण यह अर्थवाद निषेधवाक्य का अङ्ग है, विधिवाक्य का नहीं। क्योंकि **"न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्ततेऽपितु विधेयं स्तोतुम्"** इस न्याय से यहाँ हिरण्य की स्तुति सिद्ध होती है, अतः यह विधि वाक्य का ही शेष है।

इस अर्थवाद की संगति दिखाते हुए भाष्यकार ने कहा है कि जैसे लोक में "ऋषि से क्या प्रयोजन देवदत्त को ही भोजन कराओ" इस कथन का अभिप्राय ऋषि की निन्दा करना नहीं है, उसी प्रकार यहाँ पर हिरण्य की स्तुति के लिये ही यह निन्दा वचन कहा गया है।

वार्तिककार के अनुसार क्योंकि लोक में समस्त कर्म मन द्वारा संकल्प करके और वाणी से कह कर किये जाते हैं; किन्तु अन्तरङ्ग होते हुए भी वे स्तेय और मिथ्या भाषण से युक्त होते हैं। अतः हिरण्य से उनकी न्यूनता सिद्ध होती है। जिस निन्दा का पर्यवसान निषेध में हो वह निषेधफलक होती है, किन्तु जो निन्दा स्तुति में पर्यवसित होती तो वह स्तुति रूप प्रयोजन को ही सिद्ध करती है।[3] यही बात जैमिनि ने दशम अध्याय में **न चेदन्यं प्रकल्पयेत्**

1. तै०सं० 4/82/3
2. "रूपात्प्रायात्" जै० सू० 1/2/11
3. इह सर्वं क्रियमाणं मनसा संकल्प्यवाचा-----या निन्दातन्मात्रपर्यवसायिनी सा निषेंधफला भवति। विधिपरा तु स्तुत्यर्था जायते।" (तन्त्रवार्तिक पृ०-29)

प्रक्लृप्तोऽर्थवादः स्यात्[1] इस सूत्र से सिद्ध की है। जबकि खण्डदेव के अनुसार क्योंकि "स्तेनं मनः०" आदि अर्थवाद की निषेध के साथ एकवाक्यता नहीं सिद्ध होती, अतः यहाँ निन्दा ही असिद्ध हो जाती है। इसलिये विधि के साथ एकवाक्यता के संभव रहते यहाँ वाक्यभेद दोष की प्राप्ति कराने वाला निषेध मानना उचित नहीं है। मन के चोर की भाँति छिपे होने से यहाँ पर गौण स्तुति का हेतु "तत्कार्यकारित्व" है और वाक् के अधिकांशत मिथ्याभाषिणी होने से गुणवाद का निमित्त "भूमा" है।[2]

11. "तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे०"- यह कथन प्रत्यक्षदृष्ट के विरुद्ध प्रतिपादन नहीं करता—वादी का यह कथन भी उचित नहीं है **"तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः, तस्मादर्चिः एवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः"**[3] यह अर्थवाद प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाले पदार्थ के विरुद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। यह अर्थवाद मिश्रलिङ्ग वाली अग्निहोत्र विधि की स्तुति के लिये है। यहाँ मिश्रलिङ्गता का प्रयोजन है "सूर्य एवं अग्नि समुच्चित प्रजापति के विधान से अग्निहोत्र याग करना।" प्रथम अर्थवाद वाक्य **अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिस्सूर्यो स्वाहेति प्रातर्जुहोति**" इस विधि के साथ तथा **"तस्मादर्चि०"** यह अर्थवाद **सूर्योज्योतिः ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति**" विधि के साथ एकवाक्यता प्राप्त करते हैं। "उभाभ्यां सायं हूयते उभाभ्याम् प्रातः" आदि कथन से भी यही सिद्ध होता है कि प्रातःकालीन अग्निहोत्र और सायंकालीन होम में सूर्य और अग्नि दोनों देवताओं की प्राप्ति होने से यह अर्थवाद मिश्रलिङ्गक विधि का शेष है।

यहाँ पर यह कहना उचित नहीं है कि "अग्निर्ज्योतिः०" वाक्य में ज्योति शब्द के सूर्यवाची एवं "सूर्यो ज्योति०" "विधिवाक्य में ज्योति के अग्निवाची होने से यहाँ पर मिश्रलिङ्गता सिद्ध होती है, अतः यह अर्थवाद "अग्निर्ज्योतिःज्योतिरग्निः" इस वाक्य का अङ्ग है। क्योंकि ज्योति शब्द "तेजस्" सामान्य का वाचक होने के कारण सूर्य एवं अग्नि दोनों के साथ अन्वय प्राप्त करता है, अतः दोनों का वाचक है और जो जिसका पर्याय होता है वह उसी शब्द के साथ कभी नहीं प्रयुक्त होता, अतः भाष्यकार द्वारा कहा गया यह उदाहरण भ्रान्ति के कारण हैं। वस्तुतः **"उद्यन्तं वावादित्यम् अग्निमनुसमारोहति**" इस वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि दिन में अग्नि सूर्य में प्रविष्ट हो जाता है, अतः सूर्य ही उस समय ज्योति रूप में प्राप्त होता है। इसी प्रकार **"अग्निं वाव आदित्यः सायं प्रविशति**" इस वाक्य के अनुसार सायंकाल

---

1. जै० सू० 10/8/4
2. "निषेधैकवाक्यता विरहे निन्दात्वस्यैव असिद्धेः क्लृप्तविध्येकवाक्यत्वसंभवे वाक्यभेदापादक निषेधोन्नयनस्य अन्यायत्वाच्च----------- (मी० कौ०-पृ0-34)
3. तै०ब्रा० 2/1/2-9-10

सूर्य अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है, अतः रात्रि में अग्नि ही ज्योति के रूप में प्राप्त होता है। इसलिए प्रातःकाल सूर्य समुच्चित प्रजापति को उद्देश्य करके हवन करें, एवं सायंकाल अग्नि समुच्चित प्रजापति देवता को उद्देश्य करके अग्निहोत्रकर्म सम्पादित करे, यह तात्पर्यार्थ सिद्ध होता है।

यहाँ पर दिन में दूर स्थित होने से अग्नि का अदर्शन एवं धूम-बाहुल्य होने से धूम का दर्शन होता है, अतः ''तस्माद धूम एवाग्रे'' यह वाक्य उपपन्न होता है। इसी प्रकार अग्नि रात्रि में ही दिखाई देती है, जबकि दूर होने के कारण धूम नहीं दिखाई देता,[1] अतः ''तस्मादर्चि०'' यह अर्थवाद वाक्य भी युक्त है। इसलिये यहाँ पर प्रत्यक्ष दृष्ट पदार्थ का विरोध नहीं सिद्ध होता[2] प्रत्युत **''अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः''** इस वाक्य की भाँति ही इन अर्थवादों में भी नञ् का तात्पर्य इतर प्रशंसा ही है निन्दा नहीं।[3] भाष्यकार, वार्तिककार आदि ने इन अर्थवादों में गौण कथन का हेतु दूर स्थित होना एवं भूमा दोनों को माना है। जबकि नव्यमीमांसक खण्डदेव ने इस वाक्य में गुणवाद का हेतु "भूमा" को ही माना है।

12. ''न चैतद्विद्म०'' आदि वाक्यों से दृष्टविरोध नहीं अपितु प्रवरानुमन्त्रण कर्म की प्रशंसा प्राप्त होती है—''प्रवरे प्रव्रियमाणेऽनुब्रूयाद् देवाः पितरः'' इस विधिवाक्य के समीप **''न चैतद्विद्म वयं ब्राह्मणो स्मोऽब्राह्मणो वा''**[4] यह अर्थवाद वाक्य प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में वादी का यह कथन युक्त नहीं है कि **''अष्टवर्षे ब्राह्मणमुपनीयात्''** आदि शास्त्र से ब्राह्मणत्व आदि के प्रमाणित होने पर भी ''न चैतद्०'' आदि कथन को प्रमाण मानने पर शास्त्र एवं प्रत्यक्ष दृष्ट के विरुद्ध कथन की प्राप्ति होगी। यह कथन तो प्रवरानुमन्त्रण कर्म की प्रशंसा के लिये है। वस्तुतः यह कठिनाई से जानने योग्य है कि अमुक व्यक्ति ब्राह्मण है अथवा नहीं। इस कथन का मूल कारण यह है कि स्त्री के व्यभिचारिणी होने के कारण यह अनुमान प्रायः कठिन हो जाता है कि इसका पिता कौन है। यह तो केवल माता ही जानती है कि उत्पन्न हुआ पुरुष ब्राह्मण है या ब्राह्मणेतर, क्योंकि **"यतस्तु माता भस्त्रा पितुः स पुत्रो०"** आदि के अनुसार उत्पादयिता पुरुष का ही पुत्र माना जाता है न कि माता की जाति से उसका ब्राह्मणत्व निश्चित किया जा सकता है। इस दुर्ज्ञेयता के कारण यह अर्थवाद युक्त है।[5] जैसाकि वार्तिककार ने भी कहा है— ''सत्यपि

1. ''दूरभूयस्त्वाद्'' जै०सू० 1/2/12)
2. द्र०-तन्त्रवार्तिक पृ०-30
3. "दूरस्थस्य भूयस्त्वेन यद्दर्शनं नाम दर्शनागतोऽतिशयो दृशिना लक्षितः स नञा निषिध्यते। पशुशब्द लक्षितमिव प्राशस्त्यमपशुशब्देन अपशवोवाऽन्ये गोऽश्वेभ्यः................।'' (न्यायसुधा पृ०-63)
4. तै०सं० 11/4/11
5. "स्त्र्यपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनम्" (जै० सू० 1/2/13)

स्त्र्यपराधे यदि मातुरेव क्षेत्रिणो वा पुत्रः स्यात् ततस्तयोः प्रसिद्धजातित्वान्नैव दुर्ज्ञानता भवेत्। तयोरप्येवमेवं तत्पूर्वजयोरित्यनादिन्यायेनजातिरवधार्यतैव। यतस्तुमाता भस्त्रा पितुः पुत्र इति स्मर्तृणां दर्शनं जनयितुश्च नानाजातित्वोपपत्तिः तेन वर्णसंकरः''।[1] वेद में भी कहा गया है।

अप्रमत्ता रक्षत तन्तुमेनम् मा वः क्षेत्रे परबीजान्यावाप्सुः
जनयितुः पुत्रो भवति साम्पराये मोघं वेत्ता कुरुते तन्तुमेनम्।'[2]

इस कथन द्वारा जो जाति के विच्छेद से निवारण कहा गया है, उससे भी उक्त कथन की पुष्टि होती है, क्योंकि स्वजाति की रक्षा न करने पर वर्णसङ्कर आदि दोष से दूषित होकर जाति विच्छेद हो जायेगा।

इस प्रकार ''न चैतद्०'' आदि अर्थवाद प्रवरानुमन्त्रण मन्त्र की प्रशंसा लक्षित कराते हैं, क्योंकि प्रवरानुमन्त्रण से अब्राह्मण भी ब्राह्मण हो जाता है। दुर्ज्ञेय होने से अज्ञान का कथन करने वाला नञ् गौण अर्थ में प्रयुक्त है। कौस्तुभकार के अनुसार इस वाक्य में गौणी वृत्ति का निमित्त प्रशंसा ही है, क्योंकि इस मन्त्र के जप से अब्राह्मण भी ब्राह्मण हो जाता है।

13. "कोहितद्वेद" आदि अर्थवादवाक्य अतीकाशकरण के तात्कालिक फल की प्रशंसा करते हैं न कि शास्त्रदृष्ट स्वर्गादि का विरोध—"को हि तद्वेद यदमुष्मिन् लोके अस्तिवा न वा''[3] यह अर्थवाद ज्योतिष्टोम याग के समय प्राग्वंशशाला में अतीकाश (छिद्र) करने के विधायक "**दिक्ष्वतीनाकाशान्करोति**" इस वाक्य के समीप पठित है। ज्योतिष्टोम याग से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। किन्तु यह स्वर्गफल वर्तमान शरीर नष्ट होने पर चिरकाल के पश्चात् ही प्राप्त होता है। जबकि शाला में छिद्र करने से धूमादिराहित्य रूप फल की प्राप्ति तत्काल होती है। अतः सद्यः प्राप्त होने के कारण वह प्रशंसनीय है।[4] प्रशंसा के लिये ही ''को हि तद्वेद'' आदि वाक्य कहे गये हैं। इनमें अतीकाश से शीघ्र ही धूमनिर्गम फल की प्राप्ति होने से उनकी अपेक्षा कालान्तरभावी स्वर्गफल की निन्दा की गई है। यहाँ पर गौणी वृत्ति का निमित्त विधेय से इतर अतीकाश की प्रशंसा है। अतः यहाँ भी स्तुति ही अर्थवाद का प्रयोजन है, शास्त्रदृष्टविरोध प्रयोजन नहीं है। आचार्य कुमारिल भट्ट, वासुदेव दीक्षित, एवं खण्डदेव[5] आदि का भी यही मत है। लोक में प्रायः सभी व्यक्तियों को

1. तन्त्र० पृ०-31
2. तै० सं० 6/1/1
3. तै० सं० 6/1/1
4. "आकालिकेप्सा" (जै०सू०1/2/14)
5. सर्वस्य हि सद्यः फलं यथाभिमतं न तथा कालान्तरभावि। अतश्चातीकाशकरणं सद्यो धूमानिर्गमफलकत्वेन प्रशंसितु कालान्तरभाविस्वर्गफलनिन्दा। अत्र ऐहिकवदाभिमततरत्वरूप प्राशस्त्येमेवामुष्मिकफलपरामर्शिना तच्छब्देन तद्गतं

शीघ्र प्राप्त होने वाला फल ही सन्तुष्टि दिलाता है न कि बहुत समय पश्चात् प्राप्त होने वाला फल। अतः तात्कालिक फल देर से प्राप्त होने वाले फल की अपेक्षा प्रशस्त है।

14. 'शोभतेऽस्य०" आदि वाक्य गर्गत्रिरात्रविद्या की प्रशंसा के लिये कहे गये हैं—'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद"[1] यह अर्थवाद गर्गत्रिरात्र क्रतुविधि की प्रशंसा के लिये प्रयुक्त हैं। यहाँ पर वादी का यह तर्क ठीक नहीं है कि क्रतुविधि के अध्ययन के अभ्यास से विद्यार्थी के मुख पर क्लान्ति आती है, न कि शोभावृद्धि। यद्यपि पद एवं पदार्थ स्मरण के अभ्यास से चित्त के क्षुब्ध हो जाने के कारण अभ्यास करने वाले के मुख पर क्लान्ति दिखायी देती है, किन्तुं पदवाक्य न्याय का ज्ञाता होकर वह अपने सहपाठियों में उच्च स्थान पाता है। इस प्रकार शब्दों से शोभायमान होने के कारण मुख की शोभा रूप गौण कथन युक्त है।[2] यहाँ पर शोभा का तात्पर्य शरीर की सुन्दरता से नहीं है;[3] अपितु ज्ञान से है, अतः यहाँ दृष्टविरोध नहीं है।

इसी प्रकार **"आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद"** यह अर्थवाद वाक्य वेदानुमन्त्रण विधि की स्तुति ही करता है। भाष्यकार ने कहा है कि क्योंकि निरन्तर वेदाध्ययन एवं श्रवण से आने वाली पीढ़ियां मेधावी होती हैं तथा उसी ज्ञान के कारण यजमानों से प्रचुर मात्रा में धन भी प्राप्त करती हैं, अतः "आस्य प्रजायाम्" आदि कथन युक्त हैं।

"ऋषिपुत्र परमेश्वर" का मत है कि उक्त अर्थवादवाक्य में गर्गत्रिरात्र और अनुमन्त्रण क्रिया को जो मुखशोभा एवं अन्न प्राप्ति का कारण कहा गया है वह इन विधियों की प्रशंसा है न कि यहाँ फल विधि है। अतः यहाँ पर अनुपलब्धि रूप दोष नहीं सिद्ध होता। विद्या की स्तुति ज्ञान की स्तुति में पर्यवसित होती है अर्थात् जब उस विद्या का ज्ञान ही मुखशोभावृद्धि का कारण है तो उसके अनुष्ठान का क्या कहना।[4]

नव्य मीमांसक खण्डदेव का मत है कि शोभा पद यद्यपि लावण्य आदि की प्राप्ति नहीं कराता तथापि प्रीति का कारण होने से "तत्कार्यकारित्व" हेतु से

ळक्षयित्वा..........। (मी०कौ०-पृ० 36)

1. ता०ब्रा० 1/2/25
2. द्र०-कु० वृ०-पृ०-25
3. न चैकप्रकारो मुखशोभायाः संस्थानं रमणीयता लावण्यं चेति। स्त्रीविषयं ह्येतत्। विदुषां पुनः पदवाक्यन्यायोद्गारिमुखं शोभते।" (तन्त्र० पृ०-32)
4. "घृतवन्तं कुलायिनं रायस्पोषं सहस्रिणं वेदो ददातु वाजिनामित्याह। प्रसहस्रं पशूनाम्-आप्नोति प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद इत्यत्र यज्ञपति प्रथनवत् मन्त्राभिधानस्यार्थवादालम्बनत्वसम्भवेऽपि मन्त्राभिधानेप्यालम्बनाकाङ्क्षानिवृत्यर्थं कुले सन्तताध्ययनश्रवणादित्युक्तम्।" (न्याय० पृ०-65)

वह गौण रूप में मुख शोभा का ही कथन करता है।[1]

15. ''पूर्णाहुत्या०'' आदि अर्थवादवाक्य अधिकार की अपेक्षा से फलप्राप्ति का कथन करते हैं—'पूर्णाहुत्या सर्वान्‌कामानाप्नोति'' यह अर्थवाद 'पूर्णाहुतिंजुहोति'' से विहित कर्म की स्तुति करते हैं; किन्तु यह विधियां स्वतंत्र रूप से फल विधियाँ न होकर अग्निहोत्रादि कर्म की अङ्गभूत विधियाँ हैं। वार्तिककार ने इन्हें संस्कार कर्म कहा है। यहाँ पर पूर्णाहुतिहोम से सभी कामनाओं की प्राप्ति रूप कथन गौण है। वस्तुतः यहाँ पर निमित्त में नैमित्तिक के उपचार से स्तुति की गई है। यह पूर्णाहुति कर्म समस्त कामनाप्राप्ति के कारणस्वरूप कर्मों से साधनरूप अग्नियों की प्राप्ति कराता है। अतः पुरुष को अधिकार प्राप्त कराने के कारण यह गौण कथन सिद्ध होता है। क्योंकि पूर्णाहुति कर्म किये बिना वह अग्निहोत्रादि कर्मों का अधिकारी नहीं हो सकता, अतः यहाँ अधिकार की अपेक्षा से ही सर्वत्व कथन किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूर्णाहुत्या आदि कथन से अन्य विधियाँ व्यर्थ नहीं होती; बल्कि सम्पूर्ण अग्निहोत्रादि कर्मों में पुरुष को अधिकार प्राप्त कराने के कारण यहाँ "सर्वत्व'' का उपचार स्तुति के लिये किया गया है। अतः यह स्पष्ट होता है कि पूर्णाहुत्या आदि वाक्य युक्त कथन करते हैं।

इसी प्रकार **''तरति मृत्युं तरति ब्रह्महत्यां य उ चैनमेवं वेद''** यह वाक्य अश्वमेध विधि का स्तावक है। अश्वमेध याग से मृत्यु आदि से पुरुष छुटकारा पा जाता है। अश्वमेध विद्या के अश्वमेध याग का उपकारक होने से यहाँ अश्वमेध की गौणरूप से स्तुति की गई है। अश्वमेध विधि के ज्ञान के बिना उसका अनुष्ठान संभव नहीं है। अतः यहाँ पर गौण कथन युक्त है। जिस प्रकार "अन्नं वै प्राणाः" में अन्न को ही उपचार से प्राण कह दिया गया है, उसी प्रकार यहाँ अर्थवाद वाक्यों में असर्व में सर्व का उपचार किया गया है।

अथवा जैसे-''सर्वमोदनं भुञ्जते'' इस वाक्य में सर्व'' का कथन अधिकारी की अपेक्षा से है त्रैलोक्य की अपेक्षा से नहीं। उसी प्रकार उक्त वाक्य अग्नि कर्म के लिये अधिकारी बनने योग्य फल के ग्रहण के लिये तथा पशुयाग में अधिकार प्राप्त करने के लिये है। अतः यहाँ पर अन्य विधियों की निरर्थकता की प्राप्ति कराना इन कर्मों का प्रयोजन नहीं है।

16. कर्म के परिमाण के अनुसार फलप्राप्ति होने से अग्निहोत्रादि विधि निरर्थक नहीं है—वादी का यह कथन युक्त नहीं है कि पूर्णाहुति कर्म से सभी कामनाओं की प्राप्ति हो जाने से अधिक श्रम एवं समय में साध्य अग्निहोत्रादि की क्या आवश्यकता है। सिद्धान्ती के अनुसार जिस प्रकार लोक में कृषि

1. द्र०-मी० को०पृ०-36

आदि कार्यों में जिस परिमाण में श्रम किया जाता है, उसी तारतम्य से फल की भी न्यूनता या अधिकता देखी जाती है, उसी प्रकार पूर्णाहुति आदि कर्मों के करने पर सभी कामनायें प्राप्त होती हैं, किन्तु उनकी मात्रा अल्प ही होती है। अतः अधिक फल चाहने वाले पुरुष के लिये अग्निहोत्रादि कर्म उपयोगी होंगे।[1] ऐसा मानने का कारण यह है कि यदि **"अर्के चेन्मधुविन्देत"** न्याय से अल्प एवं महान् प्रयास से साध्य कर्म समान फल देने लगेंगे तो कोई भी पुरुष अधिक परिश्रम से साध्य कर्मों को कोई नहीं करेगा। ऐसी दशा में विधि की शक्ति ही बाधित होने लगेगी। जबकि **अर्थाद्वाकल्पनैकदेशत्वात्**[2] इस नियम से विधि भी फलाधिक्य को स्वीकार करती है, इसलिये जैसे - क्रम से पढ़े गये वेदवाक्यों के अङ्गाङ्गिभाव की व्यवस्था करने के प्रसङ्ग में प्रथम वाक्य का प्रथम के साथ एवं द्वितीय का द्वितीय के साथ सम्बन्ध होता है, वैसे ही थोड़े प्रयास से साध्य कर्म से अल्प फल, मध्यम से मध्यम एवं महान् प्रयत्न साध्य कर्म से महत् फल की प्राप्ति भी होती है।

चातुर्मास्य सोमयाग में **"यदाग्निहोत्रं जुहोति अथ दशगृहमेधिन आप्नोति एकया रात्र्या, यदा दश संवत्सरान् अग्निहोत्रं जुहोत्यथ दर्शपूर्णमासाभ्यां यजिनामाप्नोति यदा दशसंवत्सरान् दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत अथाग्निष्टोम यजिनामाप्नोति"** आदि अर्थवाद श्रुतियाँ भी कर्म की अल्पता या महत्ता के अनुसार फलभेद दर्शाती है। अतः एक जैसे फल का श्रवण होने पर भी असामञ्जस्य नहीं सिद्ध होता है।[3] तैत्तिरीय श्रुति में भी कहा गया है- "उच्चावचकर्म्मणामेकविधफलासम्भवात् स्वर्गो बहुविधः।" इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्णाहुत्यादि अर्थवादों से अन्य विधियाँ निष्प्रयोजन नहीं सिद्ध होती।

17. "न पृथिव्यां०" आदि अर्थवाद अप्राप्तप्रतिषेध नहीं अपितु प्राप्तार्थ अनुवादक हैं—"न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि" आदि अर्थवाद वाक्य अप्राप्त अर्थ के प्रतिषेधक नहीं है। अतः वादी का यह कथन युक्त नहीं है कि अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में हिरण्यचयन सम्भव न होने से ये अर्थवाद अप्राप्त अर्थ का निषेध करते हैं; इसलिये व्यर्थ है, क्योंकि ऐसे अर्थवादवाक्य **"नहिनिन्दान्याय"** से हिरण्यचयनादि विधियों की स्तुति के लिये हैं, प्रतिषेध के

1. "फलस्यकर्मनिष्पत्तेः तेषां लोकवत्परिमाणतः फलविशेषः स्यात्" [जै०सू०1/2/17]
   वार्तिककार ने भी कहा है—कर्मणामल्पमहतां फलानां च स्वगोचरः।
   विभागः स्थानसाम्यादविशेषेऽपि चोदिते।" (तन्त्र०-पृ०-33)
2. जै० सू० 1/4/20
3. जैसी कि स्मृति भी है-"ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोः,
   आभूतसंप्लवान्तं च फलमिष्टं तयोर्द्विज।"

(न्यायसुधा पृ०-66 से उद्धृत)

लिये नहीं।

जिस प्रकार से हिरण्य की स्तुति हेतु वाक् एवं मनस् आदि इन्द्रियों की निन्दा की गई है, उसी प्रकार यहाँ पर भी शुद्ध पृथ्वी में हिरण्य चयन संभव न होने के कारण उसकी निन्दा की गई है, किन्तु इस निन्दा का फल हिरण्य युक्त पृथ्वी में अग्निचयन की प्रशंसा है। जैसे—अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में अग्निचयन नहीं हो सकता, वैसे ही हिरण्य रहित पृथ्वी में भी। जैसा कि वार्तिककार ने भी कहा है—"यथैव वाङ्मनसयोर्निन्दा हिरण्यस्तुत्यर्था तथा शुद्धपृथ्वीनिषेधः प्रक्लृप्तौऽर्थवादः स्याद् इत्येवं हिरण्यनिधान स्तुत्यर्थः न प्रतिषेधमात्रफलः।"[1]

अर्थवाद वाक्य सदैव विधिवाक्य के अङ्गरूप से ही प्रयोजनवान् होते हैं स्वतंत्र रूप से नहीं। इसी प्रकार "न पृथिव्यां" यह अर्थवाद भी "हिरण्यं निधायचेतव्यम्" आदि विधि वाक्यों के अङ्ग सिद्ध होते हैं। अतः इनका स्वतंत्र रूप से अर्थ मानना अनुचित है। वस्तुतः अन्तरिक्ष में एवं द्युलोक में अग्निचयन का निषेध नित्य प्राप्त है। इसलिये यह वाक्य, नित्य सिद्ध अर्थ का अनुवाद है न कि अप्राप्त अर्थ का प्रतिषेध। नव्य मीमांसक खण्डदेव का भी यही मत है।[2]

18. "बबरः प्रावाहणिः०" आदि वाक्यों से अर्थवाद की नित्यता ही सिद्ध होती है—"बबरः प्रावाहणिरकामयत" आदि वाक्य नित्य पदार्थ का कथन करते हैं इसलिये वादी द्वारा इन्हें अनित्य मानना उचित नहीं है। क्योंकि इनकी अनित्यता का परिहार जैमिनि के "**परंतु श्रुतिसामान्यमात्रम्**"[3] इस सूत्र से ही हो जाता है, अतः पुनः उन पर पौरुषेयता आरोपित करना ठीक नहीं है। इस वाक्य में प्रयुक्त "प्रावाहणि" शब्द किसी पुरुष की संज्ञा नहीं है अपितु "प्रकर्षेण वाहयतीति प्रावाहणिः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रावाहणि नित्य वायु का बोधक है। इसी प्रकार "बबर" भी किसी का नाम नहीं है अपितु शब्द की अनुकृति ही है। अतः इन वाक्यों में अनित्यसंयोग वर्णित नहीं है। इस अर्थवाद में वाक् शब्द से लक्षित ध्वनिमात्र के कथन की कामना की गई है, अतः यह स्तुतिवचन है। तात्पर्य यह है कि "बबर०" आदि वाक्य भी नित्य पदार्थ का कथन करने के कारण धर्म में प्रमाण हैं। भाष्य-विवरणकार ने इस विषय में विस्तार से चर्चा की है।[4] आचार्य कुमारिल भट्ट के अनुसार इन

1. तन्त्र० पृ० 33
2. द्र० -मी० कौ०-पृ०-37-38
3. जै० सू० 1/1/31
4. "अनित्यदर्शनमनित्येन संयोगदर्शनं तत्परिहतम्, परंतु----------------------
प्रावाहणेरन्यस्यासम्भवान्नित्यस्यसंयोग इत्युक्तमित्यर्थः" ।
(सूत्र 1/2/18 का भाष्य विवरण)

वाक्यों का प्रयोजन रात्रिसत्रन्याय से स्वर्ग नहीं है, प्रत्युत अर्थवादगत स्तुति ही इनका प्रयोजन है।[1] ऋषिपुत्र परमेश्वर नें कहा भी है— "यत्परं बबराद्युक्तम् अनित्यत्वस्य कारणम्, श्रुतेः शब्दस्य सामान्यमात्रम् तत्रेति गम्यताम्। बबराध्वनियुक्तस्य वायोः प्रवहणो विततः भवेदिति।"[2]

19. "अक्ता०" आदि अर्थवादवाक्य विधिगत संदिग्ध अर्थों के निर्णायक हैं—"**अक्ताः शर्करा उपदधाति**"[3] आदि वाक्यों से स्नेह -सिक्त शर्करा (मिट्टी युक्त कंकड) के ग्रहण के विधान प्राप्त है। यहाँ पर विधिवाक्य से यह ज्ञात नहीं होता कि शर्करा का अञ्जन घृत से किया जाय अथवा तेल या वसा द्वारा, क्योंकि विधि द्वारा किसी विशेष अर्थ का निर्णय नहीं होता। ऐसी दशा में "**तेजो वै घृतम्**" यह वाक्य यह निश्चय कराता है कि शर्करा का अञ्जन घृत से ही किया जाय।" यहाँ पर वादी की यह शङ्का ठीक नहीं है कि विधि की अपेक्षा अर्थवाद दुर्बल प्रमाण है, इसलिये वह अर्थविशेष का निर्णायक नहीं हो सकता। वस्तुतः इसकी उपयोगिता तो केवल स्तुतिकार्य में ही है। क्योंकि श्रुति द्वारा घृत की स्तुति की गई है, अतः यदि शर्करा के अञ्जन के लिये किसी सामान्य द्रव्य की लक्षणा से कल्पना करेंगे तो लक्षणा के अभिधा की अपेक्षा दुर्बल होने से वह अर्थ उचित नहीं होगा।[4] विधि एवं अर्थवाद की एकवाक्यता के कारण तथा वाक्य के एक भाग से घृत की प्रत्यक्ष स्तुति होने के कारण यह सिद्ध हो जाता है कि ऐसे सन्दिग्ध स्थलों में अर्थवाद विधिगत संदिग्ध अर्थों के निर्णायक होते हैं।

अर्थवादों के कतिपय संदिग्ध स्थल

कुछ ऐसे अर्थवाद स्थल भी प्राप्त होते हैं जहाँ पर यह संदेह होता है कि ये विधि हैं या अर्थवाद। कहने का तात्पर्य यह है ऐसे वाक्यों में विधि एवं अर्थवाद दोनों की सरूपता होने के कारण उनके विषय में शङ्का उठती है। वादी ने ऐसे वाक्यों को गुणविधि माना है जबकि मीमांसाचार्यों नें इन्हें अर्थवाद-वाक्य कहा है। इन वाक्यों की जैमिनि से लेकर खण्डदेवपर्यन्त आचार्यों नें अपने-अपने ढंग से स्तुतिपरकता सिद्ध की है। जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

1. "औदुम्बरो०" आदि वाक्य फलविधि न होकर अर्थवाद है— "सोमापौष्णं त्रैतमालभेत पशुकामः" इस वाक्य से काम्यपशुयाग का विधान

1. द्र०-तन्त्रवार्तिक-पृ० 33
2. जै०सूत्रार्थसंग्रह-पृ०-61
3. तै०ब्रा०3/12/5
4. द्र०-जै० न्यायमाला०- पृ० 67

किया गया है। इसी के समीप **"औदुम्बरो यूपोभवति उर्क् वा उदुम्बर उर्क्पशवः ऊर्जैर्वास्मा ऊर्जम् पशूनाप्नोति[1] ऊर्जोऽवरूध्यै"** यह अर्थवाद प्राप्त होता है। यहाँ वादी का यह कथन ठीक नहीं है कि ये वाक्य फलविधियाँ है, क्योंकि अर्थवादों की विधि के साथ एकवाक्यता तो "विधिनात्वेक०" इस सूत्र से ही सिद्ध हो चुकी है। अतः यहाँ फलविधि नहीं प्रत्युत पशुयाग की स्तुति मानना उचित है। यहाँ "ऊर्कवा०" आदि सम्पूर्ण अर्थवाद स्तुति की ही सिद्धि करते हैं।[2]

वादी का यह कथन भी युक्त नहीं है कि "तादर्थ्ये चतुर्थी" न्याय से "ऊर्जोऽवरुध्यै" में चतुर्थी होने के कारण यह वाक्य फल प्रतिपादक है, क्योंकि "सर्वेभ्योदर्शपूर्णमासौ०" आदि वाक्यों में अन्य कोई गति संभव न होने से लक्षणा द्वारा भले ही उन्हें फल विधि माना गया है; किन्तु यहाँ पर स्तुति रूप अर्थ सम्भव है; अतः यह वाक्य फल को सिद्ध करने वाला नहीं है। क्योंकि यहाँ उदुम्बर ही समीप स्थित है, इसलिये "औदुम्बरं यूपं भावयति" इस विध्यर्थ के अनुसार उदुम्बर ही फल है ऊर्कवरोध की फल रूपता सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि ऊर्गवरोध की प्राप्ति व्यवहित है।

वार्तिककार ने भी कहा है कि प्रकरण प्रमाण से औदुम्बरता ही विधि के रूप में प्राप्त है एवं "ऊर्ग् वा उदुम्बर" आदि अर्थवाद विधि के स्तावक हैं। अतएव जब दोनों के लिये अलग-अलग व्यवस्था है तो एक ही वाक्य को स्तुति मानकर पुनः उसे फलविधि मानने में कल्पना गौरव भी प्राप्त होगा। साथ ही यदि इसे उदुम्बर गुण और ऊर्कवरोध फल दोनों का विधायक मानेंगे तो एक ही वाक्य से दोनों का विधान प्राप्त होने के कारण वाक्यभेद भी प्राप्त होगा। अतः इस वाक्य में भी गुणवाद से प्रशंसा की गई है। यहाँ पर गौणीवृत्ति का निमित्त सारूप्य है। क्योंकि अन्न तृप्ति का कारण है, अतः वह प्रीति का भी साधन है एवं उदुम्बर के फलोत्पादन रूप शक्ति से युक्त होने के कारण उदुम्बर प्रीति का साधन है; अतः प्रशस्त है। इसलिये अन्न की प्रशंसा के द्वारा उपचार से उदुम्बर की प्रशंसा की गई है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सम्पूर्ण वाक्य स्तुतिवचन ही है।[3] पके हुए फल के सम्बन्ध से उदुम्बर को भी "ऊर्क्" कहा जा सकता है।

---

1. तै० सं० 2/1/9
2. "उक्तं तु वाक्यशेषत्वम्" जै० सू० 1/2/2
3. "सर्वत्र च स्तुतिपरत्वात्तदुपायेषु सत्यासत्यान्वेषणं व्यर्थम्। ज्ञानमात्रौपयिकत्वात्। गुणवादेन च संवादात्। साधनत्वेऽपि च प्रीतिसाधनत्वेन तृप्तिहेतुत्वेन वा संवादः।" (तन्त्र० पृ०-41)

"अप्सुयोनिर्वा अश्वो अप्सुजो वेतसः"[1] इसकी उपपत्ति दर्शाते हुए "भाष्यकार" नें कहा है कि कतिपय वाक्य ऐसे हैं जिन्हें यदि विधि माना जायेगा तो उनकी कर्तव्यरूपता सम्भव न होने के कारण विधि ही निरर्थक हो जायेगी। अतः गुणवादन्याय से उनकी स्तुतिपरकता सिद्ध होती है। इसी गुणवाद न्याय से इस वाक्य को स्तुति करने वाला ही मानना चाहिए न कि फलविधि।[2]

औदुम्बर वाक्य को स्तुति मानने का एक हेतु यह भी है कि यदि हम यहाँ पर फलविधि मानते हैं, तो **"यो विदग्धः स नैर्ऋतः, योऽश्रृतः स रौद्रः, यः श्रृतः स दैवतः। तस्मादविदहता श्रपयितव्यः स दैवतत्वाय"**[3] इस दर्शपूर्णमास प्रकरण में आये हुए वाक्य में विधि माननी पड़ेगी; जबकि यहाँ विधि मानने पर जो पुरोडाश विदग्ध हो गया अर्थात् पूरी तरह जल गया हो उसे निर्ऋति देवता वाला मानना होगा और ऐसा होने पर प्रकरण बाधित होगा। क्योंकि दर्शपूर्णमास यागकर्म में नैर्ऋत पुरोडाश प्राप्त ही नहीं है, इसलिये यहाँ विदग्ध विधान निरर्थक होगा।[4]

कहने का तात्पर्य यह है कि विदग्धादि को उद्देश्य करके अन्य देवता का विधान करने पर उत्पत्ति वाक्य से प्राप्त देवता का अपकर्ष होगा। साथ ही प्रकरण में नैर्ऋत देवता का अभाव होने से जहाँ वह विहित है वहाँ पर विदग्धता को ले जाना होगा और इसके विपरीत यदि इसे स्तुतिवचन मानते हैं तो यह अपकर्ष नहीं होगा। इसी प्रकार उदुम्बर वाक्य भी अर्थवाद ही है। जैसा कि खण्डदेव ने कहा भी है- "न च प्रकरणे कर्मान्तरविधिः शङ्क्यः यत्तच्छब्दान्वयानुपपत्तेः। अविदहत श्रपयितव्य इति विध्येकवाक्यत्वसंभवे वाक्यभेदाङ्गीकारायोगाच्च।"[5]

इस अर्थवाद वाक्य में फल विधि इसलिये भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि यदि **"औदुम्बरो यूपो भवति"** को फलविधि मानकर "औदुम्बरं यूपं कुर्वीत" यह वाक्यार्थ मानते हैं तो अर्थवाद सम्बद्ध ऊर्कवरोध की फल के रूप में प्राप्ति होने लगेगी। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी दशा में यदि ऊर्कवरोध को विधि का फल कहते हैं तो "यूप" पद निरर्थक होगा और यदि यूप का फल ऊर्कवरोध है यह मानते हैं, तो "उदुम्बर" पद व्यर्थ होगा। यदि दोनों का फल ऊर्कवरोध को मानते हैं तो, 1- औदुम्वरतया ऊर्कवरोधं कुर्यात्,

1. तै० सं० 5/3/12
2. "विधिश्चानर्थकः क्वचित् तस्मात् स्तुतिः प्रतीयेत तत्सामान्याद् इतरेषु तथात्वम्।" (मी०सू० 1/2/23)
3. तै० सं० 2/6/3
4. द्र०- मी० सू०-1/2/24
5. मी० कौ० - पृ० 48

2. यूपेनोर्कवरोधंकुर्यात्'' ऐसा वाक्यभेद प्राप्त होगा। इसलिये यह सम्पूर्ण वाक्य अर्थवाद है- ऐसा मानने पर ''औदुम्बरयूप प्रशस्त है; इसलिये ऊर्गवरोधन में समर्थ है'' यह वाक्यार्थ प्राप्त होगा। अतः विधि के समान प्रतीत होने वाले सभी अर्थवाद वाक्यों की उपयोगिता विधि की स्तुति में ही है।

औदुम्बर वाक्य की फलविधिरूपता का खण्डन करते हुए माधवाचार्य ने कहा है कि यदि यहाँ फलविधि मानते हैं तो प्रश्न यह उठता है कि ''ऊर्गवरोध'' विहित उदुम्बर का फल है अथवा अविहित उदुम्बर का, क्योंकि बिना अनुष्ठान किये द्रव्यमात्र से फलप्राप्ति संभव नहीं है। यदि विहित का फल मानते हैं तो विधि कल्पित है कि प्रत्यक्ष; क्योंकि ''औदुम्बरो यूपो भवति'' वाक्य में विधायक लिङ् प्रत्यय का श्रवण नहीं होता इसलिये यहाँ प्रत्यक्ष विधि नहीं हो सकती है और यदि विधि की कल्पना करते हैं तो स्तुति द्वारा ही वह कल्पना होगी। अतः स्तुति के द्वारा विधिकल्पना की अपेक्षा इस वाक्य की स्तावकता मानने में लाघव है।[1]

2. ''तेनह्यन्नं क्रियते'' आदि वाक्य भी अर्थवाद ही हैं, हेतु विधि नहीं है—वरुणप्रघास[2] पर्व में **करम्भपात्राणि जुहोति** यह विधि प्राप्त होती है। उसी के समीप **शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नंक्रियते**[3] यह अर्थवाद वचन प्राप्त होता है। इस वाक्य में शूर्प की अन्नसाधनता प्राप्त होने से यह संदेह होता है कि यह वाक्य हेतुविधि है या अर्थवादवचन। यहाँ पर पूर्वपक्षी ने हेतुविधि कहा है; किन्तु यहाँ पर वादी का यह कथन ठीक नहीं है कि इस वाक्य में स्तुति न होकर हेतुविधि है। पूर्वपक्षी के अनुसार यहाँ हेतुविधि मानने में एक कारण यह भी है कि यदि शूर्प को अन्न का साधन मानते हैं तो दर्वी पिठरादि के भी अन्न का साधन होने से उन्हें भी अन्न का साधन मानना होगा।

इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती का कथन है कि शूर्प की अन्नकरणता तो ''क्रियते'' इस प्रत्यक्ष श्रुति से ही सिद्ध होती है, जबकि दर्वी आदि की अन्नकरणता अनुमान अथवा लक्षणा के आश्रय से मानना होगा। अतः शूर्प के

1. अस्तुतोदुम्बरत्वास्याविधानात् कस्य तत्फलम्।
अर्थद्वैधेवाक्यभेदः तेन स्तावक एव सः। [जै० न्याय० वि० पृ० 24]
2. चातुर्मास्य याग में चार पर्व होते है-वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेघ और शुनासीरीय। उनमें वरुणप्रघास पर्व में करम्भपात्रों का होम विहित है। वहीं पर "शूर्पेण जुहोति०" यह वाक्य पठित है। शमीपत्रमिश्रित करीर या खजूर के अङ्कुर ही करम्भ हैं। जबकि सायण ने दधिसिक्त यवक्तव को करम्भ कहा है।
3. (क) ''तत्र प्रीतिरिति क्रियते एवानेनान्नमित्युच्यते।'' (तन्त्र०पृ०- 41)
(ख) ''यदि च हेतुरवतिष्ठेत निर्देशात् सामान्यादिति चेदव्यवस्था विधीनां स्यात्''। (जै०सू०1/2/30)

साथ उनका विकल्प सम्भव नहीं है। इसके साथ ही इस वाक्य में प्रयुक्त "तेन" के द्वारा शूर्प का परामर्श होता है। इसलिये शूर्प की प्राप्ति से ही होम के निराकाङ्क्ष हो जाने के कारण भी दर्वी आदि के अनुमान के लिये अवकाश नहीं रहता। अतः "यद् यदन्नकरणं तेन तेन होतव्यम्" आदि विधियों की कल्पना की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार "शूर्पेणजुहोति" इस विधि की "तेनह्यन्नं क्रियते" आदि वचन से स्तुति ही सिद्ध होती है, हेतुविधिरूपता नहीं सिद्ध होती। यहाँ यद्यपि दर्वी आदि अन्न के हेतु हैं तथापि साधकतमत्व का अभाव होने से वे अन्न के कारण नहीं बनते।[1]

"न विधौ परः शब्दार्थः" इस न्याय से भी "तेनह्यन्न०" वाक्य 'शूर्पेण जुहोति" विधि का अङ्ग सिद्ध होता है। विधि की सिद्धि के लिये लक्षणा का सहारा लेना ठीक नहीं है। वादी की यह शङ्का भी अयुक्त है कि "क्रियते" में वर्तमान का निर्देश होने से यह विधि का स्तावक नहीं हो सकता क्योंकि लोगों में जैसी प्रीति वर्तमान के विषय में होती है वैसी भूत या भविष्य के प्रति नही होती। अतः स्तुति वाक्य में वर्तमान का उपदेश होने पर भी कोई दोष नहीं है। लोक में ऐसे उदाहरण अनेकशः मिलते हैं। यथा— "यह गाय पूर्वप्रसव में बहुत दूध देती थी, अतः वर्तमान प्रसव में भी अधिक दूध देगी" इत्यादि प्रकार से अवर्तमान की स्तुति के लिये वर्तमान का प्रयोग होता है। जैसा कि वार्तिककार नें भी कहा है— कथं स्तुतिः सर्वलोकस्य भूतभविष्यदनादरेण वर्तमानोपकारानुरागात् वर्तमानालोचनेनैव च कालान्तरेऽपि।'

अथवा जैसे लोक में "बलवान् देवदत्त यज्ञदत्तादि को हराता है" आदि कथन देवदत्त से कम बल वालों की अपेक्षा से कहा गया है; न कि सिंह आदि अधिक बलवान् जीवों की अपेक्षा से, वैसे ही अतिशय प्राप्त शूर्प की अन्नकारणता कही गयी है, दर्वी आदि की नहीं। श्रुति द्वारा भी शूर्प की ही अन्नसाधनता प्राप्त होने के कारण "तेन ह्यन्नं०" वाक्य में शूर्प का सामानाधिकंरण्य सिद्ध होता है। यहाँ यदि दर्वी पिठरादि की कारणता मानेंगे तो विधेयों की अव्यवस्था प्राप्त होगी। अतः यहाँ हेतुविधि नहीं अपितु शूर्पविधि की स्तुति मानना ही न्याय है।[2]

कहने का तात्पर्य यह है शूर्प की अन्नकारणता श्रुति से ही निश्चित हो जाने पर तृतीयाविभक्तिरूप करणत्वसामान्य के बल पर यदि दर्वीपिठरादि की कारणता मानेंगे तो विधियों की अव्यवस्था होगी। अतः यह सिद्ध होता है शूर्प की स्तुति होने से "तेन ह्यन्नं क्रियते" यह गौण कथन स्तुतिवाक्य है।

1. द्र०कु०वृ०पृ०-36
2. द्र०ऋजुविमला पञ्चिका II पृ० 50

''शूर्पेण जुहोति'' यह विधि तो ''करम्भपात्राणि जुहोति'' की अङ्गविधि है। उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हेतुविधि के समान पढ़े गये वाक्य अर्थवाद-वाक्य हैं विधि नहीं।

3. प्रकरण सामर्थ्य से ''निवीतं मनुष्याणाम्'' आदि वाक्य अर्थवाद वाक्य हैं—दर्शपूर्णमास प्रकरण में पढ़ा गया **''निवीतं मनुष्याणाम् प्राचीनावीतं पितृणाम्, उपवीतं देवानाम्०''**[1] यह वाक्य अर्थवाद है। यहाँ पर वादी का यह तर्क उचित नहीं है, कि ''मनुष्याणाम्'' में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग विधि के लिये है, अतः यह वाक्य ''निवीत'' का विधान मनुष्य के कर्तव्य के रूप में करता है। षष्ठी के प्रयोग के कारण निवीत अतिथियज्ञ (नित्यकर्म) के समय पुरुष का धर्म होता है। वादी के इस मत का खण्डन करते हुए आचार्य जैमिनि ने कहा है कि प्रकरण सामर्थ्य से ''निवीतं मनुष्याणाम्'' यह वाक्य अर्थवाद सिद्ध होता है।[2] यदि इस वाक्य को हम विधि मानते हैं, तो षष्ठी विभक्ति के सामान्य सम्बन्ध की वाचिका होने से निवीत का सम्बन्ध मनुष्यमात्र से ज्ञात होता है, मनुष्य प्रधान कर्म से नहीं और यदि मनुष्य प्रधान कर्म से इसे सम्बद्ध मानेंगे तो इसका फल कल्पित करना पड़ेगा, क्योंकि यहाँ फल श्रुति से नहीं प्राप्त होता है एवं यदि यहाँ हम आतिथ्यकर्म की फल के रूप में कल्पना करते हैं तो आतिथ्य के प्रकरण प्राप्त न होने के कारण प्रकरण से उसका उत्कर्ष मानना होगा; जबकि प्रकरण प्रमाण से यह वाक्य उपव्यय-विधि की स्तुति सिद्ध होता है अतः यह वाक्य अर्थवाद ही सिद्ध होता है, विधि नहीं।

यहाँ पर विधि इसलिये भी नहीं मानी जा सकती कि **''निवीतं मनुष्याणाम्''** के समीप पठित **''उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते''** इस विधि का अङ्ग होने से विधि के साथ एकवाक्यता प्राप्त करता है।[3] यदि ''निवीतं०'' वाक्य को भी विधि मानते हैं तो वाक्यभेद होगा, क्योंकि विधि कभी विधि के साथ एकवाक्यता नहीं प्राप्त करती। अतः ''निवीतं मनुष्याणाम्०'' आदि वाक्यों को विधि मानने पर विधि के साथ उनकी एकवाक्यता बाधित होगी। इसलिये इस वाक्य में विधि नहीं प्रत्युत मनुष्यों के लिये नित्य प्राप्त निवीत का अनुवाद करके उपवीत की स्तुति की गई है।

इसका कारण यह है कि दर्शपूर्णमासयाग में निवीत का विधान मनुष्य के लिये होने से वह देव कर्म के योग्य नहीं होता। पितरों से सम्बद्ध होने से प्राचीनावीत भी देवकर्म के योग्य नहीं होता। उपवीत देवकर्म के योग्य होने से प्रशस्त है। अतः यह सिद्ध होता है निवीत व्यतिरेक द्वारा उपवीत का स्तावक

1. तै०सं०2/5/11
2. "अर्थवादो वा प्रकरणात्" (जै०सू० 3/4/8-9)
3. "इतश्च न विधिः कुतः विधिनैकवाक्यत्वात्०---।'' (सू०3/4/9 का शा०भाष्य)

है।[1]

स्तुति रूपं प्रयोजन के कारण अर्थवाद सिद्ध हो जाने पर यहाँ विधि कल्पित करना युक्त नहीं है। जिस प्रकार लोक में "जैसे वशिष्ठ की अरुन्धती, शशाङ्क की रोहिणी, नल की दमयन्ती वैसे ही देवदत्त की यज्ञदत्ता है" इस कथन से वशिष्ठ आदि की प्रसिद्ध स्त्रियों की उपमा से देवदत्त की भार्या की प्रशस्तता ज्ञात होती है, वैसे ही यहाँ निवीत और प्राचीनावीत के क्रमशः मनुष्यों और पितरों के लिये होने से वे देवों के प्रति अयुक्त हैं, यह कहकर देवों के लिये उपवीत की प्रशस्तता कही गयी है। अतः यहाँ देवकर्म दर्शपूर्णमासयाग में "उपवीत प्रशस्त होने से धारण करने योग्य है"- यह वाक्यार्थ है।

4. इतिह स्माह० आदि वाक्य गोत्र विधियाँ नहीं प्रत्युत परकृति और पुराकल्प रूप अर्थवाद हैं—इसी प्रकार "**इति ह स्माह बर्कुर्वाष्णो माषान् मे पचति न वा एतेषां हविर्गृह्णन्ति**[2] यह वाक्य बर्कु की गोत्रविधि नहीं बल्कि अर्थवाद है। इन्हें **परकृति** अर्थवाद कहा जाता है। एकपुरुष के कर्तृत्व का विषय होने पर "परकृति" अर्थवाद होता है। यह अर्थवाद "**तस्माद् आरण्यमेवाश्नीयात्**" इस विधि का वाक्य शेष है। यदि "इतिह०" आदि वाक्य को विधि मानेंगे तो इनकी एकवाक्यता नहीं सिद्ध होगी अतः यहाँ परकृति अर्थवाद मानकर विधि के साथ उसका अन्वय करने पर "आरण्य ओषधियों का ही भक्षण करना चाहिए, न कि बर्कुर्वाष्णि के समान ग्राम्य ओषधियों का"— यह वाक्यार्थ प्राप्त होता है। इस प्रकार आरण्य ओषधियों के पाक की प्रशंसा के लिये बर्कुवाष्णि के द्वारा माषपाक की निन्दा की गई है। इस वाक्य में नित्य प्राप्त अर्थ माषपाकनिषेध का अनुवाद है।[3]

इसी प्रकार "**उल्मुकैर्ह स्म पूर्वे समाजग्मुः तान् ह असुरा रक्षांसि निजघ्नुः**" (उल्मुकों-अंगारों के साथ पूर्व पुरुष आये, निश्चय ही उन्हें असुरों और राक्षसों ने मार दिया) यह वाक्य मनुष्य के धर्म अथवा गोत्र की विधियाँ नहीं हैं, प्रत्युत पुराकल्प रूप अर्थवाद हैं। अनेक पुरुष कर्त्ता वाला उपाख्यान "पुराकल्प" कहा जाता है। यह अर्थवाद वाक्य अग्निसन्निवाप विधि का स्तुति वचन है और '**गृहपतेरेव अग्निषु निर्मन्थ्य निर्वपेरन्**" इस विधि का अङ्ग होने से उसके साथ एकवाक्यता प्राप्त करता है। यहाँ पर यदि "उल्मुकै०" वाक्य को गोत्रविधि मानेंगे तो इस विधि के साथ एकवाक्यता न हो सकेगी। ऐसी

1. "न च प्रकरणात्क्रत्वङ्गत्वेन विधिः। वाक्यभेदप्रसङ्गात्। उपवीतं तावद्विधीयते। ------------------ —व्यतिरेकमुखेन स्तावकं निवीतम्।" (जै०न्याय०वि०पृ०-169)
2. द्र०-शत० ब्रा० 1/1/1/10
3. (क) "अर्थवादो वा विधिशेषत्वात् तस्मान्नित्यानुवादः स्यात्" (जै०सू०-6/7/30)
(ख) "न चात्र वार्ष्णिकर्तृको माषपाकः स्तूयते, अन्यस्य स्तावकस्याभावात्। किन्तु वार्ष्णिकृतत्वेन कारणेन माषपाकस्य स्तुतिः।" (शा०दी०पृ०-110)

दशा में इस वाक्य की स्तुत्यर्थता व्यर्थ हो जायेगी। अतः इस वाक्य में भी स्तावकता ही माननी चाहिए। इसकी स्तावकता मानने पर अग्नि का मन्थन करके उससे उत्पन्न अग्नियों का निर्वाप करना चाहिए, घर से उल्मुक अग्नियों का निर्वाप नहीं करना चाहिए''— यह वाक्यार्थ प्राप्त होता है।

5. ''यदष्टाकपालादि०'' वाक्य भी वैश्वानर याग की स्तुति ही करते हैं गुण अथवा कर्मविधान नहीं करते—काम्ययाग प्रकरण में **''वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते''**[1] यह वाक्य पुत्रोत्पत्ति के समय वैश्वानर देवता को उद्देश्य करके याग का विधान करता है। इसी के समीप "यदष्टाकपालो भवति गायत्र्येवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति०'' आदि वाक्यों द्वारा अष्टकपाल, नवकपाल, दशकपाल, एकादश कपाल और द्वादश कपालों के फलों का भी वर्णन किया गया है। यहाँ पर यह संशय होता है कि ये अष्टाकपालादि शब्द अग्निहोत्र, वैश्वदेवादि पदों की भाँति याग की संज्ञा हैं अथवा गुण के विधायक हैं, या अष्टाकपालगुणविशिष्ट ब्रह्मवर्चसादि रूप फल के विधायक हैं या फिर अर्थवाद हैं। पूर्वपक्षी ने इन्हें स्तुतिवचन न मानते हुए 'तत्प्रख्यन्याय' से यागनामधेय माना है।

इसके विपरीत सिद्धान्ती का कहना है कि अष्टाकपालादि वाक्यों के देवता की प्राप्ति किसी अन्य वाक्य से नहीं होती। अतः इन्हें तत्प्रख्यन्याय से याग नामधेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यहाँ पर देवता गुण की प्राप्ति कराने वाला कोई भी मन्त्र अथवा अर्थवाद वाक्य नहीं है।

इस वाक्य द्वारा गुण का विधान मानना भी सङ्गत नहीं है, जब उत्पत्तिवाक्य से ही द्वादशकपाल रूप गुण की प्राप्ति हो रही है तो अन्य उत्पन्न वाक्य अष्टाकपालादि द्वारा पुनः गुणविधान मानना उचित नहीं है। अष्टाकपालादि प्रकरण प्राप्त गुण हैं और द्वादशकपालता विधिवाक्य से प्राप्त है।[2] यहाँ वस्तुतः अष्टाकपालादि पुरोडाशगत संख्या का ज्ञान कराते हैं। इन्हें गुण मानने पर तो इनका कहीं विनियोग संभव न होने से ये व्यर्थ हो जायेंगे। इसलिये इन्हें अर्थवाद मानना उचित है। इन्हें अर्थवाद मानने पर ये वैश्वानर याग के स्तावक सिद्ध होंगे, और व्यर्थ भी नहीं होंगे।[3] साथ ही ऐसा मानने पर अष्टाकपालादि की वैश्वानर यागविधि साथ ही एकवाक्यता भी सिद्ध

1. तै० सं० 2/2/5/3 —"यदष्टाकपालो भवति-----दशकपालो भवति विराजैवास्मिनाद्यं दधाति, यदेकादशकपालो त्रिष्टुभैवास्मिन्निन्द्रियं दधाति, यद्द्वादशकपालो जगत्यैवास्मिन् पशून्दधाति। यस्मिन् जात एवामिष्टिं निर्वपति पूत एवं तेजस्वी अन्नाद् इन्द्रियावी पशुमान् भवति।''
2. द्र०-सूत्र 1/4/18 का शाबरभाष्य
3. ''ततश्च द्वादशत्वमुत्पत्तिवाक्यशिष्टम् इतराणि तु वाक्यान्तरैः प्रकरणापेक्षैर्दुर्बलानि सन्ति न सम्बन्ध्यते।''। (तन्त्र० पृ०314)

होगी।

यहाँ पर वादी की यह शङ्का उचित नहीं है कि विधेय वैश्वानर याग से भिन्न अष्टाकपालादि की इस वाक्य में स्तुति की गई है, अतः इन वाक्यों की विधि के साथ एकवाक्यता संभव नहीं है। क्योंकि वाक्य के एक देश की स्तुति से सम्पूर्ण वाक्य की स्तुति सिद्ध होती है। यहाँ अष्टाकपालादि के द्वारा ब्रह्मवर्चसादि फल की प्राप्ति होने के कारण अष्टाकपालादि प्रशस्त हैं। अष्टत्वादि संख्या विधेय द्वादशकपालगत संख्या से भिन्न नहीं है। अतः इन्हें अर्थवादवाक्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है।[1]

वादी का यह कथन भी उचित नही है कि इन वाक्यों में अष्टाकपालादि गुण एवं ब्रह्मवर्चसादि फल का श्रवण होने से यह वाक्य गुणविशिष्ट फल विधि है, क्योंकि ''गायत्र्यैवेनं'' आदि वाक्यों से फलादि की प्रशंसा की गई है। अतः ''यदष्टाकपाल०'' आदि वाक्य अर्थवाद सहित विधिवाक्य सिद्ध होते हैं। इसका खण्डन करते हुए वार्तिककार ने कहा है कि यहाँ ''पुत्रे जाते द्वादशकपालम्०'' ऐसा प्रारम्भ में श्रवण एवं ''यद्द्वादशकपालो भवति'' ऐसा मध्य में तथा 'यस्मिन् जात एवामू'' ऐसा अन्त में श्रवण होने से सम्पूर्ण वाक्य की एकवाक्यता सिद्ध होती है। यदि अष्टाकपाल० आदि वाक्य को अर्थवाद नहीं मानेंगे तो यह एकवाक्यता बाधित होगी। ब्रह्मवर्चसादि जो फल यहाँ पर कहे गये हैं वह वैश्वानर याग के प्रति है, अष्टत्वादि के प्रति नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इन वाक्यों में अष्टाकपालादि अवयव की स्तुति द्वारा द्वादशकपाल रूप अवयवी की स्तुति लक्षित होती है। अतएव यहाँ पर लक्षणा से वैश्वानर याग की स्तुति सिद्ध होती है।[2]

''न तौ पशौ न सोमे" आदि वाक्य भी निषेधवाक्य न होकर अर्थवाद ही हैं।[3] दर्शपूर्णमास यागप्रकरण में **''आज्यभागौ अग्नीषोमाभ्यां यजति''** इस वाक्य द्वारा आज्यभाग का विधान करके **''न तौ पशौ करोति न सोमे''** आदि वाक्य पढ़े गये हैं। यहाँ पर यह शङ्का होती है कि यह वाक्य प्रतिषेध करने वाला है या पर्युदासपरक है अथवा अर्थवाद वाक्य है। पूर्वपक्षी ने ऐसे वाक्यों को निषेधवाक्य कहा है। अपने मत की पुष्टि में वादी का तर्क है कि ''सोम'' शब्द के साथ ''नञ्'' श्रुति का अन्वय सम्भव नहीं है; इसलिये यहाँ पर नकार का अन्वय क्रिया के साथ होगा। अतः आज्यभाग का अननुष्ठान रूप वाक्यार्थ होने से यहाँ प्रतिषेध ही उक्त है।

वादी का यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिषेध तो यहाँ तब होता,

1. "स्तुतेरपरिमाणत्वात् यावती हि प्रतीयते;
तां सर्वामेकरूप्येण विध्युद्देशः प्रतीच्छति।" (तन्त्र०पृ०315)
2. ''आनर्थक्यादकारणं कर्तुर्हि कारणानि गुणार्थो हि विधीयते।'' (जै०सू०1/4/22)
3. द्र०-जै०सू०10/8/5

जब विधिवाक्य द्वारा सोमयाग में आज्यभाग की प्राप्ति होती, किन्तु यहाँ ऐसी स्थिति नही है। यदि यहाँ प्रतिषेध मान भी लेते हैं, तो विकल्प स्वीकार करना होगा जो कि उचित नहीं है। क्योंकि विकल्प तो वहाँ माना जाता है, जहाँ किसी अन्य प्रकार से उसकी अर्थवत्ता संभव नहीं होती[1]; जबकि यहाँ पर सादृश्य के आधार पर यह गौण कथन सिद्ध होता है। अतः यहाँ अर्थवाद है, प्रतिषेध नहीं।[2]

वादी का यह कथन भी ठीक नहीं है कि विकल्प के अस्वीकार होने के कारण यहाँ पर्युदास मानना चाहिए, क्योंकि कात्यायन के अनुसार विभाषा के नियम से ''सोम'' का ''नञ्'' के साथ समास सम्भव है। अतः यहाँ सोम व्यतिरिक्त यागकर्म में आज्यभाग कर्तव्य रूप से विहित है। वस्तुतः जिस प्रकार पितृयाग के आर्षेयवरण में विधि द्वारा अतिदेश से वरणभिन्न अङ्गसमूह की व्यवस्था प्राप्त होती है, उसी प्रकार यहाँ भी पर्युदास से पर्युदास के योग्य ''सोम'' को छोड़कर अन्य में सामान्यतः आज्यभाग की प्राप्ति होती है। यह प्रसक्ति चाहे अतिदेश से हो या विधि से।

वादी के इस मत का खण्डन करते हुए मीमांसाचार्यों का कथन है कि यहाँ पर्युदास सम्भव नहीं है, क्योंकि ''न तौ०'' इस वाक्य में पर्युदास मानने पर अन्योन्याश्रय का प्रसङ्ग होगा। अतिदेश अथवा विधि द्वारा आज्यभाग की प्राप्ति मानने के लिये अतिदेश द्वारा सोमयाग के अङ्गभूत दीक्षणीयादि में प्राप्त आज्यभाग का पर्युदास होगा और ऐसी दशा में पशुयाग में भी आज्यभाग की प्राप्ति हो जाने के कारण ''न तौ पशौ'' यह वाक्य व्यर्थ सिद्ध होगा। क्योंकि आज्यभाग की पशुयाग में प्रसक्ति ही नहीं है, अतः यहाँ पर पर्युदास मानना ठीक नहीं है।[3] अतएव जिस प्रकार से सोम याग में आज्य भाग की प्रसक्ति नहीं है वैसे ही पशुयाग में भी आज्यभाग का अनुष्ठान नही किया जाना चाहिए- यह वाक्यार्थ है।

तात्पर्य यह है कि यहाँ पर प्रतिषेध नहीं है बल्कि ''नान्तरिक्षे न दिवि'' की भाँति ही यहाँ भी नित्यप्राप्त का अनुवाद है। अतः "न सोमेऽध्वरे" यह वाक्य ''न तौ पशौ करोति'' इस निषेधवाक्य का शेष होने से अर्थवाद वाक्य है।

6. जर्तिलयवाग्वा० आदि वाक्यों में भी नहिनिन्दान्याय से अर्थवाद ही

1. ''यदि उपदेशेनातिदेशेन वाज्यभागौ सोमे प्राप्नुयातां ततो निषेधः स्यात्'' (शा०दी०पृ०467)
2. "पुरैतस्मात्सोमयागाज्यभागा प्रसक्तितः
   न पर्युदासः किंत्वर्थवादो दृष्टान्तवर्णनात्'' (जै० न्याय०पृ०-601)
3. ''तौ न पशौ करोति----इह तु दर्शपूर्णमासप्रकरण इदं वर्तते तत्रेयं वचन-
   व्यक्तिराज्यभागवर्जं- दर्शपूर्णमासौ कुर्यादिति'' (टुप्टीका पृ०-284)

है—अग्निहोत्र याग प्रकरण में पठित **"जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयात् गवेधुकयवाग्वा वा जुहुयात् न ग्राम्यान् पशुन् हिनस्ति, नारण्यान्"** इस वाक्य के पश्चात् **"अनाहुतिर्वैजर्तिलाश्च गवेधुकाश्च"** यह श्रुति प्राप्त होती है, और अन्त में **"पयसाऽग्निहोत्रं जुहुयात्"** यह विधि भी प्राप्त होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि "अनाहुति०" वाक्य प्रतिषेध का विधान करता है अथवा ये वाक्य अर्थवाद हैं? पूर्वपक्षी के अनुसार यहाँ विधि एवं निषेध दोनों की प्राप्ति प्रत्यक्ष श्रुति से हो रही है, अतः यहाँ विकल्प प्राप्त है, क्योंकि "जर्तिल-[1] "यव अथवा गोधूम यवागू से हवन करें "अथवा इन दोनों से भिन्न "केवल दुग्ध द्वारा हवन करे" यह वाक्यार्थ है। यहाँ "आहुति" इस क्रियापद का सम्बन्ध दोनों ही वाक्यों के साथ है, इसलिये यहाँ पर्युदास की सम्भावना नहीं है, क्योंकि एक का विधान मानने पर अन्य की अप्राप्ति होने के कारण पर्युदास व्यर्थ हो जायेगा, अतः यहाँ विकल्प होने से प्रतिषेध ही है।

वादी का उक्त मत तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि यदि इन वाक्यों से भिन्न "पयसा०" यह विधि वाक्य न प्राप्त होता, तो यहाँ प्रतिषेध द्वारा विकल्प संभव था। यद्यपि पूर्ववाक्य भी विधि सदृश प्रतीत होते हैं, किन्तु वाक्य के अन्त में विधि प्राप्त होने से "अनाहुति०" और "जर्तिल०" ये दोनों वाक्य पयोविधि के अङ्ग सिद्ध होते हैं। "जर्तिलयवाग्वा०" आदि वाक्यों में प्रयुक्त "वा" शब्द तो विधि का प्रतिबन्धक होने से विधान में समर्थ नही है और न ही यहाँ "वा" पद विकल्प का विधायक है।[2] यद्यपि ग्राम्य एवं आरण्य पशुओं की हिंसा से रहित होने के कारण जर्तिल और गवीधुक् गुणवान् हैं, तथापि पयोहोम के प्रति वे अनाहुतिस्वरूप हैं। जबकि "दुग्ध" उसके योग्य हैं, क्योंकि **"इत्थं महाभागं पयः"** आदि वाक्यों से उसकी स्तुति की गई है।

तात्पर्य यह है कि जैसे— "अपशवो वा अन्ये०" इस वाक्य में गो की प्रशंसा के लिये अन्य पशुओं की निन्दा की गई है, वैसे ही यहाँ भी पयोहोम की प्रशस्तता बताने के लिये जर्तिलादि को अनाहुति कहते हुए उनकी निन्दा की गई है। अतः यह वाक्य नहि-निन्दान्याय से निषेधपरक न होकर पयोहोम की स्तुति करता है।[3] अथवा जिस प्रकार लोक में "विषमपि वा भक्षयेत् न तु परान्नं भुञ्जीथाः" आदि वाक्यों का तात्पर्य विषभक्षण का विधान नहीं है उसी प्रकार अनाहुति० आदि वाक्यों का प्रयोजन अनुष्ठान रूप नहीं है। अतः ये

---

1. जर्तिला आरण्यास्तिला, गवीधुका आरण्या गोधूमा।"

[जै० न्याय० वि० पृ० 603]

2. द्र०- टुप्टीका - पृ० 285
3. "वस्तुतस्तु-जर्तिलगवीधुक विधिरपि पशुनिन्दाद्वारेण पयः प्रशंसार्थैव न तु विध्यर्थः- पश्वपेक्षया प्रशस्तयोरपि अनयोः पयोऽपेक्षया निन्द्यत्वमेव। अतः पय एव प्रशस्ततरत्वमिति स्तुतिः।" (भाट्टदीपिका पृ० 104 भाग 4)

सम्पूर्ण वाक्य स्तुति द्वारा पयोविधि के साथ एकवाक्यता प्राप्त करने के कारण अर्थवाद वाक्य ही हैं।[1]

इसी प्रकार **"होतव्यमग्निहोत्रं न होतव्यम्०" "अभिधार्या नाभिधार्या०"** आदि वाक्यों में प्रयुक्त "नञ्" श्रुति भी प्रतिषेधपरक नहीं है, जिससे यहाँ "अतिरात्रे०" आदि वाक्यों की भाँति विकल्प की शङ्का की जा सके; अतएव ये सारे वाक्य "नहिनिन्दान्याय" से निषेध-वाक्य के अङ्ग होने से अर्थवाद ही हैं- यह स्पष्ट हो जाता है।

अर्थवाद का लक्षण और भेद

मीमांसकों के मतानुसार विधेय द्रव्य, देवता और यागादि के स्तावक होने से अर्थवादों का धर्म में प्रामाण्य सिद्ध होता है। अध्ययनविधि के द्वारा भी सम्पूर्ण वेद का अर्थज्ञान रूप प्रयोजन पर्यन्त अध्ययन का विधान होने से तथा क्रिया रूप विधि के द्वारा अपेक्षित स्तुत्यर्थता को प्रकट करने के कारण अर्थवादों पर अक्रियार्थता का आरोप नहीं सिद्ध होता। इस प्रकार अर्थवाद स्वतंत्र रूप से स्वार्थ में प्रमाण नहीं है, अपितु विधेय की स्तुति द्वारा वे विधि के उपकारक हैं। विधि स्वयं क्रिया रूप होते हुए भी याग के अनुष्ठान के प्रति पुरुष प्रवर्तन हेतु स्तुति की अपेक्षा रखती है और अर्थवाद उस अपेक्षा की पूर्ति के कारण विधि के अङ्ग सिद्ध होते हैं। अर्थवादों को ब्राह्मण भी कहा गया है।[2] क्योंकि संहिता में प्राप्त विधि का स्तुति रूप कार्य ब्राह्मणों में विस्तार से प्राप्त होता है। शबरस्वामी, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र आदि आचार्यों ने वेद के विधि, अर्थवाद एवं मन्त्र भाग का धर्म में प्रामाण्य वर्णित किया है। इस प्रकार विधेय की स्तुति करने के कारण अर्थवादों की दृष्ट प्रयोजनता सिद्ध हो जाने से अर्थवादों की अक्रियार्थता रूप निष्प्रयोजनता एवं अदृष्टफलकता स्वयं ही खण्डित हो जाती है।[3]

अर्थवाद के भेद

मीमांसकों नें अर्थवाद के मुख्यतः दो भेद स्वीकृत किये हैं-

1- "वायुर्वैक्षेपिष्ठा" आदि रूप विधिशेषार्थवाद 2-"सोऽरोदीत्" आदि रूप

1. "न चेदन्यं प्रकल्पयेत् प्रक्लृप्तौ अर्थवादः स्यात्, आनर्थक्यात् परसामर्थ्याच्च"। (जै०सू० 10/8/7)

विशेष— विकल्प एवं प्रतिषेध तथा निषेध के स्वरूप के विषय में विस्तृत विवरण "निषेध वाक्य" अ० ४ के अन्तर्गत देखें।

2. "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्", "शेषो ब्राह्मणशब्दः"। [जै० सू० 2/1/30-31]
3. "सिद्धप्रमाणभावस्य धर्मे वेदस्य सर्वशः,
विध्यर्थवादमन्त्राणामुपयोगोऽधुनोच्यते।" [तन्त्र०-पृ०-1]

निषेधशेषार्थवाद।

यद्यपि अर्थवाद विधेय की स्तुति द्वारा विधि के उपकारक होते हैं, तथापि निषेध्यपदार्थ यज्ञ में रजतदानादि का निषेध करके भी वे याग का उपकार ही करते हैं। वस्तुतः ये निषेधशेष रूप अर्थवाद "नहिनिन्दा न्याय" से विधि के स्तावक सिद्ध होते हैं।

स्वरूप की दृष्टि से अर्थवादों के पुनः तीन भेद किये जाते हैं-[1]

1. गुणवाद 2. अनुवाद 3. भूतार्थवाद

1. गुणवाद—

गुणवाद वहाँ होता है जहाँ प्रत्यक्षादि किसी अन्य प्रमाण से विरोध प्राप्त हो रहा हो। ऐसी दशा में अभिधा के अर्थप्रतिपादन में समर्थ न होने के कारण गौणी वृत्ति द्वारा लक्षणा से अर्थप्रतिपादन किया जाता है। इस गौणीवृत्ति के गुणवाद का हेतु होने में छह निमित्त हैं[2]- 1. तत्सिद्धि 2. जाति 3. सारूप्य 4. प्रशंसा 5. भूमा 6. लिङ्गसमवाय। जिनका संक्षिप्त विवरण अधोलिखित है-

1. तत्सिद्धि—

यहाँ तत्सिद्धि का तात्पर्य "तत्कार्यकारित्व" है। जैसे "यजमानः प्रस्तरः[3] (यजमान प्रस्तर (कुशमुष्टि) है) इस वाक्य में यजमान के कार्य का सम्पादन ही प्रस्तर में गौणी वृत्ति का निमित्त है। इस वाक्य में यजमान शब्द के दर्भमुष्टि रूप प्रस्तर का विशेषण न होने के कारण यद्यपि दोनों में सामानाधिकरण्य संभव नहीं है, किन्तु प्रस्तर शब्द में स्रुगादिधारण रूप यजमान के गुण का योग है। अतः गौणीवृत्ति से प्रस्तर में स्रुचा-धारणादि मानकर प्रस्तर से यजमान की स्तुति की गई है। प्रस्तर यजमान के स्रुचा धारण आदि कार्यों को सम्पन्न करता है, अतः प्रस्तर का यजमान-कार्यकारित्व सिद्ध होता है।

2. जाति—

जाति का तात्पर्य जन्म अर्थात् उत्पत्ति के कारण से है। जैसे **"एष वा अग्निर्ब्राह्मणः"** इस उदाहरण में ब्राह्मण की स्तुति के लिये अग्नि पद का प्रयोग एकमुखप्रभवत्व के कारण है। क्योंकि **'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत, तमग्निर्देवताऽन्वसृज्यत गायत्रं छन्दः रथन्तरं साम ब्राह्मणो मनुष्याणाम्०**"[4] इस श्रुति

---

1. "विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते
भूतार्थवादः तद्धानात् अर्थवादस्त्रिधा मतः।" (अर्थसंग्रह पृ०-194 से उद्धृत)
2. "तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमालिङ्गसमवायाः।" (जै०सू० 1/4/23)
3. तै०सं० 1/7/4
4. तै०सं०7/1/1

द्वारा "प्रजापतिरकामयत" इस अनुवाक में एक ही प्रजापति के मुख से अग्नि, ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति सुनी जाती है। अतः अग्नि शब्द द्वारा गौणी वृत्ति से ब्राह्मण की स्तुति सिद्ध होती है। इसी प्रकार "**अप्सुजोऽश्वो वेतसः**" आदि वाक्यों में भी गुणवाद का निमित्त जाति ही है।

3. सारूप्य–

सारूप्य "सादृश्य" को कहते हैं। "**यजमानो यूपः**"[1] "**आदित्यो यूपः**[2] आदि वाक्यों में तेजस्विता, ऊर्ध्वगमनत्व आदि गुणों के सारूप्य से यूप की प्रशंसा की गई है। जिस प्रकार यजमान दीक्षादि संस्कारों द्वारा संस्कृत होकर ब्रह्मवर्चसादि से शोभायुक्त होता है, वैसे ही यूप भी तक्षण, अञ्जन आदि से संयुक्त होकर तेज से युक्त सा प्रतीत होता है। अतः यहाँ पर सरूपता ही गुणवाद की प्रवृत्ति का कारण है।

4. भूमा–

जहाँ पर गुणवाद की प्रवृत्ति का कारण प्रयोगगत बाहुल्य हो वहाँ गौणी वृत्ति का निमित्त "भूमा" होता है। जैसे "**सृष्टीरुपदधाति**"[3] इस वाक्य में अर्थवाद का निमित्त भूमा है। इष्टका चयन प्रकरण में पठित इन सृष्टि मन्त्रों में सत्रह में से चौदह मन्त्रों में "सृष्टि" शब्द प्रयुक्त है तीन में नहीं। यहाँ पर "बाहुल्य" गुणवाद का निमित्त है। इसी प्रकार "**तस्माद्धूएवाग्नेर्दिवा ददृशे**"[4] आदि उदाहरणों में भी प्रत्यक्ष विरोध प्राप्त होने के कारण गुणवाद का आश्रय लिया जाता है। यहाँ भी बाहुल्य या भूमा ही गौणी वृत्ति का कारण है।

5. लिङ्गसमवाय–

इष्टका चयन प्रकरण में "**प्राणभृत् उपदधाति**" यह वाक्य भी पढ़ा गया है। इस प्रकरण के पचास मन्त्रों में से तीन में "प्राण" शब्द प्रयुक्त है, अन्य में नहीं। यहाँ पर सभी मन्त्रों के लिये प्राण संज्ञा का प्रयोग लिङ्गसमवाय के कारण है। इस प्रकरण में "अल्पत्व" के कारण लिङ्गसमवाय है। वस्तुतः प्राण के प्रतिपादन की सामर्थ्य ही यहाँ "लिङ्ग" है और सामर्थ्य का सम्बन्ध मात्र "समवाय" कहा गया है। अतः यहाँ पर गुणवाद का निमित्त अल्पत्व रूप लिङ्ग समवाय है। लोक में इसी को "छत्रिन्याय" कहा जाता है।

---

1. का सं० 26/6
2. तै० ब्रा० 2/1/5
3. तै० सं० 5/3/4
4. तै०सं० 5/2/10

इष्टका चयन प्रकरण में **"प्राणभृत् उपदधाति"** यह वाक्य भी पढ़ा गया है। इस प्रकरण के पचास मन्त्रों में से तीन में "प्राण" शब्द प्रयुक्त है, अन्य में नहीं। यहाँ पर सभी मन्त्रों के लिये प्राण संज्ञा का प्रयोग लिङ्गसमवाय के कारण है। इस प्रकरण में "अल्पत्व" के कारण लिङ्गसमवाय है। वस्तुतः प्राण के प्रतिपादन की सामर्थ्य ही यहाँ "लिङ्ग" है और सामर्थ्य का सम्बन्ध मात्र "समवाय" कहा गया है। अतः यहाँ पर गुणवाद का निमित्त अल्पत्व रूप लिङ्ग समवाय है। लोक में इसी को "छत्रिन्याय" कहा जाता है।

इन प्रशंसा निन्दा आदि छह हेतुओं से अर्थवादवाक्यों में लक्षणा कल्पित होने से इन्हें गुणवाद अर्थात् गौणीलक्षणा का सहकारी कारण कहा गया है। इस प्रकार जिन स्थलों पर गुण (द्रव्य-देवता) आदि की स्तुति या निन्दा हो उन्हें "गुणवाद" अर्थवाद की संज्ञा दी गई है।

2. अनुवाद—

जहाँ किसी अन्य प्रमाण से पहले से ही उस विधेय पदार्थ का स्वरूप निश्चित हो ऐसे वाक्यों द्वारा विधेय की स्तुति "अनुवाद" कही जाती है। जैसे **"अग्निर्हिमस्य भेषजम्"**[1] इस वाक्य में प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध अर्थ का अनुवाद किया गया है क्योंकि अग्नि शैत्य को दूर करने में समर्थ है।

किन्तु वासुदेव दीक्षित आदि मीमांसकों ने इसे मन्त्र का उदाहरण कहा है, अर्थवाद का नहीं। उनके अनुसार मन्त्र होने से यह विधि के साथ एकवाक्यता नहीं प्राप्त कर सकता। अतः यह उदाहरण अयुक्त है। इसलिये **"वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता०"** आदि अर्थवाद ही अनुवाद के उदाहरण सिद्ध होते हैं, क्योंकि वायु का शीघ्रगामित्व स्पार्शन रूप प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।

3. भूतार्थवाद—

जिन अर्थवाद वाक्यों का न तो प्रमाणान्तर से विरोध प्राप्त हो रहा हो न ही अन्य प्रमाण से उनका निश्चय हो रहा हो; ऐसे स्थलों पर विधि के साथ एकवाक्यता प्राप्त करने वाले अर्थवादों को "भूतार्थवाद" कहा जाता है। जैसे—**"इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्"**[2] आदि वाक्य। उपनिषद् वाक्य भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। वार्तिककार के मतानुसार भूतार्थवाद के अन्तर्गत ही अचिन्त्यशक्ति परमेश्वर एवं उसके द्वारा निर्मित सृष्टि प्रलयादि भी व्याख्यात हो जाते हैं।[3]

1. तै०सं०7/418/2
2. शत० ब्रा० 1/2/3/3
3. हेतुनिर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः,
   परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना।

वृत्तिकार ने षोडषाध्यायी में अर्थवाद वाक्यों के बारह भेद कहते हैं—

1. इत्याहोपनिबद्ध—

जैसे— "**देवस्य त्वा सवितुः इति स्फ्यमादत्ते प्रसूत्यै**'' इस विधिवाक्य का शेष ''अश्विनोर्बाहुभ्यामित्याह अश्विनो हि देवानामध्वर्यु आस्तां पूषणो हस्ताभ्यामित्याह पत्यै'' यह अर्थवाद वाक्य। इस अर्थवाद के इत्याह पद से संयुक्त होने से इसे इत्याहोपनिबद्ध अर्थवाद कहा गया।

2. इतिकरण बहुलार्थवाद—

जिन अर्थवादों में इतिकरण का बाहुल्य होता है उन्हें इतिकरण बहुलार्थवाद कहते हैं। जैसे—"इत्यददा इत्ययजथा इत्यपच इति ब्राह्मणां गायेत्" आदिअर्थवादवाक्य।

3. आख्यायिका रूपार्थवाद

जिनमें कोई पूर्वकथा वर्णित हो वे आख्यायिका अर्थवाद हैं। जैसे— ''पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्तं तस्मादालब्धान् मेध उदक्रामत सोऽश्वं प्राविशत् तस्माद् अश्वो मेध्योऽभवत्०'' आदि अर्थवाद वाक्य आरव्यायिका रूप हैं।

4. हेतुरूपार्थवाद—

हेतुविधि के सदृश पढ़े गये अर्थवाद ''हेतुरूपार्थवाद'' कहलाते हैं। जैसे— '**शूर्पेण जुहोति**' इस विधि का अङ्गभूत ''**तेनह्यन्नं क्रियते**'' यह अर्थवाद वाक्य।

5. निवर्चनरूपार्थवाद—

जैसे— ''यदेनमधिनोत्तद्दध्नो दधित्वम्''।[1] ''सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुस्यस्य रुद्रत्वम्'' आदि अर्थवाद वाक्य निर्वचनात्मक हैं।

6. निन्दारूपार्थवाद—

जैसे— ''न ब्रह्मा सामानि गायति'' इस विधि के साथ अन्वय प्राप्त करने वाले ''**उपवीता वा एतस्याग्नयः**"[2] आदि अर्थवाद ''निन्दारूप'' है।

7. प्रशंसार्थवाद—

''**वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता**"[3] आदि अर्थवाद प्रशंसारूप हैं। यद्यपि निन्दार्थवाद के अतिरिक्त सभी अर्थवादों में प्रशंसा अर्थ ही विवक्षित रहता है, तथापि इस वाक्य में वायुदेवता की प्रशंसा द्वारा परम्परया विधेय-वायव्य याग की प्रशंसा की गई है। जबकि अन्य स्थलों में साक्षात् प्रशंसा रहती है।

उपमानं दर्शैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु,
एतत्स्यात् सर्वभेदेषु नियतं विधिलक्षणम्।'' सूत्र 2/1/31 के शा०भा० से उद्धृत

1. तै०सं०2/5/3/4
2. मै०सं० 1/4/10
3. तै० सं०2/1/1

8. संशयार्थवाद—

जिन अर्थवादों द्वारा संशय प्रकट किया जाता है वे संशयात्मक अर्थवाद हैं। यथा **"होतव्यम् गार्हपत्येन न होतव्यम्"**[1] आदि वाक्य "संशयात्मक हैं।

9. विधिकल्पकार्थवाद—

विधि के समान प्रतीत होने वाले "यजमानेन सम्मितौदुम्बरी भवति"[2] आदि अर्थवाद "विधिकल्पकार्थवाद" कहलाते हैं।

10. परकृति—

"इतिह स्माह बट्कुर्वाष्णि माषानेव मह्यं पचति" आदि वाक्य "परकृति" रूप अर्थवाद कहे जाते हैं। यह अर्थवाद एककर्तृक होता है।

11. पुराकल्प—

यह अर्थवाद उपाख्यान रूप होता है। **"उल्मुकैः वै हस्म पूर्वे समाजग्मुः तानसुरा रक्षांसि निर्जघ्नुः"** यह अर्थवाद **तस्मादगृहपतेरेवाग्निषु निर्मथ्य निर्वपेरन्"** इस विधि का अङ्ग है। यह "पुराकल्प" अर्थवाद है।

द्विकर्तृकोपारव्यान के उदाहरण में सोमेश्वर भट्ट ने न्यायसुधा में "तावब्रूतोऽग्नीषोमौ आज्यस्यस्यै नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्" इस वाक्य को उद्धृत किया है।

12. व्यवधारणकल्पनार्थवाद—

"यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणाश्चतुष्कपालान् निर्वपेत्"[3] इस वाक्य में विशेष अवधारण कल्पित होने से यह "व्यवधारण-कल्पना" का उदाहरण है। किसी बात का एक प्रकार से निश्चय होने पर उसकी अन्य प्रकार से कल्पना" "व्यवधारण कल्पना" कहलाती है।[4]

वार्तिककार के मतानुसार वेद में अन्य प्रकार से प्रतीत होने वाले अर्थ का पौर्वापर्यलोचन द्वारा विरुद्ध निश्चय करके जो अन्य प्रकार की कल्पना की जाती है, वही व्यवधारण कल्पना है।[5]

13. उपमानार्थवाद—

जिन वाक्यों में साधर्म्य उपमा द्वारा यागादि की प्रशंसा की जाती है वे

---

1. तै० ब्रा०2/1/2
2. तै० सं० 6/2/10
3. तै०सं० 2/3/12
4. द्र०तन्त्रवार्तिक पृ०-417
5. इस सम्बन्ध में गोविन्दस्वामी नें भी अपने भाष्य विवरण में लिखा है—
"अवधार्यान्यथाकल्पना व्यवधारणकल्पना विधिलक्षणमिति विधिशब्दो ब्राह्मणविषयः एतद्वादशकं सर्वत्र वेद ब्राह्मणलक्षणमित्यर्थः"। (सू०2/1/33 का भा०वि०)

''उपमानार्थवाद'' कहे जाते हैं। जैसे **''श्येननभिचरन् यजेत्''** इस श्येनविधि का स्तावक **''यथा वैश्येनो निपत्यादत्ते एवमयं भ्रातृव्यं द्विषन्तं निपत्यादत्ते''** यह अर्थवादवाक्य है। यहाँ पर श्येनपक्षी को उपमान बनाकर श्येनयाग की स्तुति की गई है।

वृत्तिकार द्वारा उदाहृत इन भेदों के अतिरिक्त शङ्करभट्ट नें ''मीमांसाबालप्रकाश'' में आठ भेद कहे हैं—1. आशिष्, 2. प्रलाप 3. परिदेवन 4. प्रैष 5. अन्वेषण 6. प्रश्न 7. प्रतिवचन 8. अनुषङ्ग।

उन्होंने इन भेदों को भाष्यकार एवं वार्तिककार सम्मत कहा है, किन्तु यह भेद भाष्यकार एवं वार्तिककार सम्मत नहीं है। **"तच्चोदकेषु मन्त्राख्या''** एवं **"शेषे ब्राह्मण शब्दः''** इन सूत्रों के व्याख्यान में इन्हें वृत्तिकार के मत के रूप में प्रस्तुत करते हुए उन्होंने अर्थवाद के इन लक्षणों को ''प्रायिक'' कहा है।[1] वस्तुतः भाष्य में प्रदर्शित द्वादश भेदों के अतिरिक्त अर्थवाद के जो आठ भेद शङ्करभट्ट ने परिगणित किये हैं, वे मन्त्र के हैं।

न्यायसुधाकार ने इन भेदों को अव्याप्ति लक्षण दोष से युक्त कहा है। इसका कारण यह है कि इतिकरणबाहुल्यादि द्वादश भेदों में से "सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म'' आदि में कोई भी लक्षण व्याप्त न होने के कारण इन्हें अर्थवाद का सम्पूर्ण लक्षण मानना उचित नहीं है।[2] वस्तुतः भाष्यकारादि द्वारा इन लक्षणों को ''प्रायिक'' कह देने से ''सत्यं०'' आदि वाक्य भी उपलक्षित होते हैं।

इन बीस भेदों के अतिरिक्त शङ्करभट्ट ने अर्थवाद के और भी अनेक भेद कहे हैं तथा उन्हें भाष्यकार एवं वार्तिककार द्वारा अन्य स्थलों पर निरूपित कहा है।[3] वे भेद निम्नाङ्कित हैं—

1. हेतुविधिरूपार्थवाद, 2. साक्षात्विधेयप्रशंसारूपार्थवाद, 3. विधेयतद्विशेषण-व्यतिरिक्त प्रशंसाऽर्थवाद, 4. विधेयव्यतिरिक्त निन्दार्थवाद—इसके दो भेद हैं— (क) विध्यन्तर से अविहित प्रकृत विधेय व्यतिरिक्त की निन्दा करने वाले; (ख) विध्यन्तरविहित प्रकृतविधेय से भिन्न पदार्थ की निन्दा करने वाले अर्थवादवाक्य। 5. फलविधिरूप-अर्थवाद, 6. निषेधफलार्थवाद, 7.फलविधि-सरूपार्थवाद, 8. देवताविधि अर्थवाद, 9. देवताविधिसरूपार्थवाद, 10. द्रव्यविधि अर्थवाद 11.द्रव्यविधिसरूपार्थवाद, 12. जातिविधि अर्थवाद, 13.जातिविधिसरूपार्थवाद, 14. गुणविधिरूपार्थवाद, 15.गुणविधिसरूपार्थवाद, 16. क्रियाविधिरूपार्थवाद, 17. क्रियाविधिसरूपार्थवाद, 18. निमित्तविधि

---

1. तन्त्र० पृ०416
2. द्र०- न्यायसुधा
3. ''अतो अन्ये सम्भवन्तो क्वचित् केचिन्निरूपिताः
भाष्यवार्तिककाराद्यैः तान्भेदानभिदध्महे।'' (मी० बाल०पृ० 52)

अर्थवाद, 19.निमित्तविधिसरूपार्थवाद, 20. कर्तृविध्यर्थवाद, 21.कर्तृविधिसरूपार्थवाद, 22.कालविधि अर्थवाद, 23. कालविधिसरूपार्थवाद, 24. देशविधिरूपार्थवाद, 25. देशविधिसरूपार्थवाद, 26. निषेधविध्यर्थवाद, 27.निषेधविधिसरूपार्थवाद, 28. संदिग्धार्थ उपादान-निर्णायकार्थवाद, 29. संदिग्धार्थ शक्तिग्राहकार्थवाद, 30. उपमानार्थवाद।

श्रीकृष्ण यज्वा ने अर्थवाद के चार भेद कहे हैं—

1. निन्दार्थवाद, 2. "प्रशंसार्थवाद, 3. परकृति, 4. पुराकल्प[1]

उपर्युक्त सारे भेद वस्तुतः अर्थवाद के नहीं है अपितु उदाहरण भेद हैं। स्वरूपतः तो अर्थवाद के गुणवाद, अनुवाद एवं भूतार्थवाद ये तीन भेद हैं। इन तीन भेदों के अन्तर्गत ये सारे भेद समाहित हो जाते हैं। जहाँ अर्थवादों की विधि के साथ एकवाक्यता अभिधाश्रुति से सम्भव नहीं होती वहाँ गौणीगर्भलक्षणा से वे विधि के अङ्ग बनते हैं। अन्य स्थलों पर वे श्रौतार्थ के द्वारा ही विधि के उपकारक बनते हैं। जहाँ पर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उनका अविरोध प्राप्त होता है, वहाँ वे भूतार्थकथनमात्र द्वारा विधिवाक्यों के उपकारक होते हैं।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि कि प्रवृत्तिवाचक लिङादि प्रत्यय से युक्त विधिवाक्यों की स्तुति द्वारा पुरुषप्रवर्तन रूप प्रयोजन को सिद्ध करने के कारण अर्थवादवाक्य विधिवाक्यों के पूरक हैं। अर्थवादों का कोई पृथक् प्रयोजन न होकर विधिसापेक्ष प्राशस्त्य ही उनका प्रयोजन है। जिस प्रकार विधि की अध्ययन-अनध्ययन, अध्यापन और शिष्य-गुरुपरम्परा प्रचलित है, वैसा ही आदर अर्थवादों का भी प्राप्त होने के कारण ये दोनों समान प्रयोजन वाले सिद्ध होते हैं। अतः विधि की भाँति अर्थवाद भी अपौरुषेय हैं, अनित्य अर्थात् पौरुषेय नहीं है।

वृत्तिकार, शङ्करभट्ट एवं अन्य आचार्यों द्वारा जिन उदाहरणों को अर्थवाद का भेद कहा गया है, वे उदाहरण भेद मात्र है। वस्तुतः अर्थवादों के समस्त उदाहरण गुणवाद, अनुवाद एवं भूतार्थवाद इन तीन श्रेणियों में आ जाते हैं। जहाँ कहीं शास्त्र अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध कथन प्रतीत होता है—वह गुणवाद से सङ्गत होता है, न कि विरुद्ध प्रदर्शनपरक, क्योंकि अर्थवाद विधेय द्रव्य, देवता अथवा याग की साक्षात् या परम्परया स्तुति करके पुरुष प्ररोचना द्वारा विधि के उपकारक बनते हैं। अतः वे विधि के

1. विस्तृत विवरण के लिये द्र० मी० परि० की आशु० पृ० 169-176

अङ्ग ही सिद्ध होते हैं, प्रमादपाठ नहीं सिद्ध होते।

विधि के अङ्ग होने के कारण अर्थवादों पर अक्रियार्थता का दोषारोपण उचित नहीं है। कतिपय स्थलों पर अर्थवाद संदिग्धार्थ-निर्णायक होते हैं। ऐसे स्थलों पर वे विधि की स्तुति द्वारा धर्म में प्रमाण नहीं बनते, जबकि अन्य स्थलों पर विधि की स्तुत्यर्थता द्वारा ही वे धर्म के प्रति प्रमाण बनते हैं।

"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस अध्ययन विधि के अनुसार अर्थवाद वाक्य वेद के अङ्ग सिद्ध होते हैं। वेद के विधिभाग के अन्तर्गत अर्थवाद भी गृहीत होते हैं। इन्हीं को ब्राह्मण कहा जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थवाद निष्प्रयोजन नहीं है बल्कि साक्षात् अथवा परम्परया स्तुति द्वारा विधि के अङ्ग हैं, एवं वेद के विधिभाग की भाँति ही अपौरुषेय हैं। वेद के समग्र अर्थ को न समझने के कारण उन्हें निष्प्रयोजन कहना भ्रान्तिमूलक हैं। अतः यह सिद्ध हो जाता है अर्थवाद विधि के साथ एकवाक्यता प्राप्त करने के कारण क्रियार्थक हैं।



द्वितीय अध्याय

मन्त्र-वाक्य

1. मन्त्रवाक्य का स्वरूप और उपयोगिता

अर्थवादवाक्यों के पश्चात् अतिशय महत्त्वपूर्ण वेदभाग मन्त्र हैं। वेदों का पदार्थस्मारक भाग ही मन्त्रवाक्यों के रूप में प्रसिद्ध हुआ। यागादि कर्म के अनुष्ठान से सम्बन्धित द्रव्य, देवतादि की सामर्थ्य के स्मारक वेदवाक्य मन्त्र कहे गये। यद्यपि **"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"** इस नियम के अनुसार मन्त्रों का प्रामाण्य भी सामान्य रूप से सिद्ध है, तथापि विधिवाक्यों की भाँति मन्त्रों का विधायकत्वेन उपयोग संभव नहीं है। मन्त्रवाक्य न तो विधिविहित अर्थों के ही अनुवादक हैं और न ही स्तावकत्वेन वे विधि-वाक्य के अङ्ग सिद्ध होते हैं, क्योंकि अर्थवादवाक्यों की भाँति मन्त्रों की विधि के साथ एकवाक्यकता न होने से उनका विध्यङ्गत्व भी नहीं सिद्ध होता। यागकर्मों के अनुष्ठानकाल में अनुष्ठान से सम्बद्ध क्रिया अथवा क्रिया के अङ्गभूत द्रव्य, देवता आदि अर्थों का स्मरण कराने वाले वेदवाक्य मन्त्र कहे जाते हैं। यद्यपि अनुष्ठेय कर्मों के द्रव्य देवतादि का यह स्मरण ब्राह्मणवाक्यों तथा स्मृतियों आदि के द्वारा भी हो सकता है, तथापि **"मन्त्राणि स्मृत्वा कर्माणि कुर्वीत"** इस नियमविधि के अनुसार यागकर्मों से सम्बन्धित द्रव्य, देवतादि का स्मरण मन्त्रों के द्वारा ही किये जाने का विधान प्राप्त होता है। इसलिये मन्त्रों द्वारा यागसम्बन्धी अर्थों का स्मरण कार्य न किये जाने पर नियमापूर्व की उत्पत्ति नहीं होगी। इसके साथ ही यदि मन्त्र से भिन्न स्मृति आदि अन्य उपायों से यह अर्थप्रकाशन रूप कार्य किया जाएगा तो, उन-उन यागकर्मों के प्रकरण में पढ़े गये मन्त्रवाक्य व्यर्थ हो जायेंगे; जबकि स्वाध्यायविधि से सम्पूर्ण वेदभाग का अर्थज्ञान सहित अध्ययन विहित है। अतः अर्थज्ञानपूर्वक पदार्थ स्मरण ही मन्त्रों का प्रयोजन है। तात्पर्य यह है कि मन्त्रों का कार्य अदृष्टोत्पत्ति मात्र न होकर अर्थज्ञानसहित अर्थप्रकाशन रूप दृष्ट प्रयोजन की प्राप्ति है।

अनुष्ठान काल में कर्मज्ञान के बिना अनुष्ठान संभव नहीं है। मन्त्र ही वह साधन है जो यागकर्म के उपयोगी अर्थों का ज्ञान कराता है; जिससे विधि का विनियोग कार्य सम्पादित होता है। जहाँ पर मन्त्रों का अर्थप्रकाशन रूप दृष्ट प्रयोजन संभव नहीं होता उन मन्त्रों जैसे—'हुं', 'फट्' आदि (जपमन्त्रों) में इनका अदृष्ट प्रयोजन है; जबकि अन्य स्थलों पर ये दृष्ट प्रयोजन वाले ही सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार से विधिवाक्यों की विधायक रूप से अर्थवत्ता है उसी प्रकार मन्त्रवाक्य यागकर्म सम्बन्धी पदार्थों के स्मारक रूप कार्य के कारण उपयोगी हैं। अतः विधि के अभीष्ट अर्थों का प्रकाशन करने के कारण

मन्त्रवाक्य धर्म के प्रति प्रमाण हैं- यह सिद्ध होता है।

2. मन्त्रवाक्य का प्रामाण्य

कौत्स[1] प्रभृति वादी विद्वानों ने मन्त्रों के सम्बन्ध में निष्प्रयोजनता रूप से जो आक्षेप किया है, उसका खण्डन अध्ययन विधि से ही हो जाता है। फिर भी यह प्रश्न उठता है कि ये मन्त्र उच्चारण मात्र से अदृष्ट के उत्पादक होने के कारण क्रत्वङ्गता प्राप्त करते हैं या अनुष्ठेय अर्थों के प्रकाशन रूप दृष्ट फल के द्वारा।

पूर्वपक्ष के मतानुसार मन्त्रों का अर्थ अविवक्षित है अर्थात् मन्त्र अनुष्ठेय अर्थों के प्रकाशक नहीं हैं, क्योंकि यदि मन्त्रों का अर्थप्रकाशन प्रयोजन मानेंगे तो वह अनर्थक होगा और मन्त्रभाग के निरर्थक होने पर सम्पूर्ण वेदभाग के निरर्थकता की आपत्ति होगी। मन्त्र जिन अर्थों को प्रकाशित करते हैं वे विनियोग विधि, ब्राह्मण तथा कल्पसूत्रादि उपायान्तर से भी प्रकाशित हैं। अतः मन्त्रोच्चारणजन्य अर्थप्रकाशन का आश्रय लेकर नियमादृष्ट कल्पित करने की अपेक्षा उच्चारणमात्र से अदृष्ट कल्पित करने में लाघव है। इसलिये मन्त्र अविवक्षित अर्थ वाले हैं, तथा उच्चारणमात्र से अदृष्टफल रूप प्रयोजन की सिद्धि करते हैं। अपने पक्ष के समर्थन में पूर्वपक्षी अनेक हेतु भी प्रस्तुत करते हैं, वे हेतु निम्नलिखित हैं—

पूर्वपक्ष—

1. मन्त्रों का अर्थप्रकाशन रूप दृष्ट प्रयोजन नहीं है क्योंकि मन्त्र द्वारा प्रकाशित अर्थ ब्राह्मणवाक्य द्वारा पूर्व से ही प्रकाशित (ज्ञात) रहते हैं।[2] जैसे-दर्शपूर्णमास प्रकरण में "**उरु ते प्रथस्व उरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्**"[3] यह मन्त्र पठित है, पुनः ब्राह्मणग्रन्थ में कहा गया है—"उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति"[4] यहाँ मन्त्रार्थ विवक्षित नहीं है। यदि यहाँ पर मन्त्रार्थ को विवक्षित

---

1. महायाज्ञिक कौत्स का वस्तुतः कोई अलग ग्रन्थ हमें नहीं प्राप्त होता किन्तु "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्" (जै० सू० 1/1/1) सूत्र के वास्तविक अर्थ का ज्ञान न होने के कारण मन्त्रादि के सम्बन्ध में उस समय अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई थीं। इन्हीं के आधार पर याज्ञिकों ने सभी वेदवाक्यों का विनियोग कल्पित कर लिया था। सम्भवतः इसी से प्रभावित होकर कौत्स ने मन्त्रों को निरर्थक कहा था। इसका उल्लेख हमें यास्क के निरुक्त में पूर्वपक्ष के रूप में मिलता है — "यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनाय अनर्थकं भवतीति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्रा तदेतेनोपेक्षितव्यम्।"

[निरुक्त 1/5/15 पृ० 38]
2. "तदर्थशास्त्रात्" [जै० सू० 1/2/31]
3. तै० सं० 1/1/8/1
4. तै० ब्रा० 3/2/4

मानेंगे तो लिङ्ग से ही विनियोग सिद्ध हो जाने के कारण मन्त्रवाक्य निरर्थक होगा। यहाँ पर यह कहना ठीक नहीं है कि; यह कथन अर्थवाद के लिये है, क्योंकि अर्थवाद सदैव विधि का वाक्यशेष (अङ्ग) होता है। अतः विधिनिरपेक्ष अर्थवाद द्वारा भी प्रयोजन सिद्धि संभव नहीं है।

2. इसी प्रकार अग्निचयन प्रकरण में **"आददेऽङ्गिरस्वत्"** अन्त वाले **'देवस्य त्वा'**, **'अभ्रिरसि'**, **'बभ्रिरसि'** एवं **'हस्तआदाय'**[1]— ये चार मन्त्र पढ़े गये हैं। इन मन्त्रों का विनियोजक **"तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते"**[2] (अर्थात् उन चारों मन्त्रों से अभ्रि का ग्रहण करें) यह ब्राह्मणवाक्य है। यहाँ यदि मन्त्रों को विवक्षितअर्थ वाला मानेंगे तो अभ्रयादान विनियोजक यह ब्राह्मणवाक्य व्यर्थ हो जायेगा। यहाँ यह सिद्धान्त भी अयुक्त है कि **'चतुर्भिरभ्रिमादत्ते'** कथन अरुणैकहायनी न्याय से चतुःसंख्या विधान के लिये है, क्योंकि यदि 'अरुणैकहायनीन्याय' से चतुःसंख्या विधान हेतु 'चतुर्भिः' इस कथन को मानेंगे तो प्रश्न यह उठता है कि वह विधान मन्त्र को उद्देश्य करके है या आदान को उद्देश्य करके? ब्राह्मणवाक्यगत 'चतुःसंख्या' का मन्त्र के साथ सामानाधिकरण्य न होने से मन्त्र को उद्देश्य करके यह विधान सम्भव नहीं है। इसी प्रकार 'आदान' को उद्देश्य करके भी यह विधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि यागकर्म के साथ सामानाधिकरण्य न होने से 'तिस्र आहुती' की भाँति यहाँ पर संख्या का आदान के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता एवं समुच्चय बोधक शब्द का अभाव होने से चतुःसंख्या का विधान भी ब्राह्मण वाक्य द्वारा सम्भव नहीं है। यदि प्रत्येक मन्त्र के सामर्थ्य से विधान को स्वीकार करेंगे तो विकल्प की प्राप्ति होगी। अतः यहाँ पर विधि का प्रयोजन चतुःसंख्याक "देवस्य त्वा" आदि मन्त्र को आदान का अङ्गमात्र सिद्ध करना है।

3. 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य'[3] इस मन्त्र का विनियोजक वाक्य **"इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य इत्यश्वाभिधानीमादत्ते"**[4] है। मन्त्रों का विवक्षितार्थत्व मानने पर रशनाग्रहण लिङ्ग से ही प्राप्त होगा और रशनाग्रहण में ब्राह्मणवाक्य की जो विनियोजकता है वह चरितार्थ नहीं हो सकेगी। यहाँ सिद्धान्ती का यह कथन ठीक नहीं है कि यहाँ 'गर्दभरशनाग्रहणनिवृत्ति' के लिये परिसंख्या का आश्रय लिया गया है, क्योंकि ऐसा होने पर "अश्वाभिधानीमादत्ते" इस वाक्य से प्राप्त अश्वरशनाग्रहण रूप स्वार्थ का परित्याग करना होगा। गर्दभरशनानिवृत्तिरूप परार्थ को स्वीकार करना होगा एवं गर्दभरशनाग्रहण में प्राप्त मन्त्रवाक्य का

1. तै० सं० 4/1/1, "अभ्रिः कुद्दालविशेषः" द्र०- कु० वृ० पृ० 38
2. तै० सं० 5/1/1
3. तै० सं० 4/1/2
4. शत० ब्रा० 13/1/21

बाध होगा; जिससे दोषत्रयापत्ति होगी।[1] मन्त्रों की विवक्षितार्थता सिद्ध न होने से "**बर्हिर्देवसदनं दामि**" आदि मन्त्र भी बर्हिछेदन क्रिया में प्रमाण नहीं सिद्ध होते हैं अतः मन्त्रों का क्रियाबोधन रूप अर्थ स्वीकार करना युक्त नहीं है।

4. मन्त्र इसलिये भी निंरर्थक हैं, क्योंकि मन्त्रों का पदविन्यास नियमबद्ध है।[2] जैसे—"**अग्निर्मूर्धादिवः ककुदः**"[3] इस वाक्य में मन्त्रक्रम के विपरीत 'मूर्धाग्नि' आदि रूप में पाठ किये जाने पर उच्चारणजन्य 'अदृष्ट' नहीं उत्पन्न होता, यदि अर्थप्रकाशन ही मन्त्रों का प्रयोजन होता तो विपरीत क्रम से पाठ होने पर अदृष्टोत्पत्ति निर्बाध रूप से होती। यहाँ पर यह उदाहरण युक्त नहीं है कि लोक में भी अर्थवान् पदों में क्रमनियम देखा जाता है। वस्तुतः लौकिक पदों में भी यदि व्याकरणिक नियमों की अवहेलना करके विपरीत प्रयोग किया जाय तो उनका कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। जैसे— 'राजपुरुषः' आदि पदों में 'षष्ठी के'[4] नियम के विपरीत यदि 'पुरुषराज' उच्चारित किया जाय तो वह वाञ्छित अर्थ नहीं प्रकट करेगा। अतः लोक में ऐसा नियम भले ही युक्त हो किन्तु वेद में ऐसा मानना ठीक नहीं है।

5. मन्त्रार्थ इसलिये भी अविवक्षित सिद्ध होते हैं, क्योंकि मन्त्रों में शास्त्रान्तर से ज्ञात अर्थों का ही नियमन प्राप्त होता है।[5] यथा—"**अग्नीदग्नीन् विहर**"[6] (हे अग्नीध्र-ऋत्विक् विशेष तुम अग्नि लेकर विहरण करो), इस मन्त्र में जो प्रैष है उसका ज्ञान ऋत्विज् को विधि के अभ्यास के समय '**आग्नीध्राद्धिष्णियान् विहरति**" आदि वाक्यों से पहले हुआ रहता है, क्योंकि अविद्वान् (अज्ञ) पुरुष यागसम्पादन में नहीं अधिकृत होता। "न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति" इस जैमिनिसूत्र से भी यही पुष्टि होती है।

6. मन्त्रों की अनर्थकता इस हेतु से भी सिद्ध होती है कि वे अविद्यमान अर्थ का कथन करते हैं।[7] अर्थात् उन्हें विवक्षित अर्थ वाला मानने पर ऐसे पदार्थों को मानना पड़ेगा जो पदार्थ लोक में हैं ही नहीं। जैसे—"**चत्वारि श्रृङ्गा त्रयोऽस्यपादा**' आदि मन्त्रों में वर्णित चार सींग, तीन पैर और सात हाथों वाला यज्ञपदार्थ इस लोक में कहीं उपलब्ध नहीं है।[8] अतः इस मन्त्र को विवक्षित

---

1. जैसी कि उक्ति है—
   "श्रुतार्थस्य परित्यागात् अश्रुतार्थप्रकल्पनात्।
   प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा।"
2. "वाक्यनियमात्' जै० सू० 1/2/32
3. तै० सं० 4/4/4/
4. पा० सू० 2/2/8
5. द्र०- जै० सू० 1/2/33
6. तै० सं० 6/3/5/
7. "अविद्यमानवचनात्" जै० सू० 1/2/34
8. "न चतुश्रृङ्गा किञ्चित् कर्म तत्सम्बन्धि प्रकृतौ विकृतौ वा विद्यते। यद्यपि च

अर्थ वाला मानने पर इसके द्वारा किस पदार्थ का कथन माना जायेगा। इसलिये यहाँ मन्त्रक्रम एवं पाठक्रम के अनुरोध से उच्चारणजन्य अदृष्ट प्रयोजन मानना ही उचित है।

इसी प्रकार **"मा मा हिंसीः"** आदि मन्त्रों का अर्थज्ञान रूप प्रयोजन मानने पर अप्रसक्त हिंसा का प्रतिषेध स्वीकार करना होगा।

7. मन्त्र इसलिये भी निरर्थक हैं, क्योंकि **'ओषधे त्रायस्वैनं'**[1], **"शृणोतग्रावाणः"**[2] आदि मन्त्रों में अचेतन पदार्थों को सम्बोधित किया गया है। अचेतन पदार्थ का अभिमुखीकरण सम्भव नहीं है, क्योंकि अचेतन दर्भ द्वारा यजमान की रक्षा सम्भव नहीं है। इसी प्रकार प्रातरनुवाकश्रवण में[3] प्रस्तर में श्रवण आदि रूप प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती। अतः अर्थविवक्षा मानने पर ये मन्त्र निरर्थक हो जायेंगे।

8. मन्त्रों का अर्थ इसलिये भी विवक्षित नहीं सिद्ध होता, क्योंकि **"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्"** [4] आदि मन्त्र परस्पर विरुद्ध अर्थ का कथन करते हैं।[5] इसी प्रकार **"एको रुद्रो न द्वितीयो अवतस्थे असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्"**[6] आदि उदाहरणों में भी विरोधी अर्थ प्राप्त होते हैं। अदिति का द्युत्व और अन्तरिक्षत्व एवं रुद्र का एकानेकत्व आदि परस्पर विरोधी अर्थ कर्म में उपयोगी नहीं हो सकते। यहाँ पर अर्थवाद भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अर्थवाद के विधि का अङ्ग होने से वे स्तुति प्रयोजन वाले हैं; जबकि मन्त्र की स्तुति निष्प्रयोजन होने से आदरयोग्य नहीं है। मन्त्रों का उच्चारणमात्र से अदृष्ट प्रयोजन मानने पर यह विरोध नहीं रहेगा।

9. मन्त्रार्थ विवक्षा इसलिये भी स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि स्वाध्यायविधि की भाँति अर्थप्रकाशन के अभ्यास की कोई विधि नहीं प्राप्त होती।[7] यदि अर्थप्रकाशन आवश्यक होता तो उसके अभ्यास का भी विधान होता। यथा-माणवक के अवहनन सम्बन्धी मन्त्र के अभ्यासकाल में पूर्णिका नामक स्त्री व्रीहि अवहनन क्रिया कर रही थी, किन्तु माणवक के अभ्यास और पूर्णिका के अवहनन कर्म के समकालिक होने पर भी माणवक उस कर्म का अभ्यास न करके अक्षरानुपूर्वी अवधारण में ही प्रयत्न करता है। अतः 'उच्चारण' से ही

गुणवादेन किञ्चित् स्यात्, तथापि तदनुष्ठानाभावान्न तत्स्मृत्या कार्यम्। न च ज्ञायते क्वप्रदेशे प्रयुज्यतामिति।" [त० वा० पृ० 54]

1. तै० सं० 1/2/1
2. तै० सं० 1/3/13
3. "ज्योतिष्टोमे प्रातस्सवने होत्रा पठ्यमानशस्त्रविशेषः।" [मी० कौ० प्र० 65]।
4. ऋ० सं० 1/6/16
5. द्र०- जै० सू० 1/2/36
6. तै० सं० 1/8/6
7. "स्वाध्यायवदवचनात्" जै० सू० 1/2/36

मन्त्र का प्रयोजन सिद्ध होता है।

10. मन्त्र इसलिये भी अविवक्षितार्थ सिद्ध होते हैं क्योंकि **"अम्यक् साते इन्द्र ऋष्टिरस्मे"**[1], **"सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू"**[2] इत्यादि मन्त्र किस पदार्थ के प्रकाशक हैं, यह नहीं ज्ञात होता। यद्यपि 'अम्यक्' इस वाक्य से इन्द्र की स्तुति रूप सामान्य अर्थ ज्ञात होता है, किन्तु 'सृण्येव' आदि का तो सामान्य अर्थ भी नहीं ज्ञात होता। अतः इनसे किस अर्थ का कथन सिद्ध होगा।[3]

11. मन्त्रों में अनित्य पदार्थों का संयोग वर्णित होने से भी मन्त्र निरर्थक हैं।[4] तात्पर्य यह है कि यदि मन्त्रों का अर्थ प्रकाशन कार्य मानेंगे तो **"किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः"**[5] आदि मन्त्रों में वर्णित कीकट जनपद, नैचाशाख नगर, प्रमगन्द राजा आदि अनित्य पदार्थों के पश्चात् मन्त्रनिर्माण कार्य मानना होगा जिससे मन्त्र पौरुषेय सिद्ध होंगे। अतः अनित्यता दोष से मुक्ति के लिये भी मन्त्रों को केवल उच्चारणरूप प्रयोजन वाला मानना उचित है, अर्थप्रकाशन रूप वाला नहीं।

मन्त्रों का अर्थस्मारकत्वेन प्रामाण्य मानने में एक दोष यह भी है कि ऐसा मानने पर साममन्त्र के अर्थविहीन होने से वह मन्त्रलक्षण के अन्तर्गत गृहीत नहीं होंगे। अतः मन्त्रों की उच्चारण द्वारा अदृष्टफलकता माननी ही उचित है।[6]

सिद्धान्त

मीमांसा-सिद्धान्त के अनुसार मन्त्रों का स्वरूप एवं उपयोगिता निम्नांकित है—

1. लौकिक वाक्यों की भाँति वैदिक वाक्य भी अर्थ के प्रकाशक हैं–जिस प्रकार लोक में सभी यथार्थ पद विवक्षित अर्थ वाले होते हैं। उसी प्रकार वेद में भी पदों का अर्थ विवक्षित होता है।[7] पदार्थ ज्ञान से वाक्यार्थ ज्ञान होता है। वह वाक्यार्थ वाक्य में प्रयुक्त क्रिया एवं कारक का सम्बन्ध है। यहाँ पर यह शङ्का करनी ठीक नहीं है कि मन्त्रों के उच्चारण से अदृष्ट प्रयोजन की ही

---

1. ऋ० सं० 1/169/3
2. ऋ० सं० 8/6/2
3. द्र०- जै० सू० 1/2/38
4. 'अनित्यसंयोगात्' जै० सू० 1/2/39
5. "किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुहे न तपन्ति धर्मम्।
   आ नो भर प्रमगन्दस्य राजा नैचाशाखं मघवन् रन्धयानः।" [ऋ ० सं० 3/3/21]
6. "यदि दृष्टार्थतैव स्यात् मन्त्राम्नानमनर्थकम्,
   प्रत्यायनाददृष्टं चेत्तदुच्चारणतो वरम्।" [शा० दी० प्र० टीका सहित पृ० 23]
7. द्र०- जै० सू० 1/2/3

सिद्धि होती है। अदृष्ट कल्पना तो वहाँ करनी चाहिए, जहाँ दृष्ट प्रयोजन न दृष्टिगत हो। मन्त्रों द्वारा अनुष्ठेय यागादि कर्मों से सम्बद्ध द्रव्य, देवता आदि का स्मरण (उपस्थित) होने से उनकी दृष्टफलकता ही प्राप्त होती है। मन्त्रों की अदृष्टफलकता का कोई हेतु न प्राप्त होने से उनकी अदृष्टार्थता मानना युक्त नहीं है।

"यस्य दृष्टं न लभ्येत स्यात्तस्यादृष्टकल्पना,
अनुष्ठेयस्मृतेश्चेह मन्त्रोच्चारणमर्थवत्।
स्मरणञ्च प्रयोगार्थं प्रयोगाच्च फलोदयः,
एवं दृष्टार्थतालाभान्नादृष्टपरिकल्पना।"[1]

वस्तुतः मन्त्रों का प्रयोजन यज्ञ से सम्बन्धित अङ्गों का प्रकाशन है। यज्ञ में मन्त्रोच्चारण अर्थज्ञान के लिये होता है, क्योंकि अर्थज्ञान के बिना यागादि क्रिया का स्मरण नहीं होगा और अर्थस्मरण के बिना यागकर्म सम्पादित नहीं हो सकेगा। अतः मन्त्रों का अर्थज्ञान रूप दृष्ट फल मानना अनिवार्य है। मन्त्रोच्चारण के अक्षरग्रहण मात्र से ही निराकाङ्क्ष हो जाने पर वे साक्षात् रूप से यागाङ्गता नहीं प्राप्त कर सकेंगे। इसी प्रकार वाक्यार्थ-ज्ञान से निराकाङ्क्ष पदार्थ ज्ञान भी क्रत्वङ्गता नहीं प्राप्त करता, क्योंकि वाक्यार्थ ज्ञान को कृतार्थ किये बिना वह प्रकरण से भी नहीं गृहीत होता। जैसा कि सोमेश्वर भट्ट ने 'न्याय सुधा' में कहा है—

"नावान्तर क्रियायोगादृते वाक्योपकल्पितात्,
गुणद्रव्ये कथम्भावैः गृहणन्ति प्रकृताः क्रियाः।"[2]

इसका प्रमुख कारण यह है कि मन्त्राक्षर इतिकर्तव्यता स्वरूप नहीं होते हैं। अतः प्रकरण से अङ्गता प्राप्त मन्त्रों का यागकर्मों के अनुष्ठान में उपयोगी वाक्यार्थ प्रतिपादन द्वारा क्रत्वङ्गत्व प्राप्त होता है।

मन्त्रवाक्यों की प्रकरण से अदृष्टार्थता प्राप्त होती है जबकि लिङ्ग सामर्थ्य[3] से उनकी दृष्टार्थता प्राप्त है। लिङ्ग सदैव प्रकरण से बलवान् होता है[4], अतः लिङ्ग से अर्थस्मरण रूप दृष्टार्थता की प्राप्ति होने के कारण लिङ्ग की अपेक्षा दुर्बल प्रकरण प्रमाण का आश्रय लेकर मन्त्रों की अदृष्टफलकता स्वीकार करनी तर्कसंगत नहीं है। साथ ही मन्त्रों की अदृष्टार्थता को प्रमाणित करने वाला कोई लौकिक या वैदिक प्रमाण भी हमें उपलब्ध नहीं होता; अतएव मन्त्रों को मात्र अदृष्टार्थक मानना अयुक्त है।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि यागकर्म सम्बन्धी पदार्थों का स्मरण ब्राह्मणादि अन्य विधाओं से संभव होने के कारण मन्त्र निष्प्रयोजन हैं, क्योंकि

1. शा० दी० प्रभा सहित पृ०- 24
2. त० वा० पृ०- 284।
3. "सामर्थ्यं सर्वभावानां लिङ्गमित्यभिधीयते।" [अर्थसंग्रह कौ० सहित पृ० 84 से उद्धृत]
4. "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण स्थान समाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्"। जै०सू० 3/3/14

इस सम्बन्ध में हमें **''मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्''**, **"मन्त्राणि 'स्मृत्वा कर्माणि कुर्वीत'** आदि नियमविधि प्रमाण रूप में प्राप्त होती है। अतः मन्त्रों के पदार्थस्मरण रूप दृष्ट प्रयोजन को अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है और ऐसा मानने पर याज्ञिकों ने जो मन्त्रों का अदृष्टोत्पत्ति रूप फल कहा है उसके साथ वैरस्य भी नहीं होता। अतएव स्वाभाविक रूप से मन्त्रों की विवक्षितार्थता सिद्ध होती है।

तात्पर्य यह है कि यज्ञकाल में यज्ञाङ्गो का प्रकाशन मन्त्रों का प्रयोजन है। यद्यपि मन्त्रों द्वारा लौकिक वाक्यों की भाँति सम्यगूरूपेण व्यवहार संभव नहीं है, तथापि यज्ञ संबन्धी द्रव्य-देवतादि के स्वरूप प्रकाशन मात्र से ही वे अनुष्ठाता पुरुष का उपकार करते हैं।[1] **'ओषधे त्रायस्वैनं', 'श्रृणोत ग्रावाण'** आदि सम्बोधन रूप जितने मन्त्र कर्मोपयोगी नहीं हैं, उनका अर्थ भले ही विवक्षित न हो किन्तु, **'तत्सामान्यन्याय'**[2] द्वारा सभी मन्त्रों का अविवक्षितार्थत्व मानना युक्त नहीं है। अतः जहाँ दृष्टप्रयोजनता संभव हो वहाँ अर्थप्रकाशन रूप दृष्ट प्रयोजन और जहाँ दृष्टप्रयोजन संभव नहीं हो वहाँ पर मन्त्रों का अदृष्ट प्रयोजन सिद्ध होता है। इसलिये 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इत्यादि मन्त्रों का कुशोच्छेदन रूप प्रयोजकत्व सिद्ध होने से उनकी दृष्टार्थता सिद्ध होती है।

इस प्रकार यद्यपि **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'** इस नियम से विधि धर्म में प्रमाण है; तथापि सूत्रकार जैमिनि ने प्राधान्य के कारण ही विधि को प्रमाण कहा है। मन्त्रादि तो विधि के उपकारक होने से विधि प्रमाण के अन्तर्गत गृहीत होते हैं। इसलिये धर्म के प्रति उनका अप्रामाण्य नहीं प्रत्युत प्रामाण्य ही है।

मीमांसाकौस्तुभकार के अनुसार मन्त्र यद्यपि धर्म सम्बन्धी प्रमा के उत्पादक नहीं हैं, तथापि पदार्थविधया प्रयोजनवत्ता की सिद्धि के द्वारा उनका धर्म में उपयोग सिद्ध है। अतः सामादि समस्त मन्त्रों का पदार्थविधया धर्म में प्रमाण है[3], क्योंकि शाब्दबोध के प्रति कारण होने से शब्द का प्रामाण्य सभी दर्शनों में माना गया है। साथ ही शब्द ज्ञान से होने वाला पदार्थ ज्ञान भी वाक्यार्थ ज्ञान के प्रति कारण है इसलिये पदार्थ का भी प्रामाण्य सिद्ध है। अतः मन्त्रों का विनियोग धर्म में पदार्थ से ही संभव होने से मन्त्रों का पदार्थविधया धर्म में प्रमाण सिद्ध होता है। यदि मन्त्रों को धर्म में प्रमाण न मानें तो भी अध्ययनविधि से उनकी प्रयोजनवत्ता सिद्ध ही है। अतः मन्त्रों पर निष्प्रयोजनता अथवा अविवक्षितार्थता का आरोप नहीं सिद्ध होता। जैसा कि सोमेश्वर भट्ट ने भी कहा है—

---

1. ''तत्रोच्यते यज्ञे यज्ञाङ्गप्रकाशनमेव प्रयोजनमिति। यद्यपि लोकवत्तैः न संव्यवहारः तथापि तत्स्वरूपप्रकाशनमात्रमेव अनुष्ठातृणामुपकरिष्यति।'' [तन्त्र० पृ० 57]
2. 'तत्सामान्यादितरेषु तथात्वम्', 'परन्तु श्रुति सामान्यमात्रम्'। [जै० सू० 1/1/31]
3. द्र०- भाट्टदीपिका प्रभावली सहित पृ० 42-43

"सर्वसाधारणत्वेन विचारस्य प्रयोजनम्,
कर्मकालेऽनुसंधेयो मन्त्रार्थोऽर्थपरत्वतः।"[1]

2. संहिता में पठित मन्त्रों का ब्राह्मण में पुनः श्रवण सप्रयोजन है-संहिता भाग में पढ़े गये जिन मन्त्रों का ब्राह्मण भाग में पुनः उल्लेख मिलता है वह (द्रव्य- देवता रूप) गुणादि के विधान रूप प्रयोजन के लिये है।[2] जैसे 'तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते'[3] यह ब्राह्मण वाक्य **"देवस्य त्वा सवितुः गायत्रेणत्वाच्छन्दसाददे'**'[4] इस मन्त्र द्वारा कहे गये 'अभिग्रहण' का पुनः कथन करता है। यहाँ पर यद्यपि संहिता में पढ़े गये किसी एक मन्त्र के द्वारा ही 'अभ्रि' का ग्रहण हो सकता था, किन्तु ऐसा होने पर 'किस मन्त्र से अभ्रयादान करें' ऐसा विकल्प प्राप्त होता। जबकि शतपथ ब्राह्मण में पठित 'तां चतुर्भि०' इस कथन से **'अरुणैकहायनी न्याय'** से 'चतुःसंख्याविशिष्ट' मन्त्र से अभिग्रहण प्राप्त होता है[5], क्योंकि ऐसा होने पर ही अपूर्वोत्पत्ति हो सकेगी। काष्ठ के कुदाल को 'अभ्रि' कहते हैं। उक्त मन्त्र को पढ़कर यज्ञ में इष्टका निर्माण के लिये मिट्टी खोदने हेतु 'अभ्रि' का ग्रहण किया जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि यहाँ 'आददे' इस लिङ्ग या शब्दसामर्थ्य से ही अभ्रयादान में मन्त्र का विनियोग प्राप्त है; किन्तु श्रुतिप्रमाण निरपेक्ष लिङ्गमात्र से विनियोग मानने पर क्योंकि चारों मन्त्रों का अभ्रि आदान रूप समान (एक) प्रयोजन है[6], इसलिये "व्रीहीभिर्यजेत यवैर्वा" की भाँति यहाँ पर भी विकल्प प्रसक्त होता। अतः विकल्पप्राप्ति दोष के निवारण के लिये 'तां चतुर्भिः०' यह श्रुति है। यहाँ पर यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि समुच्चयार्थक शब्द न प्रयुक्त होने के कारण यहाँ समुच्चय अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि यहाँ पर अर्थ से इस मन्त्र की समुच्चयफलकता प्राप्त होती है। अतः यहाँ पर मन्त्रार्थ के पुनः श्रवण द्वारा पूर्वप्राप्त अर्थ का विधान नहीं है, अपितु 'आदत्ते' इस प्रत्यक्ष श्रुति से चतुःसंख्याविशिष्ट गुण का विधान होने से अप्राप्त का ही विधान किया गया है। इस प्रकार संख्यादि रूप गुण का विधान करने के कारण ब्राह्मण ग्रन्थों में पुनः पठित श्रुतियाँ निष्प्रयोजन नहीं है— यह सिद्ध हो जाता है।

---

1. न्याय सु० पृ०—98
2. 'गुणार्थेन पुनः श्रुतिः' [जै० सू० 1/2/31]
3. शत० ब्रा० 6/3/1/19
4. तै० सं० 1/1/4
5. द्र०-तन्त्रवार्तिक पृ०—58।
6. "प्रथमं मन्त्र विधत्ते-देवस्य त्वा सवितुरिति, द्वितीयं विधत्ते— पृथिव्या इति, तृतीयं विधत्ते—अभ्रिरसि इति, चतुर्थं मन्त्रविधत्ते -हस्त आधाय सवितेति।"
[तै० सं०, शत० ब्रा० 6/3/1/38—41 का सायण भाष्य]।

3. 'इमामगृभ्णन्०' आदि मन्त्रों में परिसंख्याविधि मानने पर श्रुतहानादि दोषत्रयापत्ति नहीं होती—**''इमामगृभ्णन्-रशनामृतस्य इत्यश्वाभिधानीमादत्ते'** इस मन्त्र का पाठ करके यज्ञ में अग्निचयन हेतु इष्टका निमाणार्थ अश्वरशना के ग्रहणपूर्वक मिट्टी लाई जाती है। इस मन्त्र से अश्वरशना के साथ ही गर्दभरशना की भी समान रूप से प्राप्त होती है। जिसकी परिसंख्या द्वारा निवृत्ति हो जाती है। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि यहाँ पर परिसंख्या स्वीकार करने से प्राप्तबाध, परार्थस्वीकार एवं स्वार्थत्याग रूप दोष प्राप्त होंगे। क्योंकि रशनादान में गर्दभरशना की प्राप्ति 'लिङ्ग' से होती है, जबकि इसके पूर्व ही **'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते'** इस प्रत्यक्ष श्रुति से यह मन्त्र अश्वरशना की प्राप्ति करा देता है। 'श्रुति' सदैव 'लिङ्ग' से बलवती होती है। अतः श्रुति प्रमाण से अश्वरशना की प्राप्ति हो जाने के कारण मन्त्र निराकाङ्क्ष हो जाता है। ऐसी दशा में गर्दभरशना एवं अश्वरशना ग्रहण में विकल्प नहीं प्राप्त होता, इसलिये यहाँ 'प्राप्तबाध' दोष है ही नहीं।

इसी प्रकार मन्त्रप्रमाण से अश्वरशना के प्राप्त होने से स्वार्थत्याग रूप दोष नहीं प्रसक्त होता है, क्योंकि यहाँ पर अश्वाभिधानी का ग्रहण ही विधेय है। इस प्रकार 'आदत्ते' इस विधि के साथ अश्वरशना का विनियोग हो जाने से ही मन्त्र के निराकाङ्क्ष हो जाने का कारण परार्थ-स्वीकार रूप दोष नहीं प्राप्त होता, क्योंकि गर्दभरशना की निवृत्ति तो यहाँ अर्थतः प्राप्त होती है।

यहाँ अश्वाभिधानी ग्रहण प्रत्यक्षश्रुति से प्राप्त है और प्रत्यक्ष के होते हुए अनुमान के लिये अवकाश कहाँ है? इसी कारण जब गर्दभरशना की प्राप्ति ही नहीं होती[1], तब परार्थस्वीकार का प्रसङ्ग ही नहीं है।

यहाँ यह शङ्का करना ठीक नहीं है कि मन्त्रविशिष्ट अश्वाभिधानी के आदान की विधि में वर्जनबुद्धि न होने से यहाँ परिसंख्या विधि नहीं मानी जा सकती, क्योंकि गर्दभरशनानिवृत्ति तो परिसंख्या का फल है ही; किन्तु यह दोष शाब्द न होने से परिहार्य है। गर्दभरशना निवृत्ति तो अर्थतः होती है।

प्रश्न यह उठता है कि इन विधियों का स्वरूप क्या है? जिसके आधार पर यह निश्चित किया जा सके कि अमुक मन्त्र में कौन सी विधि विनियोग कराने में समर्थ है।

अपूर्व-नियम एवं परिसंख्या विधि का स्वरूप–

1. अपूर्व विधि–जो विधि अत्यन्त अप्राप्त अर्थ की बोधक होती है अर्थात्

1. वार्तिककार ने कहा है—
''तस्मान्नादानमात्रे विधीयते किं तर्हि अश्वाभिधानीविशिष्टे।''
[तन्त्र० पृ० 59]।

किसी भी लौकिक या वैदिक प्रमाण से अज्ञात विधेय की प्राप्ति कराती है वह 'अपूर्व विधि' कहलाती है।[1] यथा— 'व्रीहीन् प्रोक्षति', 'यजेत स्वर्गकामः' आदि विधिवाक्यों में अन्य विधियों से सर्वथा अप्राप्त प्रोक्षण कर्म तथा स्वर्ग रूप विधेय की प्राप्ति का विधान किया गया है। अतः यहाँ 'अपूर्व विधि' है। इस प्रकार अज्ञातार्थज्ञापन ही अपूर्व विधि का स्वरूप है।

नियमविधि—जहाँ एक कार्य की सिद्धि हेतु अनेक साधन विकल्प से प्राप्त हों वहाँ पर एक साधन की प्राप्ति होने पर दूसरे पक्ष की अप्राप्ति होने लगती है। ऐसी स्थिति में उस अप्राप्त साधन की प्राप्ति कराने में यह विधि समर्थ होती है।[2] वस्तुतः यह विधि अप्राप्त पक्ष की पूर्ति करते हुए प्रवृत्त होती है एवं अनेक प्राप्त पक्षों की नियामक होने से 'नियमविधि' कहलाती है। यथा 'व्रीहीन् अवहन्ति' यहाँ यद्यपि तुषविमोचन के अनेक साधन हैं—जैसे— पत्थर से, नखविदलन से और अवघात से तुषविमोचन प्राप्त है किन्तु जहाँ नखविदारण प्राप्त होता है, वहाँ अवहनन अप्राप्त हो जाता है। ऐसी दशा में अवहनन विधि यह नियमन करती है कि अवघात से ही तुषविमोक करने पर अदृष्टोत्पत्ति संभव है, अन्य साधनों से नहीं; किन्तु इस विधि में अप्राप्तपूरण होने पर अन्य की जो निवृत्ति होती है वह अर्थ से ही ज्ञात होती है न कि विधायक वाक्य द्वारा, न ही फलरूप से। कुतुहलवृत्तिकार ने इसे "अप्राप्तांशपूरणफला" कहा है।

परिसंख्या विधि-क्रिया में विनियोग की प्राप्ति के पूर्व दोनों स्थलों पर प्रवृत्ति संभव होने पर जो विधि एक पक्ष के प्रति निवृत्ति फल वाली होती है वह 'परिसंख्या विधि' है। परिसंख्या विधि में वर्जन बुद्धि या निवृत्ति फलकता शब्दतः अर्थात् मन्त्रवाक्य से ही होती है। जैसे—'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' इस वाक्य में। यहाँ पर अश्वरशना के ग्रहण का विधान नहीं किया गया है, क्योंकि अश्वरशनादान तो लिङ्गसामर्थ्य से पहले ही प्राप्त था। अतः अश्वरशना की प्राप्ति कराना विधि का फल नहीं है, प्रत्युत गर्दभरशना ग्रहण— 'जो कि मन्त्र-सामर्थ्य से प्राप्त था' — उसकी निवृत्ति ही यहाँ फलरूप से प्राप्त है। इन विधियों के सम्बन्ध में 'वार्तिककार' की निम्न उक्ति इनके स्वरूप को पूर्णरूपेण स्पष्ट कर देती है—

---

1. क-"योऽत्यन्तमप्राप्तोः, न च प्राप्स्यति, प्रागुवचनादित्यवगम्यते तत्र नियोगः शुद्ध एवं विधिर्यथा व्रीहीन् प्रोक्षति।" [तन्त्र० पृ० 59]।
ख -वासुदेव दीक्षित ने भी कहा है—
"यस्य हि विधेः प्रवृतिरप्राप्तपूरणफला सोऽयमपूर्वविधिः।' [कु० वृ० पृ० 41]
2. "साधनद्वयस्य पक्षप्राप्तौ अन्यतरस्य साधनस्य अप्राप्तदशायां यो विधिः स नियमविधिः।"[मी० न्याय० सा० वि० सहित पृ० 112]।

"विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति,
तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति गीयते।"[1]

यहाँ 'तत्र चान्यत्र च प्राप्ते' इस कथन द्वारा परिसंख्या विधि का स्वरूप बताया गया है। वस्तुतः परिसंख्या दो प्रकार की होती है[2]—

1. शेषिपरिसंख्या, 2. शेषपरिसंख्या।

दो शेषियों के साथ एक शेष के प्राप्त होने पर एकशेषी की निवृत्ति शेषिपरिसंख्या है। जैसे—"इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य" इस वाक्य में मन्त्रसामर्थ्य से अश्वरशना एवं गर्दभरशना दोनों अङ्गी प्रतीत होते हैं। इन दोनों में से गर्दभरशनारूप शेषी की 'इत्यश्वाभिधानीं० यह विधि निवृत्ति कर देती है।

जबकि श्लोकगत 'तत्र' का प्रथमान्त अर्थ लेने पर **'शेषपरिसंख्या'** सिद्ध होता है। जैसे—**'मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः सर्वासां दुग्धे सायमोदनम्'** इस वाक्य द्वारा चातुर्मास्य याग के 'वरुणप्रघास' प्रकरण में गृहमेधीय इष्टि का विधान है। इस इष्टि के दर्शपूर्णमास कर्म की विकृति होने से **'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'** नियम से यहाँ प्रयाज और आज्यभागादि पदार्थ अतिदेश से प्राप्त हैं, किन्तु इसी प्रकरण में **"आज्यभागौ यजति यज्ञतायै"** यह वाक्य भी पठित है। अतः प्रयाज, आज्यभागादि अङ्ग और इष्टि अङ्गी यह सिद्ध होता है। यहाँ पर आज्यभाग का विधान अतिदेश से प्राप्त होने के कारण 'मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः०' वाक्य आज्यभाग रूप अङ्ग का विधान नहीं करता, प्रत्युत अपने से भिन्न प्रयाजादि अङ्गों की निवृत्ति (परिसंख्यान) करता है। यहाँ पर एक अङ्ग की निवृत्तिफलकता होने से यह 'शेषपरिसंख्या' का उदाहरण सिद्ध होता है। इसे **प्राप्तपरिसंख्या** भी कहते हैं।

दशमाध्याय के **गृहमेधीयाधिकरण** में वर्णित आठ पक्षों में यह पञ्चम पक्ष है[3]। यद्यपि सिद्धान्त यहाँ पर परिसंख्या विधि के आठवें पक्ष में है, किन्तु वहाँ **अप्राप्तपरिसंख्या** है। क्योंकि गृहमेधीय प्रकरणगत **'आज्यभागौ यजति यज्ञतायै'** वाक्य द्वारा ही भावना की कथमाकांक्षा शान्त हो गई है, अतः यहाँ अतिदेश से युगपत् प्राप्त अङ्गों की निवृत्ति आज्यभाग की प्राप्ति से हो जाती

---

1. इसके भाष्यवार्तिक में स्वयं आचार्य ने लिखा है- "यः पुनः प्राङ्नियोगात् तत्र चान्यतः च प्राप्नुयात् इति सम्भाव्यते, यत्र वा यच्चान्यच्च सा परिसंख्या।"
[तन्त्र० पृ० 59]।
2. उभयोस्तु नित्यप्राप्तौ पुनर्वचनस्य, सामानाधिकरण्ये तु तच्चान्यच्चेति।"
[न्याय सु० पृ० 106]।
3. क-"यथा च गृहमेधीये पञ्चमे पक्षे।" [तन्त्र० पृ० 59]
ख-तन्त्रवार्तिक के टीकाकार सोमेश्वर भट्ट ने कहा है— "चातुर्मास्येषु साकमेधपर्वणि पूर्वेद्युर्गृहमेधीयेष्टिं विधाय श्रुतमाज्यभागौ यजति यज्ञताया इत्युदाहृत्य दशमेऽष्टधा चिन्तयिष्यते.....। न्याय० सु० पृ० 106

है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि 'दूसरे शेषी अथवा दूसरे शेष की निवृत्ति' जिस विधि से किया जाय वह परिसंख्या विधि है।

मीमांसाशास्त्र में विशेषतः नव्यमीमांसकों नें परिसंख्या के दो भेद किये हैं—1. श्रौती परिसंख्या, 2. लाक्षणिकी परिसंख्या।

1. श्रौती परिसंख्या में निवृत्तिवाचक 'नञ्' अथवा एवादि शब्द श्रुत होते हैं। जैसे—**''त्रीणि ह वै यज्ञस्योदराणि गायत्रीबृहत्यनुष्टुप् अत्र ह्येवावपन्ति''** इस वाक्य में 'एव' शब्द पठित है। इस वाक्य में 'अत्र' शब्द पवमान का परामर्श कराता है। इस वाक्य द्वारा पवमान के अतिरिक्त स्तोत्रों में साम के आवाप का निषेध प्राप्त होता है, क्योंकि ज्योतिष्टोम याग की विकृति होने से पवमान के साथ ही अन्य स्तोत्रों में साम के आवाप का अतिदेश हो रहा था।[1] अतः यह वाक्य अन्य में सामावाप की निवृत्ति कराता है। वार्तिककार के अनुसार 'एवकार' के श्रवण होने पर सर्वत्र श्रौती परिसंख्या होती है। यहाँ 'एव' शब्द वर्जनपरक सिद्ध होता है।

2. लाक्षणिकी परिसंख्या–वहाँ होती है जहाँ शब्दतः परिसंख्या की प्राप्ति न होती हो किन्तु अर्थतः अर्थात् फलरूप से इतरनिवृत्ति प्राप्त हो। यथा - इमामगृभ्णन् आदि वाक्य में। यही लाक्षणिकी परिसंख्या **''पञ्चपञ्चनखाभक्ष्या०''**[2] इस लौकिक उदाहरण में भी है। पञ्चपञ्चनखभक्षण के श्रुति प्राप्त होने से यहाँ प्राप्तबाध है। अपञ्चपञ्चनखभक्षण श्रुति से प्राप्त नहीं है वहाँ श्रुति की कल्पना करने से परार्थस्वीकार दोष प्रसक्त होता है और पञ्चनखभक्षण के परित्याग से स्वार्थ हानि दोष होता है। यहाँ पर पञ्चपञ्चनखभक्षण के रागतः प्राप्त होने से यह विधेय नहीं है। इसके साथ ही यहाँ पर पञ्चातिरिक्तपञ्चनखभक्षण निवृत्ति रूप अर्थ लक्षणा से ग्राह्य है, इसलिये यहाँ लाक्षणिकी परिसंख्या है। इस उदाहरण में स्वार्थहानि, परार्थस्वीकार और प्राप्तबाध ये तीनों दोष प्राप्त होते हैं। जबकि 'इमामगृभ्णन्०' आदि वैदिक उदाहरणों में यह दोष नहीं प्राप्त होते। अतः 'पञ्चपञ्चानखा०' आदि उदाहरण सङ्गत नहीं हैं।

इस प्रकार नियमविधि और परिसंख्याविधि में सूक्ष्म अंतर यह है कि नियम विधि में अप्राप्तांशपूरण होने के बाद इतरव्यावृत्ति का भान होने पर भी वह इतरव्यावृत्ति विधेय नहीं होती, प्रत्युत अप्राप्तपूरण ही विधेय होता है;

---

1. ''एवकारेण पवमानातिरिक्त स्तोत्रव्यावृत्तेः अभिधानात्।''
[मी० न्यायप्रकाश सा० वि० सहित पृ० 116]।

2. ''पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः ब्रह्मक्षत्रेण राघव,
शशकः शल्यकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथपञ्चमः।'' [बा० रा० कि० 17/39]
बालि की राम के प्रति यह उक्ति निषेधपरक है।

जबकि परिसंख्या में दो की नित्यप्राप्ति रहती है। उनमें से एक की निवृत्ति करना ही वाक्य का फल अर्थात् विधेय होता है।[1] अतः 'इमामगृभ्णन्' आदि मन्त्रवाक्यों में परिसंख्या स्वीकार करने पर भी श्रुतहानादि दोषत्रय नहीं प्राप्त होते।

श्रौती और आर्थी परिसंख्या में प्रमुख भेद बताते हुए भाट्टदीपिका के टीकाकार ने 'प्रभावली' टीका में कहा है कि जहाँ पर वैयर्थ्यप्रतिसन्धान के बिना ही इतरनिवृत्ति प्रतीत होती है वहाँ शाब्दी परिसंख्या होती है और जहाँ इतरनिवृत्ति प्रतिसंधान द्वारा तात्पर्य ज्ञान का विषय बने वहाँ आर्थी परिसंख्या होती है।

4. 'उरुप्रथा०' आदि मन्त्र पुनर्वचन न होकर पुरोडाशप्रथनकर्म की स्तुति के लिये हैं– **'उरुप्रथा उरुप्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति'**[2] (अर्थात् हे पुरोडाश तुम विपुलता को प्राप्त करो) यह मन्त्र 'तैत्तिरीय संहिता' में पठित है। यहाँ पर मन्त्रों की निरर्थकता सिद्ध करने के लिये 'कौत्स' प्रभृति विद्वानों ने इन मन्त्रों को केवल अदृष्टहेतुक माना है, अर्थप्रकाशन रूप दृष्टफलक नहीं। अपने पक्ष में वादी का यह कहना है कि इस पुरोडाशप्रथन का क्रिया में विनियोग तो "यज्ञपतिमेव प्रजया पशुभिश्च प्रथयति"[3] इस ब्राह्मणवाक्य से ही हो जाता है। **"यज्ञपतिमेव तत्प्रथयति"** यह अर्थवादवाक्य प्राप्त होने से यह विधिवाक्य का अङ्ग भी नहीं सिद्ध होता। अतः यह मन्त्र अदृष्टफलक ही हो सकते हैं।[4]

इसका खण्डन करते हुए आचार्य कुमारिल भट्ट कहते हैं कि यद्यपि विधिवाक्य की अन्यस्थल में अर्थवाद द्वारा स्तुति सिद्ध हो गयी है, तथापि इस मन्त्रवाक्य में प्रथनकर्म की स्तुति होने से मन्त्र अर्थप्रकाशन रूप प्रयोजन वाला सिद्ध होता है।[5] यहाँ मन्त्र का ग्रहण यद्यपि विनियोग नहीं कराता तथापि यह वाक्य "यज्ञपतिमेव तत्प्रजया पशुभिश्च प्रथयति' इस अर्थवाद से प्राप्त प्रथनरूपी फल की स्तुति करता है।

वस्तुतः सभी स्तुतियों का शब्दगत अथवा अर्थगत आलम्बन होता है। मन्त्र में कहे गये शब्द अथवा अर्थ का आश्रय लेकर स्तुति प्रवृत्ति होती है। यहाँ पर

---

1. "अतएव शब्दतः फलतो वा यस्य शास्त्रस्यान्यनिवृत्तिर्विषयः स परिसंख्याविधिः'। [भा० दी० प्रभा० सहित पृ० 34]
2. तै० सं० 1/1/8
3. तै० सं० 3/2/8/4
4. "मन्त्रा उरुप्रथस्वेति किमदृष्टहेतवः। यागेषूत पुरोडाश प्रथनादेश्च भासकः। ब्राह्मणेन तद्भानान्मन्त्राः पुण्यैकहेतवः। न तद्भानस्य दृष्टत्वात् दृष्टं वरमदृष्टतः।" [जै० न्यायमाला वि० पृ० 26]।
5. "यद्यपि प्रदेशान्तरस्थत्वात् मन्त्रविधानं न स्तूयते, तथापि प्रथनविधानात्तत्प्ररोचनया च सकलं वाक्यमर्थवत्। तस्य ह्येतदेव उत्पत्तिवाक्यम्।" [त० वा० पृ० 60]।

'उरुप्रथा०' आदि मन्त्र का आश्रय लेकर अध्वर्यु पुरोडाश को सम्बोधित करता है। यहाँ 'प्रथस्व' के साथ 'इति' का प्रयोग होने से भी यह वाक्य मन्त्रलक्षण के अन्तर्गत गृहीत होता है। वस्तुतः 'प्रथन' के गुण कर्म होने से यहाँ गुणवाद द्वारा स्तुति सिद्ध होती है, न कि पिष्टपेषण रूप दोष।

अथवा "तत्करोति तदाचष्टे" इस सूत्र के अनुसार तथा णिजन्त होने से भी 'प्रथयति' के मुख्यार्थ का आश्रय लेने से प्रथनबुद्धि उत्पन्न होने के कारण यहाँ पुरोडाश की स्तुति ही सिद्ध होती है।[1]

यहाँ यह कथन ठीक नहीं है कि रात्रिसत्र की भाँति मन्त्र का ग्रहण किये बिना भी पुरोडाशप्रथन रूप फल का ज्ञान कराने के कारण यहाँ अर्थवाद सिद्ध हो जाता है, क्योंकि पुरोडाश प्रथन कर्म तो पुरोडाश के संस्कार के लिये होता है अतः रात्रिसत्रन्याय से अर्थवाद के फल की कल्पना नहीं की जा सकती।

खण्डदेव का मत है कि जहाँ कही भी मन्त्र का विनियोग तृतीया या इतिकरण द्वारा होता है वहाँ सदैव वे मन्त्र सम्पूर्ण रूप से क्रिया के प्रकाशक ही होते हैं। जैसे—"**सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति**" इस वाक्य में सूक्तवाक् के तृतीयान्त होने से विनियोग का साधनभूत यह वाक्य प्रहरण क्रिया का प्रकाशक है, तथापि इस वाक्य में वर्णित प्रस्तरसंज्ञक द्रव्य 'यदनेन हविषे' पदों से ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त 'अग्नि', 'आयुष्' आदि पदों से फल का देवता द्वारा सम्बन्ध कल्पित किया जाता है। यदि यहाँ देवतात्व संभव नहीं हो तो 'इदं द्यावे' आदि पदों को क्रिया से समवेत द्रव्य, देवता अथवा फल की स्तुतिमात्र मानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि मन्त्रों द्वारा क्रियार्थ का प्रकाशन सम्भव न होने पर विधि द्वारा प्राप्त क्रिया से सम्बद्ध द्रव्य, देवता एवं फलादि की स्तुति कल्पित की जाती है। यदि ऐसा करने पर भी मन्त्र की अर्थप्रकाशकता सिद्ध न हो तो क्रिया के साथ सम्बन्धकल्पना की जाती है और उसके भी सम्भव न होने पर क्रियासमवेत अर्थ की स्तुति के लिये स्वार्थ के स्थान पर गौणार्थ कल्पित किया जाना चाहिए।

जहाँ कहीं क्रमादि से मन्त्र का विनियोग होता है, जैसे— उपांशुयागआदि कर्मों में याज्यानुवाक्यारूप मन्त्रों का, वहाँ पर क्रियार्थप्रकाशन सम्भव न होने पर मन्त्रार्थ का देवतात्व आदि गुण द्वारा क्रिया से सम्बन्ध मानना अभीष्ट है। मीमांसाकौस्तुभ में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि मन्त्र का ग्रहण न होने पर भी लिङ्गसामर्थ्य से मन्त्र का विनियोग होने के कारण स्तुति के आलम्बन की सिद्धि हो जाती है, तथापि स्पष्ट रूप से

1. "तत्करोति तदाचष्टे" इत्याख्यानेऽपि णिजुत्पत्तिस्मरणात्। मुख्यवृत्तित्वेन प्रथनाख्यानात् प्रथयति शब्दोपपत्तिः।" — [न्याय सु० पृ० 109]।

विनियोग कराने हेतु मन्त्र को ग्रहण करना अभीष्ट है।[1]

तात्पर्य यह है कि मन्त्र निष्प्रयोजन न होकर किसी न किसी अर्थ का प्रकाशन करते हैं। अतः यहाँ 'उरुप्रथस्वेति प्रथयति' इस वाक्य में अर्थवाद होने से ब्राह्मण ग्रन्थ में मन्त्रार्थ का अनुवाद किया गया है, पुनर्कथन नहीं किया गया।

5. मन्त्रोच्चारणक्रमजन्य अदृष्टोत्पत्ति मानने पर भी उनकी अर्थपरता की उपेक्षा सम्भव नहीं है–कौत्स आदि याज्ञिकों का जो यह मत है कि मन्त्रों के उच्चारण में क्रमवैपरीत्य करने पर अदृष्टोत्पत्ति सम्भव न होने से मन्त्रार्थ विवक्षित नहीं है। उसका खण्डन करते हुए आचार्य जैमिनि भी कहते हैं कि वाक्यनियम हमारे सिद्धान्त का विरोधी न होकर पूरक है।[2] यह कहना तर्कसंगत नहीं है कि मन्त्रों का उच्चारण मात्र अदृष्टोत्पत्ति के लिये है, क्योंकि क्रम विशेष द्वारा उच्चरित पदसमूहों से अर्थ की प्रतीति भी तो होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मन्त्रवाक्य में प्रयुक्त पदों का विपरीत क्रम से उच्चारण होने पर यद्यपि मन्त्र याग के साधनीभूत अपूर्व को नहीं उत्पन्न करता, यह कथन सत्य है; किन्तु अदृष्ट की सिद्धि के लिये मन्त्रों का अर्थप्रकाशन रूप दृष्टफल उपेक्षणीय नहीं है। वस्तुतः अदृष्ट कभी भी दृष्टफल का बाधक नहीं होता। जैसा कि आचार्य उदयन ने भी कहा है—''नादृष्टं दृष्टघातकम्''।[3]

वार्तिककार का कहना है कि मन्त्रोच्चारण के द्वारा अदृष्टोत्पत्ति का हेतुभूत 'क्रम' तो याज्ञिकों को भी मान्य है। अतः इस सम्बन्ध में हमारा उनसे विरोध नहीं है, किन्तु 'नियमादृष्ट' की कल्पना होने पर भी दृष्टार्थ का विरोध नहीं होता।[4]

निष्कर्ष यह है कि द्रव्य देवतादि रूप अर्थप्रकाशन के ब्राह्मणादि अन्य साधन होते हुए भी ''मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्'' इस नियमविधि से विशिष्टानुपूर्वीक मन्त्रपाठ का विधान होने के कारण अन्य उपायों के लिये अवसर नहीं रह जाता। इसलिये मन्त्रों का अर्थाभिधान रूप प्रयोजन सिद्ध होता है।

---

1. ''प्रकृते तु लिङ्गविनियुक्तत्वात् न प्रथनफलत्वं यज्ञपतिप्रथनस्य कल्पनीयम्, किंतु प्रथनफलानुवादकत्वमेव 'आयुर्दा अग्ने' इत्यादिवत् 'उरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्' इत्यस्य द्रष्टव्यम्। तस्मान्मान्त्रवर्णिक फलकल्पनानुपपत्तेः अर्थवादालम्बनमुक्तविधया मन्त्रोपादानमर्थवदिति सिद्धम्।'' [मी० कौ० पृ० 95]।
2. 'अविरुद्धं परम्' जै० सू० 1/2/36
3. न्यायकुसुमाञ्जलि—5/4
4. ''अदृष्टार्थोच्चारणवादिनोऽपि तन्नियमादपरमवश्यं कल्पनीयम् अदृष्टं, तन्ममापि प्रत्यायननियमाद्भविष्यतीति अविरोधः। एतेन मन्त्रत्वादि नियमः प्रत्युक्तः।'' [तन्त्र० पृ० 63]

6. 'अग्नीध्र अग्नीत् विहर' आदि सम्प्रैष मन्त्र स्मृति उद्बोधन रूप संस्कार के लिये हैं– अग्नीध्रादि सम्प्रैष मन्त्रों पर वादी द्वारा आरोपित ज्ञात विषय का ज्ञापन रूप दोष नहीं सिद्ध होता। यद्यपि यह सत्य है कि अध्ययन काल में ही इन मन्त्रों का ज्ञान प्राप्त रहता है, किन्तु बुद्धियों के क्षणिक होने के कारण प्रयोग (अनुष्ठान) कालपर्यन्त यथेष्ट रूप में स्मरण नहीं रहता। ऐसी दशा में मन्त्र ध्यानादि कर्तव्य में सहायक सिद्ध होते हैं।[1] इसलिये 'अग्नीध्र०' आदि सम्प्रैष पूर्व में कर्तव्य रूप से ज्ञात रहने पर भी यज्ञकाल में स्मृति रूप प्रयोजन की सिद्धि करने के कारण विवक्षित अर्थ वाले हैं।

यहाँ पर 'जूता पहने हुए पैर में पुनः जूता पहनने का' दृष्टान्त सङ्गत नहीं होता, क्योंकि स्वाध्यायकालीन ज्ञान के अल्पमात्रा में स्मृत रहने के कारण इस दृष्टान्त से सम्प्रैष कर्म की निन्दा करना ठीक नहीं है। अथवा यह मन्त्र संस्कार (गुण) होने के कारण ब्राह्मणादि में पुनः पढ़े जाते हैं।

इसी प्रकार 'विभूरसि', 'नारिरसि' आदि मन्त्रों के भी विहरण आदिरूपा क्रिया का अङ्ग होने से ये मन्त्र निरर्थक नहीं हैं, क्योंकि दो मन्त्रों के बल से अर्थस्मृति में दृढ़ता आती है अथवा ये मन्त्र अङ्गसहित अग्निविहरण रूप संस्कार के उद्बोधन हेतु प्रयुक्त हैं; जबकि 'विभूरसि' मन्त्र विहरण मात्र का स्मारक है।

वासुदेव दीक्षित के मतानुसार 'संस्कार' होने के कारण सम्प्रैष मन्त्र पुनर्ज्ञापन दोष से रहित हैं। इन मन्त्रों द्वारा संस्कृत होकर अनुष्ठेय अर्थ अतिशय से युक्त होते हैं। इन मन्त्रों के पुनर्ज्ञापन से कोई दृष्टफल नहीं प्राप्त होता। अतः ये मन्त्र अदृष्टफलक हैं।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रैष मन्त्रों के यज्ञीय पदार्थ के संस्कार रूप प्रयोजन को सिद्ध करने के कारण ये मन्त्र निन्दा के योग्य नहीं हैं।

7. 'चत्वारि श्रृङ्गा' आदि मन्त्र गौणार्थ में प्रयुक्त हैं–ऋक्संहिता में 'चत्वारिश्रृङ्गा त्रयोऽस्य पादा०'[3] आदि मन्त्र पढ़े गये हैं। इनके सम्बन्ध में यह कथन उचित नहीं है कि इन मन्त्रों में ऐसे पदार्थों का वर्णन किया गया है जिनका अस्तित्व ही नहीं है। वस्तुतः उक्त मन्त्र में रूपक के ब्याज से यज्ञपुरुष

1. बुद्धीनां हि क्षणिकत्वात् स्वाध्यायकालोत्पन्नानां न प्रयोगकालं यावदवस्थानम्। तत्रावश्यं केनचिद् ध्यानादिना अनुसंधाने कर्तव्यो नियम्यते अथवा संस्कारत्वात्।"
[त० वा० पृ० 63]

2. द्र०- कु० वृ० पृ० 42
3. "चत्वारि श्रृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य
त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति महाँ देवो मर्त्यान् आविवेश।"
[ऋक् सं० 4/58/3]

का वर्णन किया गया है अतः यहाँ अर्थवाद है।[1] इस मन्त्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए 'भाष्यकार' ने कहा है कि होता, अध्वर्यु, उद्गाता एवं ब्रह्मा यज्ञ के ये चार ऋत्विज् ही उपकारक गुण से युक्त होने के कारण इस यज्ञपुरुष के चार सींग हैं। प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन यज्ञ के मुख्य आधार होने से इसके तीन पाद कहे गये हैं। प्रधान होने से यजमान और उसकी पत्नी यज्ञ के दो शीर्षों के समान हैं। गायत्री, वृहती आदि सात छन्द हानोपादान का साधन होने से इसके सात हाथ हैं।[2] ऋक्, यजुष् एवं सामवेद से बन्धन के समान आबद्ध होने से यह तीन प्रकार से बद्ध हैं। इन विशेषणों से युक्त यज्ञ के कामनावर्षक होने से इसे 'वृषभ' कहा गया है। स्तोत्र, शस्त्रादि अनेक प्रकार से ध्वनित होने के कारण बारम्बार शब्द करने वाला तथा मनुष्यों के ही इस यज्ञ का अधिकारी होने से इसे मनुष्यों में आविष्ट कहा गया है।[3] इस प्रकार 'गुणवाद' से यह मन्त्र यज्ञस्तुतिपरक सिद्ध होता है। वासुदेव दीक्षित ने भी इस मन्त्र का प्रायः यही अर्थ किया है। वार्तिककारादि[4] मीमांसकों ने इससे थोड़ा भिन्न अर्थ किया है, किन्तु उन्होंने इस मन्त्र में रूपक द्वारा याग की स्तुति मानी है।

कुमारिल भट्ट ने ऋग्वेद में विषुवत्संज्ञक एकाह याग में अतिदेश से प्राप्त होत्रादि का आज्यसंज्ञक चार शस्त्रों के मध्य विनियोग माना है। यह निर्विवाद है कि **'आग्नेयं होता शंसति'** वाक्य 'अग्नि' का स्तावक है। 'अग्नि' की आदित्य एवं सूर्य के रूप में भी स्तुति देखी जाती है। अतः 'चत्वारि श्रृङ्गा' वाक्य में चार श्रृङ्ग दिन के चार प्रहरों के सूचक हैं। शीत, गर्मी एवं वर्षाकाल ये तीन इसके पाद हैं। सूर्य के दो अयन इसके दो शिर हैं और 'सप्तहस्तासः' से सूर्य के सात अश्वों की स्तुति की गई है। सवन के अभिप्राय से इसे त्रिधाबद्ध कहा गया है। कामनावर्षक, शब्दायमान एवं उत्साह उत्पन्न करने से यह सभी पुरुषों के हृदय में प्रविष्ट होता हुआ इस मार्ग से धर्म का साधन बनता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ भाष्यकार ने इसे यज्ञपुरुष की स्तुति मानी है, वहीं वार्तिककार ने **'सूर्यदेवत्यं ह्येतदहः'** इस श्रुति के अनुसार इसे विषुवत् संज्ञक एकाह याग के देवता आदित्य की स्तुति मानकर उसके तेजस्त्व (गुण) सामान्य से आदित्य रूप अग्नि की स्तुति मानते हुए इसे यागस्तुति कहा है।

वादी का यह कहना ठीक नहीं है कि इसे रूपक द्वारा स्तुति मानना युक्त नहीं है, क्योंकि लोक में भी चक्रवाकस्तनी, हंसदन्तावली, काशवस्त्रा,

1. "अभिधानेऽर्थवादः" मी० सू० 1/2/38
2. "गायत्र्युष्णिक्अनुष्टुप्वृहती पंक्ति त्रिष्टुप्जगतीरूपाणि सप्तछन्दांसि।"
3. द्र० सूत्र 1/2/38 का शा० भा० एवं गोविन्दस्वामी की विवरण व्याख्या।
4. द्र० - तन्त्र० पृ० 63-64, एवं खण्डदेव कृत मीमांसा कौस्तुभ।

शैवालकेशिनी आदि रूपकों से नदी की स्तुति देखी जाती है।[1] इस प्रकार मन्त्र विद्यमान अर्थ के ही प्रकाशक हैं, अविद्यमान अर्थ के प्रकाशक नहीं हैं।

8. मन्त्रों में अचेतन पदार्थों का कथन भी गौणाभिधान ही है–**'मा मा हिंसीः', 'ओषधे त्रायस्वैनम्**[2], **'श्रृणोत ग्रावाण'**[3], आदि मन्त्र वाक्य भी गौणार्थ में ही प्रयुक्त हैं। **'मा मा हिंसी'** आदि मन्त्रों में 'अचेतन छुरे से चेतन नापित इसकी रक्षा करे' यह वाक्यार्थ है। इसी प्रकार यज्ञकर्म के प्रति उत्साह उत्पन्न करने के लिये जो यज्ञ की साधनभूत अचेतन ओषधि को सम्बोधित किया गया है, वह चेतन के सादृश्य से अचेतन ओषधि का आमन्त्रण लक्षित कराता है, अर्थात् वपन कर्म में अचेतन ओषधि एवं शस्त्र को यजमान की रक्षा के लिये आमंत्रित किया गया है।

इसी प्रकार **'श्रृणोत ग्रावाणः'** यह मन्त्र प्रातःकालीन अनुवाक के समय पढ़ा गया है। इन मन्त्रों का तात्पर्य यह है कि जब अचेतन प्रस्तर अनुवाक श्रवण करता है तो विद्वानों का क्या कहना अर्थात् विद्वान् इसे अवश्य ही सुनेंगे। इस प्रकार गुणवाद से अचेतन में चेतन का आरोप करने से मन्त्रों की दृष्टार्थता सिद्ध होती है। ऐसी दशा में उच्चारणमात्र से अदृष्टार्थता स्वीकार करना अनुचित है। यहाँ 'ग्राव' शब्द से तदभिमानी देवता से विशिष्ट प्रस्तर रूप अर्थ मानने पर चैतन्यपक्ष की स्तुति भी सिद्ध हो सकती है। इस प्रकार अचेतन 'ओषधि' आदि में चेतन का आरोप गुणवाद से सिद्ध होता है। अतः गौणार्थक होने से इन मन्त्रों की अदृष्टफलकता नहीं सिद्ध होती।

9. मन्त्रों में गुणवाद स्वीकार कर लेने से विरुद्धार्थ प्रतिपादन दोष भी नहीं सिद्ध होता–वादी का यह तर्क भी उचित नहीं है कि मन्त्र परस्पर विरुद्ध अर्थ का कथन करते हैं, क्योंकि **'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्'**० आदि मन्त्र अदिति देवता की स्तुति के लिये कहे गये हैं।[4] यह स्तुति गौणीवृत्ति से सिद्ध होती है। जिस प्रकार लोक में 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' आदि स्तुति वचन प्राप्त होते हैं वैसे ही वेद में 'अदितिर्द्यौ०' आदि कथन स्तुति के लिये हैं। अतः लौकिक वाक्यों की भाँति वैदिक मन्त्रों की स्त्युत्यर्थता सिद्ध होती है। यहाँ पर द्युत्यादि विवक्षित नहीं है; अपितु अदिति की प्रकाशरूपता को सिद्ध करने के लिये मन्त्र में परस्पर विरुद्ध धर्मों का ग्रहण करके उसकी स्तुति की गई है। अतः इस मन्त्र में विप्रतिपत्ति दोष नहीं सिद्ध होता प्रत्युत अदिति देवता की

1. "चक्रवाकस्तनी हंसदन्ता, शैवालकेशिनी,
काशाम्बरा फेनहासा नदी काऽपि विराजते।" [कु० वृ० पृ 42]
2. तै० सं० 1/2/1/1
3. तै० सं० 1/3/1/1
4. 'गुणाद्विप्रतिषेधः स्यात्' जै० सू० 1/2/39

स्तुति ही गुणवाद से सिद्ध होती है।[1]

इसी प्रकार **"एको रुद्रः सहस्राणि रुद्राणि एको रुद्रो अवतस्थे न द्वितीयो"** आदि मन्त्रों में 'जो कर्म एक रूद्र देवता वाला है' और 'जो शतरुद्र देवता वाला है' आदि कथन भी विरोधी नहीं हैं। अपितु यहाँ कर्म के भेद से देवता का भेद कहा गया है, अतः यहाँ असामञ्जस्य नहीं है। इस प्रकार ये मन्त्र गुणवाद से देवता की स्तुति करने वाले सिद्ध होते हैं। वस्तुतः जहाँ कर्म एक रुद्र देवता वाला है वहाँ 'एको रुद्रः' और जहाँ अनेक रुद्र देवता वाला है वहाँ 'असंख्याता सहस्राणि' आदि मन्त्रों का पाठ युक्त है।

10. मन्त्रों की अर्थप्रकाशकता यज्ञकाल में ही होती है–यज्ञ के अनुष्ठान के समय किया गया मन्त्रपाठ ही अर्थप्रकाशन करता है। यद्यपि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह नियमविधि अर्थज्ञानपूर्वक वेदाध्ययन का विधान करती है, तथापि उस स्वाध्यायकालिक अध्ययन से न तो अपूर्व उत्पन्न होता है और न ही उस समय पढ़े गये मन्त्र द्रव्य, देवता अथवा यागादि सम्बन्धित क्रिया का प्रकाशन ही करते हैं, क्योंकि मन्त्रों द्वारा अदृष्टोत्पत्ति अथवा अर्थप्रकाशन कार्य के लिये 'यज्ञसंयोग' अनिवार्य है।[2] इसलिये वादी का यह उदाहरण ठीक नहीं है कि माणवक जिस काल में अवहनन मन्त्र का अभ्यास करता है उसी समय लोक में पूर्णिका नाम की स्त्री अवहनन कार्य करती है, फिर भी उस समय पढ़ा गया अवघात मन्त्र अर्थप्रकाशन नहीं करता। वस्तुतः यहाँ पर अवहनन कर्म और मन्त्र की एककालिकता केवल 'काकतालीय न्याय' से है। इसका कारण यह है कि उस समय न तो वह स्त्री यज्ञ के लिये अवहनन कार्य करती है और न ही माणवक यज्ञ के लिये मन्त्र का पाठ करता है। यद्यपि उसका मन्त्राभ्यास यज्ञ के लिये ही है, तथापि उस समय उसका प्रयोजन यज्ञाङ्गप्रकाशन न होकर अक्षराभ्यास होता है। अर्थज्ञानसहित अक्षराभ्यास किये बिना यज्ञकाल में मन्त्रपाठ द्वारा अर्थप्रकाशकता सम्भव नहीं होगी। अतः वह उस समय अक्षराभ्यास ही करता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि केवल स्वाध्यायविधि का आश्रय लेकर अर्थप्रकाशन मानने पर तो सम्पूर्ण वेदमन्त्र अर्थज्ञान पूर्वक पढ़े जाने योग्य हैं, किंतु एक साथ सारे मन्त्र अर्थप्रकाशन नहीं करते, प्रत्युत यज्ञकाल में तत्सम्बद्ध कर्म के अनुष्ठान के समय पढ़े जाने वाले तत्सम्बद्ध मन्त्रों की ही अर्थप्रकाशकता सिद्ध होती है, न कि सम्पूर्ण वेदमन्त्रों की।[3] अतः

1. "नात्र द्युत्वादीनि विवक्षितानि किं तर्हि प्रकाशयितव्यायाम् अविद्यमानविप्रतिषिद्ध धर्मोपादानं स्तुत्यर्थम्।" [तन्त्र० पृ० 64]।
2. द्र०- मी० सू० 1/2/40 का शाबरभाष्य।
3. कुमारिल भट्ट ने 'तन्त्रवार्तिक' में कहा है—
'यदि हि स्वाध्यायकाले अर्थवचनमुपयुज्येत, ततस्तदाश्रीयेत।

'यज्ञकर्मप्रधानम्' इस न्याय से यज्ञसंयुक्त अवघातादि क्रियाओं की ही मन्त्रों द्वारा अर्थप्रकाशकता सिद्ध होती है।[1]

11. मन्त्रों द्वारा प्रकाशनीय अर्थ अविद्यमान नहीं होते–मन्त्र सदैव विद्यमान अर्थों का प्रकाशन करते हैं। अतः प्रमादवश विद्यमान पदार्थों को अप्राप्त कहना उचित नहीं है, क्योंकि ऋषि, देवता, निगम, निरुक्त एवं व्याकरण ज्ञान द्वारा ही अर्थज्ञान सम्भव होता है।[2] यदि आलस्यवश पुरुष इनकी सहायता से मन्त्रगत पदों का अर्थज्ञान न कर सके तो मन्त्रों पर अविज्ञात अर्थों का कथन करने का दोष आरोपित करना उचित नहीं है। अनुपलब्धि मात्र से किसी की विद्यमानता पर संदेह करना ठीक नहीं है। क्योंकि यह तो स्वयं उस अज्ञानी पुरुष का अपराध है, जिसने प्रमाद के कारण वेदार्थ का समुचित ज्ञान नहीं प्राप्त किया।[3] जैसी कि उक्ति भी है—"न हि एष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति"।

वार्तिककार के अनुसार प्रकरण, सूक्त, देवता, ऋषि, निर्वचन, व्याकरण (व्युत्पत्ति) आदि वेदार्थज्ञान के उपाय हैं। इनकी सहायता से मन्त्र में प्रयुक्त अप्रसिद्ध पदों का भी अर्थज्ञान सम्भव है। आचार्य का कहना है कि जिस प्रकार लोक में व्याकरण द्वारा नित्य पदों की व्युत्पत्ति को दर्शाने वाले कोष, विकार, आगम आदि उपायों को ग्रहण किया जाता है और अव्युत्पन्न पुरुष उन पदों को व्युत्पन्न सा मानता है, वैसे ही वेद में नित्यवाक्यार्थ की सिद्धि के हेतुभूत ऋषि एवं उपाख्यानादि का आश्रय लेने पर वेदवाक्य अनित्य से प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार कुछ मीमांसक मन्त्रगत पदों एवं उसके अवयवों में चेतनता का आरोप करके सिद्धान्त को स्पष्ट करते हैं। अतः जिस प्रकार व्यवहार के लिये पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष कल्पित कर लिये जाते हैं, उसी प्रकार की कल्पना वेदार्थ को स्पष्ट करने के लिये ऋषि एवं आर्षेय विषयों में भी की जाती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ऋषि मन्त्रों के कर्ता नहीं होते, क्योंकि मन्त्र नित्य एवं अपौरुषेय हैं, किंतु परमार्थ के लिये ऋषि उनका उपदेश करते हैं। ऋष्यादि सम्बन्ध का स्मरण तो ज्ञान की दृढ़ता के लिये है।

यथा— "भूतांश नामक ऋषि से सम्बन्धित उपाख्यान" में ऋषि ने जरा एवं मरण के निराकरण के लिये 'सृण्येव' आदि मन्त्र से अश्विनों की स्तुति की है। यह मन्त्र इस प्रकार है—

न तु एवमस्ति कर्मभिरसंयोगात्।" [तन्त्र० पृ० 64]

1. द्र०— वासुदेव दीक्षित कृत— कु० वृ० पृ० 43
2. "सतः परमविज्ञानम्" मी० सू० 1/2/41, एवं उसका शा० भा० पृ० 62
3. "यत्तुपरमूकारणमविज्ञेयत्वमुक्तं तदयुक्तम्। सत एवार्थस्य-पुरुषापराधेनाविज्ञानात्०।" [त० वा० पृ० 64-65]।

"सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव पर्फरीका,
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु।[1]

सूक्त के अन्त में 'अश्विनो काममप्रा' पठित है। वादी का यह कथन युक्त नहीं है कि इन मन्त्रों का अर्थ विवक्षित नहीं है। "न ह्येष स्थाणोरपराधो यदि एनमन्धो न पश्यति" इस न्याय से इन मन्त्रों की अर्थस्मारकता पर सन्देह करना अनुचित है। इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है— **'सृण्येव'** अर्थात् अंकुश से वश में करने योग्य— यहाँ 'तत्र साधू'[2] से 'यत्' प्रत्यय हुआ है। इसका यहाँ यह तात्पर्य है 'सृण्यौ' अर्थात् हाथियों के समान बलवान्- यहाँ प्रथमा के द्विवचन को 'छन्दसि च'[3] से छान्दस आकार आदेश हुआ है। **'जर्भरी**—यहां 'भृञ्' के यङन्त होने से 'पचाद्यच्' से 'अच्' और यकार का लोप और छान्दस होने से अभ्यास का जकार और विभक्ति को ईकार आदेश होकर 'जर्भरी' बना है जिसका तात्पर्य है 'पराक्रम दिखाने वाले'। 'तुर्फरीतू'-शत्रुओं की हिंसा करने वाले, **'नैतोशेव'**—वधकर्म करने वाले, **'नैतोशा'**—योद्धाओं के समान, **'तुर्फरी'**— त्वरायुक्त हिंसकों के समान, **'पर्फरीका'**—शोभायुक्त, **'उदन्यजा'**—अर्थात् चातक की पिपासा जो कि वर्षाकाल में ही उत्पन्न होती है, **'जेमना'**—जल-प्राप्तियुक्तं (यहाँ 'जेम' शब्द से मत्वर्थीय 'न' प्रत्यय हुआ है) 'मदेरू' अर्थात् उदकप्राप्ति से प्रसन्न चातकों की भाँति स्थित वे अश्विनीद्वय हमारे जरामरणधर्मक शरीर को अजर-अमर करें।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अंकुश से प्रेरित हाथी चारों ओर पराक्रम दिखाते हुए शीघ्रता से शत्रुओं का नाश करके कुशलता से शोभायमान होते हैं, एवं जिस प्रकार चातक वर्षाकाल में जल प्राप्त करके आनन्दित होते हैं, वैसे ही हमारे ऊपर प्रसन्न होते हुए वे अश्विनीकुमार हमें जरामरण से रहित करें और हमारे ऊपर प्रसन्न हों।

इसी प्रकार **"अम्यक् सा ते इन्द्र ऋष्टिरस्मे"** इस मन्त्र में अगस्त्य ऋषि ने इन्द्र से प्रार्थना की है। जिसका सार यह है कि हे इन्द्र जिस प्रकार से शुष्कतृणसमूह में प्रदीप्त अग्नि सुशोभित होती है, उसी प्रकार तुम्हारा नित्य सहचारी वज्र भी बाधारहित होकर सुशोभित होता है। तुम्हारी कृपा से वह हम लोगों का उपकारक है और आकाश में चिरसञ्चित जल की वृष्टि कराने के कारण हमारा उपकारक है। अतः इस प्रकार वह हम लोगों के अन्नादि को धारण करता है एवं तुम्हारा प्रिय मित्र पर्जन्य भी हम लोगों का उपकारक है।[4]

इसी प्रकार वेद के अन्य मन्त्र भी अर्थ के प्रकाशक हैं। अतः यह सिद्ध

---

1. ऋ० सं० 10/106/6
2. 'तत्रसाधू' अष्टा० 4/3/18
3. अष्टा० 5/1/67
4. विस्तृत विवरण के लिये द्र०-तन्त्र०- पृ० 66।

हो जाता है कि मन्त्र विद्यमान पदार्थों का कथन कहते हैं; सर्वथा अविज्ञात अर्थों का नहीं। यह अवश्य है कि कुछ मन्त्रों का अर्थ सुगम नहीं अपितु विधिवत् अध्ययन के द्वारा ही गम्य है, किन्तु इससे उनको अदृष्टफलक मानना युक्तिसंगत नहीं है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मन्त्र दृष्टार्थ प्रकाशन करते हैं, अदृष्टार्थ का कथन नहीं करते।

12. मन्त्रों में अनित्य पदार्थों का संयोग नहीं वर्णित है–'किं ते कृण्वन्ति०'[1] आदि मन्त्रों में अनित्य वस्तुओं का संयोग-वर्णन मानकर पूर्वपक्षी ने जो वेदों और उनके अन्तर्गत आने वाले मन्त्रादि वाक्यों की अपौरुषेयता पर सन्देह प्रकट किया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि इन मन्त्रों में नित्य पदार्थों का ही संयोग वर्णित है। आचार्य जैमिनि ने अपने मीमांसासूत्र 'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्'[2] द्वारा इसका स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है और वेदवाक्यों की पौरुषेयता का खण्डन किया है। उक्त मन्त्र में प्रार्थना करने वाला यजमान है। इन्द्र देवता प्रार्थना का अधिष्ठान है। यहाँ **'कीकट'** का तात्पर्य 'कृपण' से है जो कि सम्पूर्ण लोकों में स्थित हैं। इस मन्त्र में प्रयुक्त **'प्रमगन्द'** पद किसी का नाम न होकर 'कुसीदवृत्ति' है तथा **'नैचाशाख'** नगर का नाम नहीं अपितु नपुंसक के धन का वाचक है।

तात्पर्य यह है कि कृपण, कुसीदवृत्ति (ब्याज लेने वाला) तथा नपुंसक का धन यज्ञकर्म के योग्य नहीं होता। अतः इन व्यक्तियों का यज्ञकर्म में अधिकार नहीं होता।[3] इसी प्रकार गौणार्थ में प्रयुक्त वैश्रवण (वायु) आदि का अर्थ लिये जाने पर वायु का प्रवाह नित्य होने से वेदमन्त्रों में अनित्यसंयोग का वर्णन नहीं सिद्ध होता। अतः अनित्य पदार्थों का वर्णन न होने से वेद पौरुषेय नहीं सिद्ध होते और अपौरुषेय होने से उनके अप्रामाण्य की शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि इन मन्त्रों में जन्ममरणशील किसी मनुष्य की चर्चा ही नहीं है।

13. लिङ्गसामर्थ्य से भी मन्त्रों की अर्थप्रकाशकता सिद्ध होती है– **''आग्नेय्यर्चाग्नीध्रमुपतिष्ठते''** अर्थात् आग्नेयी ऋचा द्वारा आग्नीध्र का उपस्थान (संस्कार) करे— आदि श्रुतिवाक्यों में 'आग्नेयी' आदि विशेषण का ग्रहण होने से भी मन्त्र 'उपदेशवचन'[4] अर्थात् विधि में ही गृहीत होते हैं। इस कारण भी मन्त्रसमूह की विवक्षितार्थता रूप दृष्टार्थता सिद्ध होती है न कि उच्चारणमात्र से

1. ऋ० सं० 1/53/14
2. जै० सू० 1/1/31
3. ''यजमानस्तावत्प्रार्थयिता..............तच्च सर्वमयज्ञाङ्गभूतं तेषां कर्मण्यप्रवृत्तेः तदस्माकमाहरेति।
   [त० वा० पृ० 67]
4. ''चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः।'' (श्लोकवार्तिक)।

अदृष्टप्रयोजनता। यदि मन्त्रार्थ को अविवक्षित मानेंगे, तो 'आग्नेय्या' इस पद में देवतातद्धित का निर्देश नहीं सिद्ध होगा। जैसा कि वार्तिककार ने भी कहा है कि 'आग्नेय्या०' मन्त्र में लिङ्गसामर्थ्य से जो अर्थ प्राप्त होता है वह मन्त्र की अर्थप्रकाशनपरता को ही सूचित करता है। यहाँ अर्थ के प्राधान्य से मन्त्र जिसका प्रकाशन कराता है वही उसका देवता है न कि कथनमात्र से।

शबरस्वामी ने कहा है— "यदि ते अग्निप्रयोजना ततस्ते आग्नेय्या नाग्निशब्दसंनिधानात्" अर्थात् यह विधि अग्निदेवता से सम्बन्धित विधान करने से आग्नेयी है न कि अग्नि शब्द के समीप पठित होने से। अतः इस पद में देवतातद्धित है क्योंकि सभी मन्त्रों के एक देवता से सम्बन्धित होने पर भी मन्त्र में इन्द्र, वायु आदि अन्य देवताओं के नाम प्रयुक्त होने पर अनेक देवताओं से सम्बन्ध का व्यपदेश नहीं है, अतः अर्थप्रकाशन रूप दृष्टफल स्वीकार किये बिना किसी देवता का प्राधान्य सिद्ध नहीं होता। यही कारण है कि 'आग्नेया०' आदि वाक्यों से विधान होने पर भी 'अग्ने नय' मन्त्र से उपस्थान संस्कार न कहकर 'आग्नेयी' ऋचा द्वारा उपस्थान कहा गया है।

कुतूहलवृत्तिकार के अनुसार इन मन्त्रों का प्रतिपाद्य देवतात्व ही है जाति-विशेष प्रतिपाद्य नहीं है, क्योंकि यदि जाति विशेष को प्रतिपाद्य मानेंगे तो 'औषस्' सूक्त एवं 'पित्र्य' सूक्तों में देवतातद्धित सिद्ध ही नहीं होंगे।

अतः यह सिद्ध हो जाता है कि मन्त्र निष्प्रयोजन न होकर अर्थ के स्मारक हैं और इस 'अर्थपरता' की 'आग्नेय्या०' आदि विधियाँ लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक हैं।[1]

14. मन्त्रों में ऊहदर्शन से भी उनकी अर्थप्रकाशकता सिद्ध होती है– मीमांसकों के अनुसार यदि मन्त्रों का अर्थ विवक्षित न होता तो उनमें 'ऊह' न प्राप्त होता। प्रश्न यह उठता है कि यह ऊह क्या है—'प्रकृतियाग में पढ़े गये मन्त्रों में स्थित पदों का विकृतियाग में दूसरा अर्थ करने के लिये उसके अनुरूप (योग्य) पदान्तर का प्रक्षेप (प्रयोग) 'ऊह' कहलाता है।[2] यह ऊह कभी-कभी प्रतिषिद्ध भी होता है और इसी कारण मन्त्रों की विवक्षितार्थता में लिङ्ग बनता है। जैसे— ज्योतिष्टोम की विकृति अग्नीषोमीय पशुयाग में अद्रिगु नामक 'देव्या शमितारः' यह प्रैष है। वहीं पर **'अन्वेनं माता अनुमन्यतामनुपिता'**[3] यह वाक्य भी पठित है। इसी के समीप **'न माता वर्धते न पिता'** यह ऊह भी प्राप्त होता है।

यहाँ 'वृद्धि' से तात्पर्य शरीर की स्थौल्यादि-वृद्धि से नहीं है और न ही

1. जै० सू० 1/2/43
2. द्र०- कु० वृ०-पृ० 44।
3. मै० सं० 4/13/4

कौमारादि अवस्थाओं से है, क्योंकि उनकी वृद्धि का निषेध सम्भव नहीं है प्रत्युत उसके प्रतिपादक माता एवं पिता शब्द की वृद्धि ही प्रतिषेध योग्य है। यहाँ शब्द की वृद्धि भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वह जोर से उच्चरित होने के कारण नाद का धर्म है।

अर्थ की वृद्धि भी यहां प्रसक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा करने के लिये द्विचनादि का प्रयोग करना होगा। अर्थवृद्धि होने पर विकृतियाग के अनेक पशुओं द्वारा साध्य होने से यह विकृतियाग का विषय होगा। इसलिये अनेक पशुओं द्वारा साध्य विकृतियाग में 'एनम्' के स्थान पर 'एनान्' के प्रयोग-की भाँति ही माता और पिता शब्द में द्विवचन या बहुवचन का प्रयोग होने पर अर्थगत आधिक्य होगा। जिससे 'शब्दवृद्धि रूप ऊह' प्राप्त होगा। इसी का प्रतिषेध 'न माता वर्धते०' आदि से किया गया है। मन्त्रों के विवक्षित अर्थ वाला होने पर ही विकृतियागों में अर्थपरिवर्तन से ऊह सिद्ध होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि एकपशुसाध्य प्रकृतियाग में पशु के संस्कार के समय **'अन्वेनम् माता'** आदि मन्त्र का प्रयोग होता है जबकि विकृतिभूत अनेकपशुसाध्य याग में 'एनम्' के स्थान पर 'एनौ' या 'एनान्' पद का प्रयोग होगा। तब मन्त्र का स्वरूप **'अन्वेनौ माता०'** होगा अथवा **'अन्वेनान् माता अनुमन्यताम् अन्वेनान् पिता०'** आदि रूप में मन्त्र का प्रयोग होगा, यही 'ऊह' है। यह निर्णय 'न पिता वर्द्धते न माता' इस ब्राह्मणवाक्य से होता है। क्योंकि विधिवाक्य माता और पिता शब्दों की वृद्धि का निषेध करता है, अतः 'एनम्' ही ऐसा शेष पद है जिसकी वृद्धि संभव है। यदि मन्त्र अर्थप्रकाशन रूप प्रयोजन वाले न होते तो 'एनम्' आदि पदों में 'ऊह' करना व्यर्थ होता। साथ ही विकृतियागों में ऊह किये बिना मन्त्र का प्रयोग करने पर मन्त्र विरुद्धार्थ प्रतिपादन करता।

इसी प्रकार **'त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता'**[1] इस मनोता सूक्त के मन्त्र में अन्य देवता से सम्बद्ध वायव्य पशु में अग्नि देवता से सम्बन्धित ऊह देखा जाता है। इस वाक्य में 'अग्नि' पद देवता का प्रकाशक है।[2]

इसी प्रकार **'छागस्य वपायां मेदसो अनुब्रूहि'** इस मन्त्र में 'गो' आदि पशु में अतिदेश से अनेक गौ रूप ऊह प्राप्त होने पर **'उस्राया वपाया'** आदि वाक्य से यथार्थ सिद्ध होने से भी मन्त्रों की अर्थविवक्षा सिद्ध होती है।

यदि विकृतियागों में ऊह द्वारा अर्थपरिवर्तन न करके प्रकृतिभूत मन्त्र के

1. ऋ० सं० 4/4/35
2. विशेष–इस मन्त्र का पाठ अग्नीषोमीय पशुयाग के प्रकरण में प्राप्त होता है। क्योंकि वहाँ प्रकरण में केवल अग्नि देवता से सम्बद्ध याग का अभाव है। अतः यहाँ अग्नीषोमीय देवताक याग में 'अग्नि' पद का लक्षणा से 'अग्नीषोम' यह अर्थ मानकर विधि के साथ विनियोग किया जाता है।

पदों का परित्याग करके अन्य पद कल्पित किया जायेगा तो प्रकृति एवं विकृतियागों का अलग-अलग 'अदृष्ट' स्वीकार करना होगा, और ऐसा होने पर दोनों यागों से एक फल की प्राप्ति न होकर भिन्न-भिन्न फल की प्राप्ति माननी होगी। जिससे कल्पनागौरव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। ऊह के सम्बन्ध में द्वादशाध्यायी के नवें अध्याय में विशेष व्याख्यान प्राप्त होता है।

15. विधिवाक्यों में मन्त्रों की व्याख्या प्राप्त होने से भी मन्त्रों की अर्थप्रकाशकता सिद्ध होती है–विधि अर्थात् ब्राह्मणवाक्य मन्त्रों की विवक्षितार्थता को ही सिद्ध करते हैं। वार्तिककार के अनुसार विधि की ही 'ब्राह्मण संज्ञा' है। ब्राह्मणवाक्यों में मन्त्रों का पर्यायकथन एवं अवयव्याख्या तथा निर्वचनादि भी मन्त्रों की अर्थप्रकाशकता को दर्शाते हैं। यदि मन्त्रों को निरर्थक मानेंगे, तो मन्त्रों की व्याख्या करने वाले सारे विधिवाक्य निरर्थक हो जायेंगे।[1] साथ ही विधि के वाक्यशेष रूप अर्थवादवाक्य एवं यागकर्मों के नामधेय का निर्णय कराने वाले सम्पूर्ण वाक्यों के निष्प्रयोजन होने पर समग्र वेद का अप्रामाण्य सिद्ध होने लगेगा। अतः मन्त्रों का अर्थप्रकाशकता रूप दृष्टफल मानना अनिवार्य है।

दर्शपूर्णमास प्रकृतियाग में गार्हपत्य संस्कार में **'अग्ने गृहपते व्रतं करिष्यामि'** आदि मन्त्र विनियोग कराते हैं। वहीं पर "शतं हिमा शतं वर्षाणि जीव्यासम इत्येव एतदाह"[2] यह मन्त्रवाक्य पठित है। यह वाक्य साकांक्ष हैं। इस वाक्य में प्रयुक्त 'हिमा' पद दुर्बोध अर्थ वाला है। यहाँ 'शतं हिमा०' अर्थवाद वाक्य का तात्पर्य 'शतं वर्षाणि' है। इस मन्त्र को व्याख्यायित करने वाला ब्राह्मण वाक्य है—**"शतं त्वां हेमन्तानिन्धिषीय इति वावैतदाह"**। यहाँ 'हेमन्त' पद वस्तुतः संवत्सर का सूचक है। इसका तात्पर्य यह है कि 'हे अग्नि हम सौ वर्षों तक आपकी सेवा करें' अर्थात् जीवित रहें।

यदि हम मन्त्रों को अर्थप्रकाशक नहीं मानेंगे तो ब्राह्मणवाक्य का यह व्याख्यान निश्चय ही असंगत हो जायेगा। अतः मन्त्र अर्थप्रकाशक हैं; यह सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार श्रुति अथवा लिङ्गादि प्रमाणों से यागाङ्गत्व प्राप्त मन्त्रों के अर्थप्रकाशन रूप व्यापार के बिना मन्त्रों की स्वरूपतः क्रत्वङ्गता भी नहीं सिद्ध होगी। इसलिये अदृष्टार्थता की अपेक्षा अर्थाभिधान ही मन्त्रों के व्यापार के रूप में मानना चाहिए। वस्तुतः शाब्दबोध के विषयभूत अनुष्ठेय अर्थ का यागकर्म के अनुष्ठानकाल में स्मरण मन्त्रों का दृष्ट प्रयोजन है।

मन्त्र इसलिये भी अर्थप्रकाशक हैं, क्योंकि यदि **"अग्निर्ज्योतिः ज्योतिरग्निः**

---

1. "विधिशब्दाश्च" [जै० सू० 1/2/45]
   एवं कुमारिल भट्ट का भाष्यवार्तिक— [त० वा० पृ० 68]
2. शत० ब्रा० 2/3/4/2/1

स्वाहा" इस मन्त्र का अर्थविवक्षित न होता तो "अग्निहोत्रं जुहोति" इस उत्पत्तिवाक्य का अग्निहोत्र पद याग कर्म का नामधेय नहीं हो सकता था।[1] मन्त्रों की अर्थवत्ता होने पर ही "बर्हिदेवसदनं दामि" आदि मन्त्रों का कुशोच्छेदन रूप मुख्यार्थ में विनियोग सम्भव है।

इसी प्रकार '**जुषन्तां युज्यं पयः**' इस मन्त्र द्वारा प्रतिपादित 'पय' ही आमिक्षा पद वाच्य है न कि दधि पदार्थ- यह निर्णय भी मन्त्रों को अर्थप्रकाशक मानने पर ही सम्भव है।

इसी प्रकार अग्नीषोमीय पशुयाग में ब्राह्मणपाठक्रम से अन्य प्रकार से क्रम देने पर भी मन्त्रपाठ से वही क्रम प्राप्त होता है, क्योंकि मन्त्रपाठक्रम ब्राह्मणपाठक्रम से बलवान् होता है। वस्तुतः पञ्चम अध्याय में किया गया यह निर्णय मन्त्रों के अर्थप्रकाशनपरक होने पर ही सिद्ध होता है।

मन्त्र के लक्षण और भेद

जैमिनि इत्यादि मीमांसकों का मत है कि मन्त्र यागक्रिया के अनुष्ठान-काल में अनुष्ठेय पदार्थ का स्मरण कराने में समर्थ होने से अर्थप्रकाशन करते हैं। इसी कारण मन्त्रों को अनुष्ठेय यागादि क्रिया का प्रेरक कहा गया है।[2] अभियुक्त पुरुषों द्वारा मन्त्र के रूप में पढ़े गये वेदवाक्य मन्त्र कहलाते हैं। जैसे—"**अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय**"[3], "**मन्त्रं मनसा वनोषितम्**"[4], "**मन्त्रं वदत्युक्थम्**"[5] इन वेदवाक्यों में मन्त्र शब्द प्रयुक्त हैं। वस्तुतः वेद का मन्त्रभाग ही ब्राह्मणभाग में व्याख्यात है। सम्भवतः इसी कारण कतिपय विद्वानों ने "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस कथन के अनुसार मन्त्र एवं ब्राह्मण ये दो ही भेद वेदवाक्यों के किये हैं।

वादी का जो यह कहना है कि मन्त्र का अर्थप्रकाशन (प्रेरक) रूप लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है, वह उचित नहीं है, क्योंकि स्वयं भाष्यकार शबरस्वामी एवं वार्तिककार ने इन लक्षणों को "प्रायिक" कहा है।[6] इसका कारण यह है कि "**वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत**"[7] आदि कतिपय ऐसे उदाहरण वेद में मिलते हैं, जहाँ मन्त्र अर्थ प्रकाशक न होकर विधायक हैं। मन्त्र के

---

1. मी० सू० 1/4/4
2. "तच्चोदकेषुमन्त्राख्या" [जै० सू० 2/1/32]
3. तै० ब्रा० 1/7/1/
4. ऋ० सं० 1/2/34
5. ऋक्० 1/3/20/5 एवं तन्त्र० पृ० 415
6. द्र० मी० सूत्र 2/1/32 का० शा० भा०।
7. वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत ग्रीष्माय कलविङ्कान्।
   वर्षाभ्यस्तित्तरीञ्छरदे वर्तिकान् हेमन्ताय ककरान्छिराय विककरान्।। [यजु० 24/20]

लक्षणं को 'प्रायिक' मानने से पूर्वपक्षी का उक्त आरोप स्वयं खण्डित हो जाता है।

वस्तुतः कौत्स आदि याज्ञिकों ने भी मन्त्रों को अनुष्ठानस्मारक माना है। जहाँ मन्त्र साक्षात् अथवा गौणी लक्षणा का आश्रय लेने पर भी अर्थप्रकाशन नहीं करते वहाँ अगत्या उनका अदृष्टार्थत्व मान लिया जाता है। जैसे—'हुम्', 'फट्' आदि जपमन्त्रों का। किन्तु उनके अतिरिक्त समस्त मन्त्रों का अर्थप्रकाशनत्व मानना ही तर्कसम्मत है।[1]

साम मन्त्रों का यद्यपि स्वरसमाहार होने से साक्षात् प्रयोजन नहीं है, तथापि पदार्थज्ञान के माध्यम से उनकी अर्थप्रकाशकता है, क्योंकि पदार्थज्ञान वाक्यार्थज्ञान का साधन (कारण) होता है। जैसा कि न्यायसुधाकार ने लिखा है—

"सर्वसाधारणत्वेन विचारस्य प्रयोजनम्
कर्मकालेऽनुसंधेये मन्त्रार्थोऽर्थपरत्वतः।"

कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ तक संभव हो, मन्त्रों की सामान्यतः अनुष्ठान काल में अर्थप्रकाशकता मानी जानी चाहिए। मन्त्रों में मुख्य रूप से आकांक्षा विद्यमान होती है, आकांक्षा के बिना मन्त्र व्यर्थ है; किन्तु यह आकांक्षा वैदिक युग में नहीं अपितु वाद में निरूपित हुई।

मन्त्र के भेद

मन्त्रवाक्यों के मुख्यतः तीन भेद हैं जहाँ एक प्रयोजन वाले मन्त्र एक साथ हों उसे ऋक्मन्त्र कहा गया, जहाँ गायन हो वह साममन्त्र हैं और इनसे भिन्न वेद मन्त्र यजुष मन्त्र कहलाये। ऋक्, यजुष् एवं साम[2] इन तीन भे दों के अतिरिक्त वृत्तिकार उपवर्ष ने मन्त्रों के चौदह भेद बताए हैं—

1. **अस्यन्त**-जैसे—'मेधोऽसि' आदि वाक्य असि अन्त वाले मन्त्र हैं।

2. **त्वा अन्त वाले**-जैसे—'इषेत्वा', 'ऊर्जेत्वा' (तै० सं० 1/1/1) आदि मन्त्रों के अन्त में 'त्वा' प्रयुक्त है।

3. **आशिषूरूपमन्त्र**-इन आशीर्वादात्मक मन्त्रों से स्वर्ग, आयु, धन, पुत्र आदि का प्रकाशन होता है।[3] यथा— "आयुर्दा असि" आदिमन्त्र आयु का प्रकाशन करते हैं।

4. **स्तुतिरूप मन्त्र**-यह स्तुति नामतः अथवा कर्मतः की जाती है।[4] यथा—

---

1. द्र० - खण्डदेव कृत भाट्टदीपिका - पृ०- 32 एवं मी० कौ० पृ०- 71
2. "तेषां ऋक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था", "गीतिषु सामाख्या", "शेषे यजुः"। [जै० सू० 2/1/35-37]
3. "स्वर्गायुर्धनपुत्राद्यैरर्थैरशीस्तुकथ्यते।"
4. "स्तुतिस्तु नाम्नो रूपेण कर्मणा बान्धवेन च।

"अग्निमूर्धा दिवा ककुदः" ।[1]

5. संख्यारूप मन्त्र-संख्या का कथन करते हैं। जैसे— 'एको मम एका च तस्य' आदि मन्त्र।

6. प्रलापरूप मन्त्र-'अक्षी ते इन्द्र पिङ्गले डुलेरिव' यह मन्त्र प्रलपित मन्त्र का उदाहरण है।

7. परिदेवनरूप मन्त्र-'अम्बेऽम्बालिके न मां नयति कश्चन" [2] आदि मन्त्र परिदेन रूप हैं।

8. प्रैषरूप मन्त्र-यथा—"अग्नीत् अग्नीन् विहर'[3] आदि मन्त्र प्रैषमन्त्र कहे जाते हैं।

9. अन्वेषण-'कोऽसि कतमोऽसि' आदि मन्त्र अन्वेषण रूप हैं।

10. प्रश्नमन्त्र-जैसे—'पृच्छामित्वा परमन्तं पृथिव्या'[4] आदि मन्त्रों में प्रश्न होने से ये प्रश्न के प्रकाशक हैं।

11. आख्यान—'इयं वेदि परोऽन्तः पृथिव्या'[5] आदि मन्त्र आख्यान रूप हैं। माधवाचार्य ने इसी को उत्तररूप मन्त्र कहा है।

12. अनुषङ्गमन्त्र-यथा—"अच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य-रश्मिभिः"[6] आदि मन्त्र। मीमांसाबालप्रकाशकार ने इसे दो प्रकार का माना है—1. पुरस्तादनुषङ्ग, 2. परस्तादनुषङ्ग। उक्त मन्त्र परस्तादनुषङ्ग का ही उदाहरण है।

13. प्रयोगरूप मन्त्र-यह दो प्रकार का है—1. त्रैस्वर्यवान्, 2. चातुःस्वर्यवान्। प्रथम का उदाहरण "इषेत्वा" आदि मन्त्र एवं द्वितीय भेद का उदाहरण "अग्निमीडे ... पुरोहितम्"[7] इत्यादि मन्त्र हैं।

14. सामर्थ्यरूप मन्त्र-जैसे 'देवस्य त्वा सवितुः'[8] आदि मन्त्र निर्वाप-प्रकाशन की सामर्थ्य वाले मन्त्र हैं।

शङ्करभट्ट के अनुसार भाष्यकार द्वारा उदाहृत ये मन्त्र ऋक् एवं यजुष्

स्तुवन्तं वेद सर्वोऽयं अर्थयत्येष मामिति,
स्तौतीत्यर्थं ब्रुवन्तं च सार्थं मामेष पश्यति।
स्तुर्वाद्भः ब्रुवद्भिर्वा ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः। [वृहद्देवता पृ०- 2]

1. तै० सं० 4/4/4
2. तै० सं० 7/4/19
3. शत० ब्र० 4/2/4/11
4. मा० सं० 23/18
5. शत० ब्रा० 4/2/4/1
6. तै० सं० 4/2/4/11
7. ऋ० सं० 1/1/1
8. तै० सं० 7/4/8

दोनों में चरितार्थ होते हैं इसी कारण भाष्यकार नें कहीं ऋक्मन्त्रों का और कहीं यजुर्मन्त्रों का उदाहरण दिया है। अतः ऋक् एवं यजुष् रूप भेद के आधार पर मन्त्रों के अट्ठाइस भेद सिद्ध होते हैं, किन्तु भाष्यकार शबरस्वामी एवं वार्तिककार आचार्य कुमारिल ने मन्त्रों के इन भेदों को 'प्रायिक' कहा है[1]।

कहीं-कहीं मन्त्रों के इन भेदों के अतिरिक्त भेद भी प्राप्त होते हैं। जैसे—**'असि' मध्य** वाले मन्त्र—'ईड्यश्चासि वन्द्यश्चासि' आदि मन्त्र तथा **'त्वामध्यीय'**, 'तत्त्वायामि' आदि मन्त्र, 'इति वा इति मे मन इति' आदि **इतिकरणबहुल** मन्त्र एवं 'भगं भक्षीत्याहेति'[2] आदि **इत्याहोपनिबद्ध** मन्त्र, एवं आख्यायिका रूप मन्त्र।

इन मन्त्रभेदों के अतिरिक्त मीमांसाबालप्रकाशकार ने मन्त्र के सैकड़ों भेद एवं उदाहरण वर्णित किये हैं जिसमें प्रमुख भेद निम्नांकित हैं। यथा—

1. हेतुविधिमन्त्र, 2. निर्वचनार्थक मन्त्र, 3. निन्दारूपमन्त्र, 4. संशयार्थक मन्त्र, 5. परकृति, 6. पुराकल्प मन्त्र, 7. द्रव्यविधि मन्त्र, 8. गुणविधि मन्त्र, 9. जातिविधि मन्त्र, 10. जातिविधि-सरूपमन्त्र, 11. गुणविधिसरूप मन्त्र, 12. क्रिया मन्त्र, 13. क्रियाविधिसरूप मन्त्र, 14. निषेधविधिरूप मन्त्र, 15. निषेधविधिसरूप मन्त्र, 16. निमित्तविधिसरूप मन्त्र, 17. सादृश्यविधिसरूप मन्त्र आदि बाईस भेद मन्त्र के वर्णित किये गये हैं। ऋक् एवं यजुष् के भेद से शङ्करभट्ट ने इन मन्त्रों के 56 भेद परिगणित किये हैं।

पुनः ऋक्मन्त्रों के गायत्री, उष्णिक् आदि चौदह छन्दों के आधार पर मन्त्रों के चतुर्दश भेद एवं उनके अनेक उपभेद वर्णित किये हैं और इन्हें भाष्यकार शबरस्वामी एवं वार्तिककारादि आचार्यों द्वारा सम्मत कहा है।[3] किन्तु ये सारे भेद तो उदाहरणभेद हैं, वर्गीकरण जन्य भेद नहीं है।

वार्तिककार ने भी "अध्येतृवृद्धव्यवहारसिद्धं चेदं प्रायिकचिह्नयुक्तं लक्षणलाघवार्थमुक्तम्" इस कथन द्वारा भाष्यकार के मत का पोषण किया है।

---

1. "तच्चेतद् वृत्तिकारेणोदाहरणोपदेशेनाख्यातम् एतदपि प्रायिकम्।"

[शा० भा० पृ०]

"ऋषयोऽपि हि लक्ष्याणां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः।
वृत्तौ लक्षणमेतेषामस्यन्तत्वान्तरूपता,
आशिषः स्तुतिसंख्ये च प्रलप्तं परिदेवितम्।
प्रैषान्वेषणपृष्टाख्यानअनुषङ्ग प्रयोगिताः,
सामर्थ्यं चेति मन्त्राणां विस्तरः प्रायिको मतः।"

2. तै० ब्रा० 2/8/9
3. अतोऽन्ये भेदा ये क्वचित्केचिन्निरूपिता,
भाष्यवार्तिकाराद्यैः तान्सर्वानभिदध्महे। [मी० बा० प्र०-पृ० 62]

नव्य मीमांसकों एवं आचार्य चिन्नस्वामी ने मन्त्र के तीन ही भेद कहे हैं[1]-

1. **करण मन्त्र**-जहाँ पहले मन्त्र का उच्चारण करके कर्म सम्पादन किया जाय वे 'करण मन्त्र' कहलाते हैं। जैसे—'इषेत्वा' आदि मन्त्रों के उच्चारण के बाद कुशोच्छेदन कर्म किया जाता है। अतः इषेत्वा, ऊर्जेत्वा[2] आदि करण मन्त्रों के उदाहरण हैं।

2. **क्रियमाणानुवादी मन्त्र**-जहाँ कर्मानुष्ठान के साथ-साथ ही मन्त्रोच्चारण किया जाता है वे मन्त्र क्रियमाणानुवादी कहे जाते हैं। जैसे—"युवा सुवासा" आदि 'यूपपरिव्याण' क्रिया के अङ्गभूत मन्त्र परिवेष्टन के साथ-साथ उच्चरित किये जाते हैं।

3. **अनुमन्त्रण मन्त्र**-ये मन्त्र क्रिया के अनुष्ठान के अनन्तर पढ़े जाते हैं। जैसे—"अग्नेरहं देवयज्ञया अन्नादौ भूयासम्"[3] आदि मन्त्र क्रिया के अनुष्ठान के पश्चात् पढ़े जाते हैं।

इसके अतिरिक्त कतिपय मीमांसक मन्त्रों का 'उपस्थानरूप' एक अन्य भेद भी मानते हैं; किन्तु इसका अन्तर्भाव करणमन्त्र अथवा क्रियमाणानुवादी मन्त्र के अन्तर्गत ही हो जाता है। अतः इसे अलग भेद मानना ठीक नहीं है। अनुमन्त्रण मन्त्रों को ही कतिपय विद्वानों ने 'अभिमन्त्रण' कहा है।[4]

5. निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि वेदसम्प्रदाय की रक्षा करने वाले अभियुक्त पुरुष वेद के जिस अंश का 'मन्त्र' संज्ञा से व्यवहार करते हैं वे वाक्य ही मन्त्र हैं।[5] वार्तिककार के अनुसार वैदिक या याज्ञिक शिष्टजनों का मन्त्ररूप से व्यवहार इसमें प्रमाण है। अतः मन्त्र के जिन उदाहरणों को मन्त्रों के भेद के रूप में वृत्तिकार उपवर्ष एवं शङ्करभट्ट आदि आचार्यों ने उद्धृत किया है वे उदाहरणभेद मात्र हैं, वर्गीकरणजन्य भेद नहीं हैं। मन्त्र तो ऋक्, यजुष् एवं

---

1. स्तुतिः निन्दा च संशय परिदेवना, स्पृहाशीः कल्पना याञ्चा प्रश्नः प्रैषः प्रवल्हिका, नियोगानुयोगश्च श्लाघा विलपितं च यत्, आचिख्यासाथ संलापः पवित्राख्यानमेव तत्। [बृहद्देवता- पृ० 3-4]
2. तै० सं० 1/1/1/1
3. तै० सं० 1/6/2/3
4. "मन्त्रमुच्चारयन्नेव मन्त्रार्थत्वेन संस्मरेत्,
   शेषिणं तन्मनाभूत्वा स्यादेतदनुमन्त्रणम्।
   उद्देश्यमभिमुखत्वे तु स्यान्तदेवाभिमन्त्रणं,
   उपस्थितिस्तु बोधः स्यात् बोधान्तोच्चारणं जपः।" [त० सि० रत्ना० - पृ० 13]
5. अभिधानस्य चोदकेषु एवं जातीयकेषु...........मन्त्रा वर्तन्ते।"
   [शा० भा० पृ० 127]।

साम तीन ही प्रकार के हैं। वेद के मन्त्रभाग ही अधिकांशतः ब्राह्मणभाग में व्याख्यात हैं।

वेद के जिन मन्त्रों के विषय में पुनर्वचन, परिसंख्या, अर्थवाद, विप्रतिषेध, अनित्यतादोष एवं अविज्ञेयता आदि दोष पूर्वपक्षी ने कहे हैं, वे अज्ञानता के कारण कहे गये हैं। क्योंकि उक्त आरोप दोष नहीं है; प्रत्युत गौणार्थक स्तुति, संस्कार आदि की सिद्धि के लिये हैं।

''इमामगृभ्णन्०' आदि मन्त्रों में परिसंख्या स्वीकार करने पर भी प्राचीन मीमांसक-भाष्यकार वार्तिककार, पार्थसारथिमिश्र, प्रभाकर भट्ट, शालिकनाथ मिश्र आदि एवं नव्यमीमांसक खण्डदेव प्रभृति विद्वानों ने श्रुतहानादि दोषत्रय की अप्राप्ति मानी है, जबकि अर्वाचीन मीमांसकों ने अपने ग्रन्थों (विशेष रूप से प्रकरण ग्रन्थों) में परिसंख्या के श्रौती एवं लाक्षणिकी दो भेद किये हैं। साथ ही ''पञ्चपञ्चनखाभक्ष्या०'' आदि का लाक्षणिक अर्थ स्वीकार करते हुए इस वाक्य में परिसंख्याविधि द्वारा 'इतरनिवृत्ति' में श्रुतहानादि दोषत्रय की प्राप्ति मानी है।[1]

ये मन्त्र निरर्थक न होकर याग सम्बन्धी अर्थप्रकाशन रूप प्रयोजन की सिद्धि करने के कारण विधि के अङ्ग होते हैं। अतएव इन पर अक्रियार्थता दोष नहीं प्राप्त होता। मन्त्रों का यागादिक्रिया से सम्बद्ध द्रव्य देवता आदि अर्थों की स्मारकता रूप कार्य होने के कारण उन पर अप्रामाण्यता का आक्षेप भी सम्भव नहीं है।

प्राचीन मीमांसकों ने ''याथार्थ्यलक्षणकथन'' द्वारा मन्त्रों का प्रामाण्य माना है, जबकि खण्डदेव प्रभृति नव्य मीमांसकों ने मन्त्रों का प्रामाण्य ''पदार्थविधया'' स्वीकृत किया है। साथ ही मन्त्रों का अर्थप्रकाशन रूप दृष्टफल भी स्वीकार किया है। इसमें वैरस्य नहीं है, क्योंकि शबरस्वामी आदि मीमांसाचार्यों नें भी वाक्यार्थज्ञान के प्रति पदार्थ ज्ञान को कारण के रूप में स्वीकृत किया है।[2] सोमेश्वरभट्ट ने अपूर्व के साधनभूत लवनादि विधियों का अङ्ग होने से तथा अश्रुत द्रव्य, देवता एवं यागादि का प्रकाशन करने वाले मन्त्रों को अनधिगतार्थबोधक कहा है और धर्म में मन्त्रवाक्यों का प्रामाण्य माना है। विधिवाक्यों के अङ्ग होने से ये परम्परया धर्म में प्रमाण बनते हैं।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि **''मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्''** इस विधि के अनुसार

---

1. (क) ''पञ्चपञ्चनखाभक्ष्या इत्यत्र तु लाक्षणिकी। इतरनिवृत्तिवाचकपदस्याभावात्। अतएवैषा त्रिदोषग्रस्ता।'' [मी० न्याय० पृ० 84]
   (ख) ''सा च परिसंख्या त्रिदोषा.............इति त्रिदोषा परिसंख्या गत्यभादवादङ्गीकृता। गत्यन्तरे सति सा न युक्ता।'' [मी० परि० पृ० 41]
2. (क) ''अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति।'' [शा० भा० पृ० 83]

मन्त्रों की क्रियार्थप्रकाशनपरता सिद्ध होती है। जिन मन्त्रों द्वारा अर्थप्रकाशन सम्भव नहीं होता उनकी अगत्या अदृष्टफलकता मानी गयी है। जिस प्रकार लोक में प्रयुक्त वाक्य अर्थवान् होते हैं वैसे ही वेद में प्रयुक्त मन्त्रादि वाक्य भी अर्थज्ञानपूर्वक अर्थ स्मरण कराते हैं। लोक की भाँति ही वेद गत वाक्य में श्रोता एवं प्रयोक्ता दोनों को शाब्दबोध होता है। वस्तुतः धर्म का प्रमुख आधार मन्त्र और उसकी क्रमिक व्याख्या है।

यद्यपि मन्त्रार्थ को जाने बिना भी विधि के साथ उनका विनियोग संभव है, तथापि वह अभ्युदयकारक नहीं है। "योऽर्थज्ञः इत्सकलं भद्रमश्नुते" इस श्रुतिवाक्य से एवं "स्थाणुरयं भारहरः"[1] आदि उक्तियाँ **'नहिनिन्दान्याय'** से अर्थज्ञान की प्रशंसा करती हैं। इसलिये जहाँ तक सम्भव हो सके मन्त्रों का अर्थज्ञान अनिवार्य है। जैसी कि उक्ति भी है—

"मन्त्रार्थज्ञो जपञ्जुह्वत्तथैवाध्यापयन् द्विजः
स्वर्गलोकमवाप्नोति नरकं तु विपर्यये।"

कहने का तात्पर्य यह है कि मन्त्रार्थज्ञानपूर्वक जप एवं होमादि कर्म करने वाला एवं पठन-पाठन करने वाला पुरुष स्वर्गलोकादिरूप अभ्युदयकारक फल को प्राप्त करता है। अतः विधि के उपकारक होने से विधिवाक्यों की भाँति ही मन्त्रवाक्यों का भी विधि के अङ्गरूप से धर्म में प्रामाण्य है। इसलिये मन्त्र सर्वथा प्रयोजनपरक ही सिद्ध होते हैं।

*****

(ख) "पदार्थानां तु मूलत्वं युक्तं तद्भावभावतः।" [श्लोक० पृ० 87]

1. स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।" [निरुक्त 1/6/19 पृ० 49]

तृतीय अध्याय
नामधेयवाक्य

नामधेयवाक्य का स्वरूप और उपयोगिता

विधि, मन्त्र एवं अर्थवाद के पश्चात् वेदवाक्यों का चतुर्थ विभाग **'नामधेय'** है जो अत्यंत महत्वपूर्ण है। नामधेय का तात्पर्य संज्ञापरक वाक्यों से है अर्थात् जिन विधि वाक्यों में यज्ञ की संज्ञा अभिहित की गई है वे नामधेय वाक्य हैं। इस नामधेय भाग का वर्णन द्वादशलक्षणी प्रणेता आचार्य जैमिनि से लेकर अर्वाचीन मीमांसकों माधवाचार्य, कुतुहलवृत्तिकार आदि ने एवं मीमांसान्यायप्रकाश, अर्थसंग्रह आदि के प्रणेता प्रकरण ग्रन्थकारों ने विस्तार से किया है। यद्यपि आचार्य कुमारिल भट्ट ने वेद का तीन प्रकार से विभाजन किया है, किन्तु 'नामधेय' भाग का शब्दतः उल्लेख नहीं किया है तथापि अपने **''तदधीनत्वात् यागविशेषसिद्धेः''**[1] इस कथन द्वारा उन्होंने नामधेयपदों की प्रयोजनवत्ता प्रतिपादित की है। 'नामधेय' विधेय यागरूप अर्थ का परिच्छेद अर्थात् इतर यागों से व्यावर्तन करते हैं। यदि नामधेयों द्वारा यह व्यावर्तन रूप कार्य न किया जाय तो 'यज' के धात्वर्थ से सामान्य रूप से समस्त यागों की प्राप्ति होगी और ऐसी दशा में किस फल की प्राप्ति के लिये कौन सा याग किया जाय— यह व्यवस्था न रहेगी। अतः नामधेयों का याग का नाम-निर्धारण कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इनके द्वारा ''स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत', उद्भिदा यजेत पशुकामः'' आदि वाक्यों की व्यवस्था प्राप्त होती है। इन्हीं से विशेषित होकर विधि अपने कार्य में प्रवृत्त होती है।

जैसे—**'उद्भिदा यजेत पशुकामः'** इस विधिवाक्य में अप्राप्त पशुरूप फल को उद्देश्य करके याग का विधान किया गया है, किन्तु यहाँ याग सामान्य ही प्राप्त है; जबकि याग-सामान्य कभी विधेय नहीं हो सकता है। ऐसी दशा में 'उद्भिदा' यह पद याग का विशेषण होकर यागविशेष रूप विधेय की प्राप्ति कराता है। क्योंकि ''उद्भिदा नामकेन यागेन पशुफलं भावयेत्''— इस वाक्य में उद्भिद् नाम एवं याग का सामानाधिकरण्य से अन्वय प्राप्त होता है।

यह सामानाधिकरण्य उद्भिद् पदगत तृतीयाश्रुति के कारण नहीं है अपितु एकार्थवाचित्व के कारण है, क्योंकि याग और उद्भिद् दोनों के द्वारा पशुरूप एक ही फल की प्राप्ति होती है। यह सामानाधिकरण्य **'नीलम् उत्पलम्'** की भाँति नहीं है; प्रत्युत **'वैश्वदेव्यामिक्षा'** पदों की भाँति है।[2] कहने का तात्पर्य

---

1. तन्त्रवार्तिक पृ० 284।
2. द्र०- मीमांसान्यायप्रकाश पृ० 118

यह है कि 'नीलमुत्पलम्' में 'नील' शब्द नीलगुण वाची एवं 'उत्पल' शब्द जातिवाची है। इन दोनों पदों का लक्षणा के द्वारा द्रव्यत्व मानने पर सामानाधिकरण्य सिद्ध होता है। जबकि 'उद्भिद्' पद एवं याग का प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न नहीं है, क्योंकि उद्भिद् शब्द 'यज' से प्राप्त यागविशेष का ही वाचक है। इसलिये वह याग से भिन्न अर्थ को नहीं कहता है।

'वैश्वदेव्यामिक्षा'[1] इस वाक्य में 'वैश्वदेवी' पद देवतातद्धितान्त है। यहाँ पर 'साऽस्यदेवता'[2] सूत्र से वैश्वदेवी में अण् प्रत्यय हुआ है, अतः यह पद देवतातद्धितान्त है। यहाँ द्रव्य विशेष की आकाङ्क्षा होने पर समीप पठित होने से 'आमिक्षा' इस उपपद का ग्रहण होता है। इस प्रकार तद्धितान्त 'वैश्वदेवी', उपपद 'आमिक्षा' एवं 'अस्य' ये तीनों अभिधावृत्ति से आमिक्षारूप एक ही अर्थ के वाचक हैं। अतः इनका सामानाधिकरण्य है। इसलिये जिस प्रकार विशेष्य वैश्वदेवी शब्द को विशेष अर्थ का समर्पण करने वाला आमिक्षा पद (विशेषण) एक ही अर्थ का वाचक है, उसी प्रकार 'यज' के धात्वर्थ याग और उस याग के विशेषण 'उद्भिद्' पद के एकार्थवाचक होने से यहाँ 'उद्भिदा यजेत' वाक्य में भी सामानाधिकरण्य है।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि नामधेय पद विधेय याग की विशेषता का प्रतिपादन करते हुए अपनी सप्रयोजनता को सिद्ध करते हैं, क्योंकि समस्त वेदवाक्य सम्प्रदाय-परम्परा से प्राप्त होते हैं, अतः 'उद्भिदा यजेत' आदि वाक्य निरर्थक नहीं हैं।

नामधेय का प्रामाण्य

कतिपय वादी विद्वानों के मतानुसार नामधेयपदों का धर्म में प्रामाण्य ही नहीं है। अपने इस कथन की पुष्टि के लिये वादी निम्नाङ्कित हेतु प्रस्तुत करते हैं—

पूर्वपक्ष—

1. नामधेयभाग धर्म में प्रमाण नहीं है, क्योंकि वेद क्रियार्थक हैं। वेद के विधिभाग साक्षात् एवं अर्थवाद तथा मन्त्र परम्परया यागादि क्रियाओं के सम्पादन में सहायक हैं। अतः इन्हीं का धर्म के प्रति प्रामाण्य सिद्ध होता है न कि 'उद्भिदा' आदि नामधेय पदों का।[4]

ये नामधेय भाग साध्य, साधन तथा इतिकर्तव्यता का कथन नहीं करते

---

1. तै० सं० 1/8/2
2. अष्टा० 4/2/24
3. "श्रुत्यैवोपपदस्यार्थः सर्वनाम्नाभिधीयते,
   तदर्थस्तद्धितेनैवं त्रयाणामेकवाच्यता।" [तन्त्र० पृ० 533]
4. "त्र्यंशवेदप्रमाणत्वात् उद्भिदादि ततोऽधिकम्।
   धर्मायानुपयुक्तं तदानर्थक्यं प्रतिपद्यते।" [तन्त्र० पृ० 281]

हैं; जिससे उन्हें विधि कहा जा सके।[1] विधेय यागादि की स्तुति न करने के कारण ये अर्थवादों के अन्तर्गत नहीं आते, अतएव विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता भी नहीं प्राप्त करते। अध्येता पुरुष को यागसमवेत अर्थ का स्मरण न कराने के कारण मन्त्रभाग में भी इनका ग्रहण सम्भव नहीं है। अतः नामधेय रूप वेदभाग अप्रामाणिक एवं निष्प्रयोजन हैं।

2. यदि कथञ्चित् **'उद्भिदा यजेत'** आदि वाक्यों को धर्म में प्रमाण माना भी जाय तो गुणविधि के रूप में उद्भिद आदि पदों का याग के साथ अन्वय मानना होगा। नामधेय के रूप में इनका धर्म में प्रामाण्य संभव नहीं है।

3. 'उद्भिदा-यजेत' आदि वाक्यों को गुण विधि मानना इसलिये भी उचित है, क्योंकि लोक में ख़नित्रादि-अवययों की गुण के रूप मे ही प्रसिद्धि है, यागनामधेय के रूप में नहीं।[2] अतः उद्भिदा यजेतादि वाक्य नामधेय समर्पक नहीं हैं।

4. तृतीया विभक्ति सदैव करणवाचिनी होती है। अतः तृतीयान्त होने से उद्भिदा आदि पदों से उद्भिद रूप साधन से युक्त याग ही ज्ञात होता है, उद्भिद नामक याग नहीं प्राप्त होता।

5. इन वाक्यों को विधि रूप में मानने पर ही इनकी क्रियार्थता सिद्ध हो सकती है, क्योंकि उद्भिदादि पदों की खनित्रआदि द्रव्यविशिष्टक क्रियाविषयता मानने पर ही पुरुष में प्रवृत्तिविशेष उत्पन्न होगी। लोक अथवा वेद में कहीं भी नामधेय की यागार्थता नहीं प्राप्त होती। जैसी कि उक्ति भी है—

> **''प्रसिद्धेर्बलवत्त्वेन प्रयोजनवशेन च,**
> **अधिकत्वात्प्रवृत्तेश्च गुणरूपं विधीयते।**[3]

6. इन वाक्यों को यागनामधेय मानने में एक दोष यह भी है कि जब 'यजेत' के 'त' प्रत्यय द्वारा ही अनुष्ठाता पुरुष में याग-सम्बन्धी प्रवृत्ति-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है तो उद्भिदादि पदों को नामधेय मानने पर यह भला कौन सा विशेष कार्य होगा।

7. यदि सिद्धान्ती यह कहे कि अविहित कर्म में गुण विधान संभव नहीं है तो; यह कथन तर्कसंगत नहीं है। क्योंकि यथा—**'सोमेन यजेत'** इस वाक्य से गुण एवं कर्म दोनों का विधान माना गया है, वैसे ही जिन किन्हीं स्थलों में

---

1. तत्र विध्यर्थवादमन्त्रांशैर्वेदाद् धर्मः प्रतीयते न चोद्भिदादयः
   तेष्वन्तर्भावसम्भवः............साध्याद्यनभिधानतः'' [शा० दी० पृ० 78]
2. उद्भिद्गुणता यागस्य विधीयते, कुतः प्रसिद्धेरनुग्रहात्,
   गुणविधेरर्थवत्वात् प्रवृत्तिविशेषकरत्वाच्च।'' [शा० भा० पृ० 86]
3. त० वा० पृ० 282

कर्मविधान अप्राप्त होगा वहाँ पर मत्वर्थ द्वारा कर्म कल्पित कर लिया जायेगा।

तात्पर्य यह है कि उद्भिदादि यौगिक पद, चित्रादि रूढ़ तथा अग्निहोत्रादि योगरूढ़ पद एवं श्येनादि पद गुण के वाचक हैं। इसलिये 'उद्भिदा यजेत', 'चित्रया यजेत', 'अग्निहोत्रं जुहोति', 'श्येनेन अभिचरन् यजेत', 'संदंशेन अभिचरति' आदि वाक्य यागनामधेय न होकर गुणविधियाँ हैं।

सिद्धान्त

मीमांसकों का मत है कि 'उद्भिदा यजेत' आदि वाक्य में उद्भिदादि शब्द याग के नामधेय हैं और धर्म में इनका प्रामाण्य है। अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने अपने-अपने ग्रन्थों में विस्तार से नामधेयों का स्वरूप एवं उनके सम्बन्ध में होने वाले आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत किया है।

1. स्वाध्यायविधि के द्वारा उद्भिदादि वाक्यों की पुरुषार्थता सिद्ध होने से नामधेय भी धर्म में प्रमाण हैं—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्य के द्वारा सम्पूर्ण वेदभाग का स्वाध्याय वर्णित होने से नामधेयों का धर्म में प्रामाण्य सिद्ध होता है। अतः नामधेयपदों को निरर्थक नहीं कहा जा सकता।[1] इस प्रकार नामधेय वाक्य भी पौरुषेय नहीं हैं प्रत्युत पुरुष के प्रयोजन प्राप्ति में सहायक हैं और वेद सम्प्रदाय-परम्परा के अन्तर्गत इनका ग्रहण होता है। अतः नामधेय पद भी धर्म के प्रति प्रमाण हैं।

2. नामधेयपद याग की विशेषता को प्रकट करते हैं— नामधेयों को इसलिये भी निष्प्रयोजन नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'यज' के धात्वर्थ से प्राप्त याग सामान्य अर्थ विशेष के विना निरूपित नहीं हो सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि 'यज' का प्रयोग तो सभी याग विधियों के साथ होता है। अतः किस फल की प्राप्ति के लिये किस याग का अनुष्ठान करें, इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं रहेगा। ऐसी दशा में पुरुष किसी भी यागकर्म के अनुष्ठान के प्रति प्रेरित नहीं होगा, क्योंकि किस याग से कौन सा फल मिलेगा, यह ज्ञान ही नहीं रहेगा। जैसा कि लोक में भी देखा जाता है कि किसी निश्चित फल को उद्देश्य किये बिना कोई पुरुष किसी कार्य को करने के लिये तैयार नहीं होता, तो कठिनाई से सिद्ध होने वाले इन यागादि कर्मों में भला किसी की प्रवृत्ति कैसे होगी जबकि नामधेयपदों द्वारा यह निश्चय होता है कि अमुक याग का अनुष्ठान करने से अमुक फल ही प्राप्त होगा। जैसे—**'वायव्यं श्वेतम् आलभेत भूतिकामः'** इस विधिवाक्य में 'वायव्य' यह नामधेयपद याग के विशेषण रूप में है। जिसके द्वारा यह व्यवस्था प्राप्त होती है कि शीघ्र ऐश्वर्य प्राप्ति की इच्छा

1. "सकलस्यैव वेदस्य स्वाध्यायविधिवाक्यतः,
विज्ञातं पुरुषार्थत्वं उद्भिदादेरपि ध्रुवम्।" [शा० दी० पृ० 79]

वाला पुरुष वायव्य याग ही करे, न कि कोई अन्य याग। इस प्रकार नामधेय पद याग की विशेषता रूप अर्थ के निश्चायक होते हैं।[1]

उद्भिदादि यौगिक पदों का नामधेयत्व

'उद्भिदा यजेत' आदि वाक्यों का विधि के साथ नामधेय के रूप में अन्वय होता है–इन वाक्यों का अन्तर्भाव अर्थवादवाक्य एवं मन्त्रों के साथ भले ही न हो, किन्तु विधि के विशेषण होने से विधिवाक्य में इनका अन्तर्भाव माना जा सकता है। सम्भवतः इसी कारण **तन्त्रवार्तिककार** ने वेदवाक्यों के विधि, मन्त्र एवं अर्थवाद ये तीन भेद ही कहे हैं[2], क्योंकि यागविधि के विशेषण होने से उद्भिदादि संज्ञा पदों का विधि में अन्तर्भाव हो जाता है। विधिवाक्य में इनका अन्वय नामरूप में होने से पुरुष में नामविशेषित प्रमा ही उत्पन्न होती है।[3] उद्भिदादि तृतीयान्त पद यद्यपि 'यजेत' के लिङ् रूप 'त' प्रत्यय के साथ सामानाधिकरण्य प्राप्त करते हैं तथापि नामधेयपदों और 'त' प्रत्यय का यह सामानाधिकरण्य यागरूप एकार्थ को कहने के कारण है। इस प्रकार विधि की विशेषता अर्थात् अन्य यागविधियों से स्वयं का व्यावर्तन रूप कार्य करने के कारण नामधेयपद धर्म में प्रमाण हैं। अतः याग-नामधेय के रूप में इनका विधि के साथ अन्वय सम्भव रहते इन्हें गुणविधि के रूप में विधि के साथ अन्वित करके उद्भिदादि पदों की क्रियारूपता सिद्ध करना उचित नहीं है।

तृतीयान्त होने से उद्भिदादि नामधेय पदों का साधन रूप से गुणविधि में अन्वय नहीं किया जा सकता–वादी का यह कथन तर्कसंगत नहीं है कि तृतीयान्त करणवाची होने से उद्भिदादि पदों का गुणविधित्व है, क्योंकि तृतीया विभक्ति सदैव करण का कथन नहीं करती। **'दध्ना जुहोति'** आदि स्थलों में यद्यपि तृतीया विभक्ति याग के साधन को कहती है; किन्तु वहाँ पर 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस उत्पत्ति वाक्य से अग्निहोत्र कर्म पूर्व से प्राप्त है। अतः 'दध्ना जुहोति' वाक्य को अगत्या गुणविधि मानना पड़ता है। जबकि ''उद्भिदा यजेत पशुकामः'' वाक्यगत उद्भिदादि पदों को गुणविधि कहने पर विधि से सम्बन्धित अपूर्व की प्राप्ति कराने वाला कोई अन्य वाक्य प्राप्त नहीं है।[4] ऐसी दशा में उद्भिदा पद को याग का साधन मानकर

---

1. ''अनेन हि वाक्येनाप्राप्तत्वात् फलोद्देशन यागो विधीयते।। यागसामान्यस्य चाविधेयत्वात् यागविशेष एव विधीयते। तत्र कोऽयं विशेषः? इत्यपेक्षायां उद्भिच्छब्दादुद्भिद्रूपो याग इति ज्ञायते उद्भिदा यागेनेति सामानाधिकरण्येन नामधेयान्वयात्। [मी० न्याय० पृ० 85]
2. द्र० —तन्त्र० पृ०- 1
3. ''अन्तर्भावो विधौ उद्भिदा यजेतेति दृश्यते, नामत्वेनान्वयो वाक्ये वक्ष्यते अतः प्रमैव तत्।'' [जैं० न्यायमाला पृ० 42]
4. ''अपि वा नामधेयं स्याद् यदुत्पत्तौ अपूर्वमविधायकत्वात्।'' [जै० सू० 1/4/2]

गुणविधि कहना उचित नहीं है, क्योंकि जब याग का विधायक कोई उत्पत्ति वाक्य ही नहीं है, तो भला किसे उद्देश्य करके गुण का विधान करेंगे। अतः उद्भिदादि पदों का करणत्व सङ्गत नहीं है।[1] इसलिये 'उद्भिदरूपेण यागेन पशुं भावयेत्' यह वाक्यार्थ मानना ही उचित है।

'उद्भिदा यजेत' आदि वाक्यों को गुणविधि मानने पर फल का कथन करने वाले पद व्यर्थ सिद्ध होंगे–उद्भिदादि पदों को गुणविधायक मानने में एक दोष यह भी है कि उत्पत्तिवाक्यों में जो पशुकामादि फल का कथन करने वाले पद हैं, वह व्यर्थ हो जायेंगे, क्योंकि वह किस याग के फल हैं, ऐसी व्यवस्था नहीं रहेगी। ऐसी दशा में धातु का पारार्थ्य प्राप्त होगा अर्थात् 'यज' धातु का सम्बन्ध किसी अन्य वाक्य से प्राप्त पद के साथ जोड़ना होगा और यदि सभी कामनाओं की प्राप्ति कराने वाले ज्योतिष्टोम का अध्याहार करके उसे याग का विशेषण मानेंगे तो वाक्यभेद दोष प्राप्त होगा। इसके साथ ही मत्वर्थ कल्पना करके उद्भिद् से गुणविधान मानने के कारण मत्वर्थलक्षणा दोष भी प्राप्त होगा। अतः यहाँ पर गुणविधि मानना कथमपि संभव नहीं है। **'व्रीहीभिर्यजेत', 'सोमेन यजेत'** आदि वाक्यों में व्रीहि आदि पदार्थों के रूढ़ होने के कारण उनका सामानाधिकरण्य बाधित होने पर अगत्या उन्हें भले ही गुणविधि मान लिया जाय[2], किन्तु उद्भिदादि यौगिक पदों को जितनी सुगमता द्रव्यवाचक मानने में है, उससे कहीं अधिक सरलता उन्हें यागनामधेय मानने में है। क्योंकि यहाँ पर तो याग के साथ उनका सामानाधिकरण्य श्रुति द्वारा प्राप्त है, अतः इन वाक्यों को गुणविधि मानने पर उद्भिदादि पदगत संख्या और कारक भी विधेय होंगे।[3] अतः गुणविधि के संशय का यहाँ पर कोई अवकाश नहीं है।

'उद्भिदा यजेत' आदि वाक्यों को गुणविधि मानने पर विरुद्धत्रिकद्वयापत्ति रूप दोष भी प्राप्त होता है–यदि उद्भिद पद को याग की संज्ञा न मानकर हम उसे साधन रूप से गुणविधि मान भी लेते हैं तो याग में विधेयत्व, गुणत्व एवं उपादेयत्व तथा उद्देश्यत्व, प्राधान्य, एवं अनुवाद्यत्व इन परस्पर विरोधी धर्मों की प्राप्ति होगी। यथा— 'उद्भिदा यजेत' वाक्य को गुणविधि मानने पर किसी अन्य वाक्य से याग की प्राप्ति न होने पर यदि किसी प्रकार से याग का अनुवाद मान भी लें तो- 1. पशुयाग से सम्बन्धित

1. द्र० - शास्त्रदीपिका पृ० 83
2. "पदमज्ञातसंदिग्धं प्रसिद्धैरपृथक्श्रुतिः,
निर्णीयते निरूढं तु न स्वार्थादपनीयते।" [तन्त्र० पृ० 286]
3. "विभक्त्यर्थानुवादाच्च विधेः स्याद्गाम्नि लाघवम्,
गुणपक्षे विधेयत्वं संख्याकारकयोरपि।" [त० वा० पृ० 286] एवं शा० दी० पृ०- 82

भावना में याग के पशुफल का साधन होने से याग विधेय होगा। ऐसी दशा में 'यागेन पशून्भावयेत्' यह वाक्यार्थ होगा। अतः याग का "विधेयत्व" प्राप्त होगा। 2.पशुरूप फल के प्रति याग के साधन होने से अङ्गत्व की प्राप्ति होगी और अङ्गत्व की प्रतीति होने के कारण पारार्थ्य रूप 'गुणत्व' याग में प्राप्त होगा। 3.पशुफल की प्राप्ति की इच्छा वाले पुरुषों द्वारा अनुष्ठान योग्य होने से याग का 'उपादेयत्व' भी सिद्ध होगा। इस प्रकार एक ही याग में विधेयत्व, गुणत्व एवं उपादेयत्व तीनों धर्म आ जाएँगे।

इसी प्रकार यदि याग को उद्देश्य करके उद्भिद रूप गुण का विधान मानते हैं तो- 1. विहित उद्भिद् गुण की अपेक्षा से याग को प्रधान होने से याग में "प्राधान्यत्व" होगा। 2. क्योंकि याग को उद्देश्य करके खनित्र गुण का विधान किया गया है, इसलिये याग में "उद्देश्यत्व" होगा। 3. साथ ही 'उद्भिदा यजेत' वाक्य के गुण विधि होने से याग का अन्वय किसी दूसरे वाक्य से करना होगा। अतः याग का "अनुवाद्यत्व" भी प्राप्त होगा।। इस प्रकार से एक ही याग में एक ही समय विधेयत्व— उद्देश्यत्व, प्राधान्य—गुणत्व, उपादेयत्व एवं अनुवाद्यत्व रूप परस्पर विरोधी धर्मों की प्राप्ति माननी होगी जबकि यहाँ पर गुणविधि मानने की अपेक्षा उद्भिद् को याग की संज्ञा मानने पर यह दोष नहीं प्राप्त होगा।[1] अतः उद्भिदादि पदों को गुणवाचक न मानकर याग की संज्ञा मानना अधिक उचित है। इन्हें याग की संज्ञा मानने पर यहाँ त्रिकद्वयापत्ति दोष नहीं प्रसक्त होगा।

'उद्भिदा यजेत' आदि वाक्यों में गुणविशिष्ट विधि नहीं है-

'उद्भिदा यजेत पशुकामः' आदि यौगिक पदयुक्त वाक्यों में गुणविशिष्ट कर्मविधि मानना उचित नहीं है। यहाँ पर वादी का यह कथन तर्कसम्मत नहीं है कि जैसे **'सोमेन यजेत'** वाक्य में 'सोमवता यागेन स्वर्गं भावयेत्' ऐसी गुणविशिष्ट विधि कल्पित कर ली जाती है। वैसे ही यहाँ पर 'उद्भिद्वता यागेन पशुं भावयेत्' ऐसी कल्पना कर लेने पर इसका गुणविधित्व सङ्गत हो जायेगा। यदि हम इस वाक्य में गुणविशिष्ट विधि मानेंगे तो यहाँ पर अनेक विधियों की शक्ति कल्पित्त करनी पड़ेगी, क्योंकि धातु अनेक अर्थों की वाचक होती है, अतः मत्वर्थलक्षणा को स्वीकार करना होगा। साथ ही उद्भिद् का याग के साथ जो समानाधिकरण्य प्राप्त है, उसका त्याग करना होगा और इस प्रकार अनेक दोष उत्पन्न हो जायेंगे।[2]

भाष्यकार के मतानुसार उद्भिद् को द्रव्य मानकर मत्वर्थलक्षणा के द्वारा

1. "न एतादृशस्थले गुणविधिः क्वापि वक्तुं शक्यते।
विरुद्धत्रिकद्वयसमावेशाख्यदोष-प्रसङ्गात्।" [मी० परि० पृ० 33]
2. द्र०-वृहती पृ० 195-96

सामानाधिकरण्य मानने की अपेक्षा अभिधावृत्ति से 'उद्भिद्' को यागनामधेय मानने में कल्पनागौरव रूप दोष नहीं प्राप्त होगा, क्योंकि अभिधा एवं लक्षणा वृत्तियों में अभिधा से प्राप्त अर्थ (श्रौतार्थ) अधिक श्रेष्ठ माना गया है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि उद्भिदा, बलभिदा आदि यौगिक पद यागकर्म के नामधेय ही हैं।[1]

वासुदेव दीक्षित ने भी कहा है कि 'सोमेन यजेत' आदि वाक्यों से बोधित सोमादि रूढ़ शब्दों की यागकर्म के नाम के रूप में प्रसिद्धि न होने से वहाँ भले ही लक्षणा के द्वारा विशिष्ट-विधि मान लें, किन्तु उद्भिद् आदि पदों की अवयव द्वारा कर्म में प्रसिद्धि होने से इन्हें याग की संज्ञा मानना उचित है,[2] क्योंकि 'उद्भिद्यते प्रकाश्यते पशुफलमनेन' इस व्युत्पत्ति से इसकी नामधेयता सिद्ध होती है।

3. नामधेय भाग पर अक्रियार्थता का आरोप सिद्ध नहीं होता-वादी का यह कथन भी युक्त नहीं है कि नामधेय किसी विशेष प्रवृत्ति को न उत्पन्न करने के कारण निरर्थक हैं। इसका खण्डन करते हुए वार्तिककार ने कहा है कि यागविशेष का सम्पादन नामधेय की सहायता से ही सम्भव है। इसलिये नामधेय पदों पर अक्रियार्थता का आरोप ठीक नहीं है, क्योंकि लोक एवं वेद सभी स्थलों पर नामधेय से ही व्यवहार देखा जाता है। यागनामधेय रूप विशेष के बिना यागविधि का अनुष्ठान दोषपूर्ण है। अतः नामधेयपदों की आवश्यकता एवं धर्म में उनका प्रामाण्य स्वयंसिद्ध है। यद्यपि 'उद्भिदा यजेत' आदि स्थलों पर गुण एवं फल का याग के साथ सम्बन्ध नहीं कहा गया है तथापि ज्योतिष्टोमादि अन्य यागविधि स्थलों में **'समे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'** आदि वाक्यों द्वारा गुण विधान होता है एवं **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'** आदि वाक्य फल का याग के साथ सम्बन्ध ही कहते हैं। इसी प्रकार **"दर्शपूर्णमासावारप्स्यमानो अन्वारम्भणीयामिष्टिं निर्वपेत्"** आदि वाक्य गुण एवं फल दोनों का ही विधान करते हुए अपने प्रवृत्ति रूप प्रयोजन को सिद्ध करते हैं।[3] यह व्यवहार नामधेयपदों की सहायता से ही होता है। अतः नामधेयपदों की अक्रियार्थता नहीं सिद्ध होती।

4. यागनामधेय ऋत्विक्वरण एवं संकल्पादि में भी सहायक हैं-नामधेय पद

1. "द्रव्यवचनत्वे मत्वर्थलक्षणा सामानाधिकरण्यं स्यात्। श्रुतिलक्षणाविषये च श्रुतिर्ज्यायसी। तस्मात् कर्मनामधेयम्।" [शा० भा० पृ० 87]
2. द्र०— कुतूहलवृत्ति पृ० 88
3. (क) जैसा कि भाष्यकार ने भी कहा है—"यत्त्वप्रवृत्तिविशेषतकरोऽनर्थक इति यागनामधेयमपि गुणफलोपबन्धेनार्थवत्।' [शा० भा० पृ० 87]
(ख) "यद्येष्टौ यागषट्कस्य................मीमांसाविधिवाक्यार्थ-ज्ञानानुष्ठानलक्षणे त्रिविधे व्यवहारेऽस्मिन् सर्वस्मिन्नामकारणम्।" [न्यायसुधा— पृ० 410]

विधि के विशेषार्थ का ही निरूपण नहीं करते; अपितु प्रत्युत यजमान के द्वारा यागक्रिया के सम्पादन हेतु ऋत्विक्वरण अर्थात् 'मैं अमुक याग के लिये आपका वरण करता हूँ' में भी सहायक है एवं याग के संकल्प अर्थात्— 'मैं अमुक याग को करूँगा', इस कार्य में सहायक है। इस प्रकार नामधेय याग क्रिया से सम्बन्धित सम्पूर्ण व्यवहार का अङ्ग होने के कारण प्रवृत्तिविशेष के उत्पादक हैं। अतः उन्हें गुणविधियों के अन्तर्गत समाहित करना उचित नहीं है।[1]

5. यौगिक शब्दों को यागनामधेय मानने पर भी ये निरर्थक नहीं हैं-

इन उद्भिदादि यौगिक पदों को याग की संज्ञा मानने पर भी इनका अर्थ सङ्गत होता है। ताण्ड्य ब्राह्मण, तवलकार ब्राह्मण एवं वाजसनेयकादि ब्राह्मणों में इस प्रकार के यौगिक नामधेयपदों का निर्वचन भी प्राप्त होता है, जैसे— 'उद्भिद्यते प्रकाश्यते पशुफलमनेनेति उद्भित्त्वम्'' अर्थात् पशुरूप फल का प्रकाशक होने से इसे उद्भिद्याग कहा जाता है। अतः यदि याग से पशुरूप फल भावित करना हो तो उद्भिद्संज्ञक याग करना चाहिये। इस प्रकार पशुफल प्रकाशन रूप मुख्यार्थ को छोड़कर उद्भिद् पद का खनित्रादि रूप लाक्षणिक अर्थ मानना ठीक नहीं है।

इसी प्रकार **''बलभिदैव बलमभिदन्''** अर्थात् शक्ति की इच्छा करने वाला बलभिद् याग करे। **यद्विश्वमभिजयत् तस्माद् विश्वजित्, स एतमभिजितमपश्यत् तेनाभिजितम्-अभ्यजयत्''**[2] आदि निर्वचनों से भी यौगिक नामधेयों की मुख्यार्थपरकता सिद्ध होती है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार के यौगिक पद यागकर्म की संज्ञा हैं, गुणविधि नहीं हैं। इन नामधेय पदों को गुणविधायक मानकर प्रधानविधि के साथ इनका विनियोग करने के लिये इनमें मत्वर्थलक्षणा कल्पित करना अनिवार्य होगा। जिससे कल्पनागौरव प्राप्त होगा, जो कि शब्दार्थ का एक महान् दोष है। क्योंकि सम्पूर्ण वेदभाग में उद्भिदादि यौगिक पदों की यागनामधेयता ही प्रसिद्ध है, गुणविधि रूप साधनता नहीं। अतः मत्वर्थलक्षणा का आश्रय न लेकर इन पदों को यागनामधेय मानना ही युक्त है,

चित्रा आदि रूढ पदों का नामधेयत्व

मीमांसा दर्शन में 'चित्रया यजेत'[3], 'पञ्चदशानि आज्यानि',[4] 'सप्तदशानि

1. ''एवं च सति न नामत्वं विधित्वमात्रप्रतियोगीति, ये पूर्वपक्षे विध्यन्तर्भावं ....नाप्रवृत्तिविशेषकरता।'' [त० वा० पृ० 287]
एवं शास्त्रदीपिका पृ० 84
2. यह सोमयाग ताण्ड्य महाब्राह्मण के उन्नीसवें अध्याय में वर्णित हैं।
3. तै० सं० 2/4/6/1
4. ता० ब्र० 20/1/1

पृष्ठानि'[1], 'त्रिवृत्बहिष्पवमानम्'[2] आदि वाक्यों में प्रयुक्त चित्रा, आज्य, पृष्ठ तथा बहिष्पवमान आदि पदों को याग की संज्ञा कहा गया है; जबकि पूर्वपक्षी का कहना है कि उद्भिदादि यौगिक पदों को कथञ्चित् याग की संज्ञा मान भी लेते हैं तो चित्रा पद के द्वारा विचित्र द्रव्य गुण का, "पञ्चदशानि आज्यानि" से संख्याविशिष्ट आज्य द्रव्य का, 'सप्तदशानि०' से पृष्ठ रूप शरीर के अवयव का तथा 'त्रिवृत्०' से त्रिगुणवायुयुक्त व्यजन का विधान प्राप्त होने से इन पदों को यागनामधेय नहीं कहा जा सकता। अतः ये वाक्य नामधेय न होकर गुण विधियाँ हैं। यदि इन्हें याग की संज्ञा मानते हैं तो धातु पारार्थ्यादि दोष प्राप्त होंगे, क्योंकि इन शब्दों की प्रसिद्धि गुण एवं जाति के रूप में ही है, कर्म की संज्ञा के रूप में नहीं है।[3]

वादी के इस मत का खण्डन इस प्रकार है—

'चित्रया यजेत' वाक्य में गुणविधि मानने पर वाक्यभेद दोष उपस्थित होगा– चित्रया यजेत वाक्य में 'चित्रा' पद चित्रत्व एवं स्त्रीत्व गुण विशिष्ट विधि का वाचक न होकर याग की संज्ञा है, क्योंकि यदि इस वाक्य को गुण विधि मानकर 'चित्रा' का करण रूप से याग के साथ अन्वय करते हैं तो **'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'** वाक्य से प्राप्त प्रकृत याग अग्नीषोमीय से याग का अनुवाद करना होगा। साथ ही 'चित्रया' पद से स्त्रीत्व एवं चित्रत्व दो गुण करण के रूप में उपस्थित होंगे, क्योंकि 'चित्रया' पद में प्रातिपादिक 'चित्रा' से चित्रत्व वर्ण का बोध होता है, एवं प्रत्ययांश 'आ' से स्त्रीत्व जाति का बोध होता है। इस प्रकार चित्रत्व एवं स्त्रीत्व गुण विशिष्ट कारक का याग के साथ अन्वय प्राप्त होता है। इन दोनों का विधान मानने पर वाक्यभेद प्राप्त होगा, जो कि एक महान् दोष है।

'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य में विधायक-प्रत्यय सिर्फ एक (टा) है और चित्रत्व गुण एवं स्त्रीत्व जाति रूप दो विधेय पदार्थ हैं। एक विधि से एक बार में केवल एक गुण का ही विधान सम्भव है। अतः "नापि केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवल प्रत्ययः' इस न्याय से दोनों के विधान के लिये प्रातिपादिक की दो बार आवृत्ति माननी होगी एवं प्रत्यय की भी दो बार आवृत्ति करनी होगी और इस प्रकार 'चित्रया' का दो बार प्रयोग होने से 'यजेत' का भी दो बार आवर्तन मानना होगा, जिससे विध्यावृत्ति रूप वाक्यभेद होगा।[4] अतः इस वाक्यभेद दोष से बचने के लिये चित्रा पद को

1. ता० ब्रा० 7/2/1
2. ता० ब्रा० 20/1/1
3. "उत्पत्तौ नामधेयं वा गुणो वाप्यवधारितः,
   व्यवहाराङ्गतां याति सैवोदाहरणक्षमा।" [त० वा० पृ०- 288]
4. "प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः,
   अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः।" [त० वा० पृ० 476]

याग की संज्ञा मानना अधिक उचित है। यहाँ पर याग की प्राप्ति उत्पत्ति वाक्य से पहले ही हो चुकी है, इसलिये दो गुणों का एक साथ विधान नहीं हो सकता। इस प्रकार चित्रा पद का यागविधि के साथ नामधेय के रूप में अन्वय सिद्ध होता है।

'चित्रया' वाक्य में पशुयाग का अनुवाद करके उभयविशिष्ट गुण का विधान मानने पर कल्पनागौरव रूप दोष की प्राप्ति होगी–यहाँ पर वादी का यह कहना ठीक नहीं है कि चित्रत्व एवं स्त्रीत्व गुण विशिष्ट पशुद्रव्य का विधान मानने पर वाक्यभेद दोष नहीं उपस्थित होगा, क्योंकि अनेक गुण विशिष्ट द्रव्य का विधान तो तभी संभव है जब यागकर्म उत्पत्ति वाक्य से पूर्व प्राप्त हो। कर्म के अप्राप्त होने पर भला किसे उद्देश्य करके गुण का विधान करेंगे। इसलिये यदि 'चित्रया०' वाक्य को गुण-विधि मान भी लें तो कर्म के अप्राप्त होने से गुण द्रव्य का विधान व्यर्थ हो जायेगा। यहाँ पर अग्नीषोमीय याग का अनुवाद मानने पर कल्पना गौरव होगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि चित्रा इष्टि प्रकृत अग्नीषोमीय पशुयाग की विकृति है। प्रकृत याग में विहित पदार्थ विकृतियाग में भी अतिदेश से प्राप्त होते हैं। इसलिये **'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'** इस वाक्य से प्राप्त अग्नीषोमीय पशुयाग का अनुवाद करने पर **'अजोऽग्नीषोमीयः'** इस वाक्य से पशु का पुंस्त्व रूप लिङ्ग प्राप्त होगा तथा **'कृष्ण-सारङ्गोऽग्नीषोमीयः'** वाक्य से कृष्णसारङ्ग रूप वर्ण विहित होने से इनकी भी अतिदेश से प्राप्ति होगी। अतः पूर्वप्राप्त कृष्णसारङ्ग वर्ण से प्रकरण प्राप्त चित्रवर्ण का एवं पुंस्त्व लिङ्ग से प्रकरण प्राप्त स्त्रीत्व का विरोध भी प्राप्त होगा। इस प्रकार अनारभ्याधीत रूप सामान्य का आरभ्याधीत रूप 'विशेष' से बाध होने लगेगा।[1] प्रकृतिप्राप्त गुण एवं विकृतिप्राप्त गुण दोनों का विधान मानने पर वाक्यभेद दोष ज्यों का त्यों बना रहेगा,[2] क्योंकि चित्रा इष्टि के प्रकरण में ही **'चित्रया यजेतपशुकामः'** इस काम्येष्टि प्रकरण में पढ़े गये वाक्य के समीप ही **''दधिमधुघृतमापोधाना तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्''**[3], यह वाक्य प्राप्त होता है, जो कि इन द्रव्यों से युक्त प्राजापत्य याग का विधान करता है। अतः श्रुति के द्वारा समीपनिर्दिष्ट प्राजापत्य याग की उपेक्षा करके अतिदेश-प्राप्त दूरस्थ अग्नीषोमीय पशुयाग का यहाँ अनुवाद उचित नहीं है। वस्तुतः अनुवाद करने पर आरभ्याधीत प्रकरण की उपेक्षा होगी तथा अनारभ्याधीत का प्रसङ्ग होगा। ऐसी दशा में दध्यादि विचित्र द्रव्य-युक्त चित्रायाग की उपेक्षा होगी और प्राणि द्रव्य वाले अग्नीषोमीय

1. ''अनारभ्याधीत द्रव्य प्रकृतौ वा द्विरुक्तत्वात्''
[पूर्व मीमांसा 3/6/1 का अनारभ्य न्याय]।
2. ''विशिष्टकारकविधानेऽपि गौरवलक्षणो वाक्यभेद एव कारकस्यापि प्राप्तत्वेन विशिष्टविधानानुपपत्तिश्च।'' [मी० न्याय० सा० वि० सहित पृ० 128]
3. तै० सं० 2/ 2/3/8

पशुयाग की प्राप्ति होगी। यहाँ पर प्रकृत पशुयाग का अनुवाद न मानकर 'दधिमधु०' आदि वाक्य से विहित प्राजापत्य याग को उद्देश्य करके चित्रायाग का विधान मानने पर कल्पना की बोझिलता कम होगी। अतएव प्राजापत्य याग कर्म के 'दधिमधु०' आदि वाक्यान्तर से प्राप्त होने के कारण चित्रत्वादि अनेक गुणों का विधान सङ्गत नहीं है।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृत वाक्य में गुणविधि न मानकर यागकर्म का नामधेय मानना ही उचित है। **वृहतीकार** का भी यही मत है- ''तस्मान्न गुणविधिः संभवति। अतः प्रतीयमाने एकवाक्यत्वे अन्वयनिमित्तिताऽस्य कल्पयितुं न्याया। साच अत्र (ऋते) नाम्नो न संभवतीत्युक्तम्। तस्मात्सिद्धं नामधेयत्वम्।''[2]

वादी का यह तर्क भी उचित नहीं है कि प्रकृतियाग अग्नीषोमीय पशु का अनुवाद न करके विकृतिभूत मेषीयाग से प्राप्त मेषी द्रव्य का 'चित्रया' के स्त्रीप्रत्यय से अनुवाद करके चित्रत्व का विधान करने पर वाक्य भेद नहीं होता। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती का कहना है कि **चित्रया** इस एक ही पद के प्रत्ययांश (टा) को उद्देश्य करके प्रकृत्यंश चित्रत्व को विधेय मानने पर एक प्रसरताभङ्गरूप दोष प्राप्त होगा[3], क्योंकि ये दोनों अंश मिलकर एक विशिष्ट अर्थ का बोध कराते हैं। अतः चित्रया इस एक ही पद में उद्देश्यत्व एवं विधेयत्व रूप दो विरोधी धर्मों का समावेश असंगत है, क्योंकि उद्देश्य एवं विधेय रूप अर्थ अनेकपद साध्य होता है, एकपदसाध्य नहीं।[4] अतः चित्रा पद गुण का वाचक न होकर याग का वाचक है।

'चित्रया' वाक्य में गुणविधि मानने पर फलवाचक पशुकाम पद व्यर्थ हो जायेगा–''चित्रया यजेत पशुकामः' वाक्य को गुणविधि मानने में एक दोष यह भी है कि यदि किसी प्रकार से मेषीयाग का अनुवाद करके चित्रा पद को गुणविधायक मान भी लेते हैं तो वाक्य में पठित पशुकाम पद व्यर्थ हो जायेगा और यदि चित्रा गुण एवं पशुरूप फल दोनों का विधान मानते हैं तो पुनः वाक्यभेद दोष आ जायेगा। साथ ही 'दधिमधु०' वाक्य से विहित प्राजापत्य याग की फलाकांक्षा भी शान्त नहीं होगी। प्रत्येक कर्म किसी फल को उद्देश्य करके ही किया जाता है।

---

1. ''विकल्पस्य चाष्टदोषदुष्टत्वात्
अग्नीषोमीययागस्योत्पत्तिशिष्टपुंस्त्वविशिष्टपशुलक्षणकारकाव-
रूद्धत्वेन तत्र स्त्रीत्वादि विधानानुपपत्तेश्चा।'' [कु० वृ० पृ० 90]
2. —वृहती ऋजुविमलापञ्चिकासंहित II भाग पृ० 198
3. द्र०- मी० कौ० पृ० 183।
4. ''न हि चित्रया इत्येकेन पदेन....स्त्रीकारकस्योद्देशः चित्रत्वस्य च विधानं सम्भवति, एक प्रसरताभङ्गलक्षणवाक्यभेदापत्तेः।...........उद्देश्यविधेयभावस्यानेकपदसाध्य-त्वात्।'' [मी० न्याय० पृ० 130]

'चित्रया' वाक्य में गुणविधि मानने पर फलवाचक पशुकाम पद व्यर्थ हो जायेगा–"चित्रया यजेत पशुकामः' वाक्य को गुणविधि मानने में एक दोष यह भी है कि यदि किसी प्रकार से मेषीयाग का अनुवाद करके चित्रा पद को गुणविधायक मान भी लेते हैं तो वाक्य में पठित पशुकाम पद व्यर्थ हो जायेगा और यदि चित्रा गुण एवं पशुरूप फल दोनों का विधान मानते हैं तो पुनः वाक्यभेद दोष आ जायेगा। साथ ही 'दधिमधु०' वाक्य से विहित प्राजापत्य याग की फलाकांक्षा भी शान्त नहीं होगी। प्रत्येक कर्म किसी फल को उद्देश्य करके ही किया जाता है।

यहाँ पर वादी का यह कथन ठीक नहीं है कि विश्वजिन्न्याय से स्वर्गरूप फल कल्पित करने पर फल की प्राप्ति हो जायेगी। फल की कल्पना तो वहाँ की जाती है जहाँ प्रत्यक्षश्रुति द्वारा कोई अन्य फल विहित न हो जबकि यहाँ पर 'चित्रया यजेतपशुकामः' इस श्रुतिवचन से प्राजापत्य याग का पशुरूप फल विहित है। जैसा कि वार्तिककार ने कहा भी है[1] कि क्रिया पहले श्रुतिवाक्य द्वारा विहित गुणों से ही सम्बन्ध प्राप्त करती है। जब प्रत्यक्ष श्रुति अथवा अभिधावृत्ति से वह विधान नहीं प्राप्त होता तो लक्षणा से उसकी कल्पना अथवा अन्य स्थल पर प्राप्त वाक्य से फलादि का अनुवाद करती है। क्योंकि यहाँ फल का विधायक वाक्य वर्तमान है, अतः अनुवाद अथवा कल्पना करने का अवकाश ही नहीं है।

चित्रा को याग की संज्ञा न मानने पर श्रुतबाध एवं अश्रुतकल्पनारूप दोष भी प्राप्त होगा–यदि चित्रा पद को याग की संज्ञा न मानकर उसे गुण का कथन करने वाला पद मानेंगे तो प्रकरण से प्राप्त प्राजापात्य याग का बाध होगा और अप्राप्त अग्नीषोमीय पशुयाग की कल्पना करनी पड़ेगी।[2] जबकि यागनामधेय मानने पर यह दोनों दोष नहीं प्राप्त होंगे, क्योंकि दधि, मधु आदि सात विचित्र द्रव्य द्वारा प्राजापत्य याग सिद्ध होगा और पशुरूप फल मानने से याग की फलाकांक्षा का भी शमन होगा। इसके साथ ही 'दधि मधु०' आदि वाक्य भी व्यर्थ नहीं होंगे। अतः चित्रापद यागकर्म की संज्ञा ही है।

'चित्रया' पद का याग के साथ सामानाधिकरण्य होने से चित्रा याग का नामधेय सिद्ध होता है–चित्रापद एवं याग की एकार्थवाचिता के कारण भी चित्रा शब्द यागकर्म की संज्ञा ही है। विलक्षण द्रव्यों द्वारा सिद्ध होने के

1. "फलं नाग्नीषोमीयस्य..................प्रकरणं च बाध्येत प्राजापत्ययागस्य।
नामधेयत्वे तु कर्मफलसंबंधमात्रकरणात् न कश्चिद्दोषः।" [तन्त्र० पृ० 292]
2. तथा सति प्रकृतस्य प्राजापत्यस्य यागस्य फलाकांक्षा हानम्,
अप्रकृतस्य अग्नीषोमीययागस्य कल्पना च स्यात्। तद्वयमयुक्तम्। तस्मात् चित्रापदं कर्मनामधेयम्"। [मी० परि० पृ०- 38]

कारण ही इसे चित्रा कहा जाता है। 'दधिमधुघृतमापोधाना०'[1] वाक्य में दधि, मधु, घृत, जल, धाना और चावल यह छह द्रव्य प्राजापत्य याग के हविष्य कहे गये हैं। उन्हीं के समीप 'चित्रया०'[2] यह उत्पत्तिवाक्य भी पठित है, इन दोनों वाक्यों की एकवाक्यता है। दध्यादि द्रव्ययुक्त होने से प्राजापत्य याग की चित्रा संज्ञा सिद्ध होती है। यह एकार्थवाचकता अभिधावृत्ति अर्थात् मुख्यार्थ से ही है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्रा को याग की संज्ञा मानने पर वाक्यभेद दोष से निवृत्ति होगी, और पशुयागकर्मों की व्यवस्था भी। 'चित्रा याग से पशुरूप फल भावित किया जाना चाहिए'- यह वाक्यार्थबोध चित्रा को याग की संज्ञा मानने पर ही प्राप्त होगा। जैसा कि शास्त्रदीपिकाकार ने भी कहा है—

> **"वाक्यभेदप्रसङ्गेन सामानाधिकरण्यतः,**
> **अन्वाख्यानार्थवादाच्च नामतैवोपपद्यते।"**[3]

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के गुणविधि रूप से प्रतीत होने वाले वाक्य गुण नहीं हैं बल्कि याग की संज्ञा हैं। इन्हें याग कर्म की संज्ञा मानने पर इनमें धातुपारार्थ्य रूप दोष नहीं प्राप्त होता, क्योंकि जिस अर्थ को 'यज' धातु कहती है उसी अर्थ को चित्रा पद भी कहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि धात्वर्थ याग और याग की संज्ञा 'चित्रा' पद दोनों की प्रवृत्ति एक ही पशुरूप फल के लिये है। अतः चित्रा को याग की संज्ञा मानना सर्वथा उचित है। आचार्य जैमिनि ने भी कहा है कि जहाँ अनेक गुण द्रव्यों का विधान प्राप्त हो, ऐसे स्थलों पर उनका धात्वर्थ याग से सम्बन्ध मुख्य रूप से नामधेय के रूप में ही है। अतः ऐसे स्थलों पर गुणविधि की शङ्का नहीं करनी चाहिए।[4]

निष्कर्ष यह कि चित्रा पद को गुणविधि मानने पर वाक्यभेद के प्रसक्त होने से इसे विधिवाक्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि वाक्यभेद दोष स्वीकार करने पर कल्पनागौरव दोष प्राप्त होगा। अतः चित्रा पद यागकर्म की संज्ञा सिद्ध होता है।

---

1. तै० सं० 2/2/3/8
2. तै० सं० 2/4/6/1, **विशेष**–भुने हुए यव अथवा चावल को 'धाना' कहते हैं। दधि आदि सात हवि द्रव्यों का प्राजापत्य याग किया जाता है यद्यपि 'दधि०' इस वाक्य में 'यज' पद का श्रुति से विधान नहीं किया गया है तथापि 'प्राजापत्य' के देवतातद्धितान्त होने से इन द्रव्यों का देवता से सम्बन्ध प्रतीत होता है। और द्रव्य-देवता का सम्बन्ध याग का स्वरूप होने के कारण सप्त-द्रव्यविशिष्ट याग का बोध हो जाता है। 'दधि०' इस वाक्य में द्रव्य एवं प्रजापति देवता दोनों का विधान प्राप्त होने से यहाँ गुण विशिष्ट विधि नहीं हो सकती।
3. शा० दी० पृ०- 88
4. जै० सू० 1/4/3

निष्कर्ष यह कि चित्रा पद को गुणविधि मानने पर वाक्यभेद के प्रसक्त होने से इसे विधिवाक्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि वाक्यभेद दोष स्वीकार करने पर कल्पनागौरव दोष प्राप्त होगा। अतः चित्रा पद यागकर्म की संज्ञा सिद्ध होता है।

आज्यादि जातिवाचक पद भी याग की संज्ञा ही हैं–चित्रादि वाक्यों की भाँति ही **'पञ्चदशानि आज्यानि'** आदि वाक्यों में प्रयुक्त आज्यादि पदों से याग की संज्ञा का बोध होता है, न कि पञ्चदशसंख्याविशिष्ट आज्य के विधान द्वारा गुणविधि का, क्योंकि यदि आज्यादि पदों को गुणबोधक मानेंगे तो कर्म की प्राप्ति अन्य वाक्य से होने के कारण यहाँ वाक्यभेद दोष प्राप्त होगा। यहाँ पर **'आज्यैः स्तुवते'** इस कर्मोत्पत्ति वाक्य से आज्य का अनुवाद किया गया है। 'पञ्चदशानि०' वाक्य तो केवल आज्यगत पञ्चदश संख्या का विधायक है। वस्तुतः पञ्चदशानि पद स्तुति करने वाली ऋचाओं की संख्या का ही विधान करता है, संख्याविशिष्ट आज्य द्रव्य का नहीं। यहाँ आज्यस्तोत्र में घृत की साधनता सम्भव नहीं है अर्थात् घृत रूप साधन से स्तोत्र नहीं सिद्ध किया जा सकता।[1]

यदि यहाँ पर 'आज्य' को नामधेय न मानकर गुणविधि मानेंगे तो विधि की दो बार आवृत्ति करनी होगी और वाक्यभेद होगा, क्योंकि प्राप्त कर्म में विधि एक बार में केवल एक गुण का ही विधान करती है और यदि याग कर्म का उत्पत्ति वाक्य से अनुवाद न मानकर केवल गुण विधान करेंगे तो किसे उद्देश्य करके आज्य का विधान करेंगे। अतः आज्य पद स्तोत्र कर्म की संज्ञा ही है।

उत्पत्ति वाक्य में आज्य एवं स्तुति का सामानाधिकरण्य होने से भी आज्यादि पदों का नामधेयत्व सिद्ध होता है। **''यदाज्मिीयुः तदाज्यानामाज्यत्वम्'** इस अर्थवादवाक्य से भी आज्य याग की संज्ञा सिद्ध होता है। यह अर्थवाद वाक्य **'आज्यानि भवन्ति'** विधि का वाक्यशेष है। कुतूहलवृत्तिकार[2] ने 'आज्य' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिनके द्वारा देवों ने लोकों पर विजय प्राप्त की वे स्तोत्र आज्यस्तोत्र कहे जाते हैं, अथवा गमन की सीमा आज्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रजापति द्वारा उपदिष्ट मर्यादा का देवों ने पालन किया, उस मर्यादा पालन के समय ही

---

1. द्र० — शा० दी० पृ० 88
2. कु० वृ० पृ० 91

नोट–आज्य स्तोत्र चार प्रकार के हैं—''पञ्चदशहोतुराज्यं सप्तदश-मैत्रावरुणस्य, एकविंशं ब्राह्मणाच्छंसिनः पञ्चदशमच्छावाकस्य'' इस वाक्य के अनुसार प्रकृति एवं विकृति उभय प्रकार के यागों में इनका प्रयोग होता है।

सम्भवतः इन आज्य स्तोत्रों की रचना हुई होगी।[1] तवलकार ब्राह्मण में भी कहा गया है—"**त एतानि आज्यानि स्तोत्राण्यपश्यन्०..........यदिमान् लोकानजयन् तदाज्यानामाज्यत्वम्**।" इस निर्वचन से भी यही स्पष्ट होता है कि आज्य पद स्तोत्रकर्म के नामधेय हैं।

वार्तिककार के मतानुसार उत्पत्ति वाक्य के समीप पठित पञ्चदशगुण एवं अर्थवादरूप स्तुति आज्य को स्तोत्र कर्म की संज्ञा माने बिना संभव नहीं है।[2] यही मत वृहतीकार का है।[3] इस प्रकार वादी के इस मत का निरास हो जाता है कि 'पञ्चदशानि०' वाक्य में गुणविशिष्ट विधि है, क्योंकि कार्य में कारण अनुस्यूत होता है, इसीलिये यहाँ पर "आज्यैः स्तुवते" आदि उत्पत्ति वाक्यों का उदाहरण न देकर अङ्गभूत "पञ्चदशानि" आदि वाक्यों को उद्धृत किया गया है।

पृष्ठ आदि पद अवयववाची न होकर स्तोत्रकर्म की संज्ञा ही हैं—

इसी प्रकार '**सप्तदशानि पृष्ठानि**' वाक्य स्तोत्रकर्म की संज्ञा का विधान करते हैं, सप्तदशसंख्याविशिष्ट पृष्ठ अवयव का नहीं, क्योंकि यहाँ कर्मोत्पत्ति वाक्य '**पृष्ठैः स्तुवते**' से कर्म का विधान प्राप्त है अतः संख्या और पृष्ठ अवयव दोनों का विधान मानने पर यहाँ भी वाक्य भेद प्राप्त होगा। '**पृष्ठानि भवन्ति**' विधि के स्तावक '**तासां वायुः पृष्ठे व्यवर्तत**' आदि वाक्य भी पृष्ठ को स्तोत्र की संज्ञा मानने पर ही उपपन्न होंगे।

ताण्ड्य महाब्राह्मण[4] में "**आपो वा ऋत्वयमार्च्छन् तासां वायुः पृष्ठे व्यवर्तत**" इस वाक्य से शब्दयुक्त जलों द्वारा वायु का स्पर्श होने से वामदेव्य साम की उत्पत्ति कही गई है और उस साम से रथन्तर, पृष्ठ[5] आदि स्तोत्रों की उत्पत्ति कही गयी है। यह कथन 'पृष्ठ' को अवयववाचक मानने पर संगत नहीं होगा। अतः यह सिद्ध होता है कि पृष्ठ शब्द स्तोत्र कर्म की संज्ञा ही है।

'बहिष्पवमान' पद भी स्तोत्र कर्म की संज्ञा हैं-वादी का यह कथन तर्कसम्मत नहीं है कि '**त्रिवृत् बहिष्पवमानम्**' वाक्य त्रिगुणयुक्त वायु के व्यजन (पंखे) का विधान करती है, क्योंकि यदि इस एक वाक्य से संख्या एवं

1. "आजिमर्हन्तीतित्यर्थे छान्दसो यः" [कु० वृ० पृ० 91]
2. "गुणवाक्योपपत्यर्थं समभिव्याहृतेन च,
अन्वारव्यानार्थवादाच्च नामधेयत्वमाश्रितम्।" [त० पृ० 294]
3. "यत्तु अप्रसिद्धं नामधेयत्वमुक्तम् ततः कर्मणो लक्षणत्वात् सिद्धम् इति। प्रवृत्तिनिमित्तस्य च सर्वत्रविद्यमानत्वात्।"
[वृहती भाष्य एवं पञ्चिका सहित II पृ० 208]
4. ता० ब्रा० 7/8/1
5. "ततश्च स्पर्शाज्ञन्यते इति पृष्ठम् व्युत्पाद्यं। 'तिथपृष्ठ' इत्यादिना औणादिकस्थप्रत्ययः सकारलोपश्च।" [कु० वृ० पृ० 91]

पवमान का विधान मानेंगे तो यह गुण विधान भला किस कर्म को उद्देश्य करके किया जायेगा और यदि याग का अनुवाद अथवा कल्पना करके यहाँ गुणविशिष्ट विधि मानते हैं तो वाक्यभेद दोष प्राप्त होगा, साथ ही प्रकृतहानादि दोष भी प्राप्त होंगे, क्योंकि प्रकरण में इसके कर्म का विधान करने वाला **'बहिष्पवमानेन स्तुवते'** यह वाक्य प्राप्त है। अतः यागादि की कल्पना करने की अपेक्षा उत्पत्तिवाक्य से बहिष्पवमान का अनुवाद करके **'त्रिवृत्बहिष्पवमानम्'** वाक्य से पवमानस्तोत्रगत संख्या का विधान करने में ही लाघव है।[1]

'उपास्मै गायता नरः'[2], **'दविद्युतत्या रुचा'**[3], **'पवमानस्य ते कवेः'** इन तीन सूक्तों के गान से युक्त स्तोत्र बहिष्पवमान कहा जाता है। ज्योतिष्टोम के प्रातःसवन कर्म के समय इन तीन सूक्तों द्वारा गायत्र साम गाया जाता है, क्योंकि ये ऋचायें पवमान प्रयोजन वाली हैं और सदोमण्डप के बाहर कुशा बिछाने के समय प्रयुक्त होती हैं। इसीलिये इनकी बहिष्पवमान संज्ञा है। इसका विधायक वाक्य है—"तिसृभ्यो हिंकरोति स प्रथमया, तिसृभ्यो हिंकरोति स मध्यमया, तिसृभ्यो हिंकरोति स उत्तमया, उद्यती त्रिवृतो विष्टुतिः।"[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्रया० आदि वाक्यों को गुणविधि मानने पर वाक्यभेद दोष एवं कल्पनागौरव प्राप्त होता है। इसलिये चित्रा, आज्य, पृष्ठ एवं बहिष्पवमानादि गुणवाचक एवं जातिवाचक पद उत्पत्तिवाक्य में उपदिष्ट याग के नामधेय हैं। इनसे गुणविधान मानने पर गुण, फल तथा द्रव्य सभी का विधान एक साथ प्राप्त होता है। अतः इन रूढ एवं जातिवाचक पदों को याग कर्म एवं स्तोत्र कर्म की संज्ञा मानना अधिक उचित है।

---

1. द्र० —तन्त्रवार्तिक पृ० 294।
   नोट–उत्पत्तिवाक्य में पृष्ठसंज्ञक स्तोत्र छह प्रकार के कहे गये हैं। किन्तु नियत रूप से चार पृष्ठ स्तोत्रों का ही प्रयोग होता है, क्योंकि **'बृहद्वा रथन्तरं वा पृष्ठं भवति'** इस वचन से विकल्प का विधान हो जाता है।
2. सा० सं० उ० 1/1/1
3. सा० सं० उ० 1/1/2, 1/1/4
4. ता० ब्रा० में विहित ज्योतिष्टोम याग में बारह स्तोत्र हैं—एक बहिष्पवमान, चार आज्यस्तोत्र, चार पृष्ठस्तोत्र, एक माध्यन्दिन पवमान, एक आर्भवपवमान एवं एक यज्ञायज्ञीय स्तोत्र। इन स्तोत्रों के गान द्वारा यागकर्म से सम्बद्ध देवता को प्रसन्न किया जाता है। 'बहिष्पवमान' नामक स्तोत्र सदोमण्डप में औदुम्बर यूप के समीप बैठे हुए उद्‌गाता, प्रस्तोता एवं प्रतिहर्ता इन तीन ऋत्विजों द्वारा पढ़ा जाता है। ये बहिष्पवमान त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, इक्कीस आदि नव प्रकार के हैं। संख्या से युक्त होने के कारण इन्हें स्तोम भी कहा जाता है। इन स्तोत्रों का प्रयोग 'बहिष्पवमानम् सर्पन्तो' इस विधि से आसन से उठकर चात्वाल देश के प्रसर्पण के समय किया जाता है। इस स्तोत्र का सम्बन्ध बाहर से होने के कारण तथा पवमानक्रिया के प्रकाशक मन्त्र में घटित होने के कारण इनकी बहिष्पवमान संज्ञा है।

योगरूढ पदों का नामधेयत्व

उद्भिदादि यौगिक एवं चित्रादि रूढ़ शब्दों की यागनामधेयता सिद्ध हो जाने के पश्चात् कतिपय ऐसे वाक्य वेद में प्राप्त होते हैं जिनमें प्रयुक्त पद याग अथवा विधि किसी भी स्थल पर यौगिक अर्थ नहीं देते। जैसे **'आघारमाघारयति'**, **'अग्निहोत्रं जुहोति'**, **'समिधो यजति'** आदि वाक्यगत आधार, अग्निहोत्र समित् आदि पद।

पूर्व पक्ष–

पूर्वोक्त दोनों प्रकार के नामधेय पदों में इनकी गणना न हो सकने के कारण यह सन्देह होता है कि ये यागकर्म की संज्ञा हैं या गुणविधि। सिद्धान्ती ऐसे पदों को भी याग की संज्ञा मानते हैं। जबकि पूर्वपक्षी के मतानुसार अग्निहोत्रादि पद गुणभूत द्रव्य तथा देवता आदि का विधान करने के कारण गुणविधि हैं। अपने पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुए वादी का कहना है कि **'अग्निहोत्रं जुहोति'** इस वाक्य से दर्वी होम के लिये अग्नि देवता के रूप गुण का विधान किया गया है, क्योंकि दर्वी होम के लिये देवता का विधान किसी अन्य वाक्य द्वारा पहले से प्राप्त नहीं है। अतः यदि इस वाक्य से गुण का विधान मानकर इसे कर्म की संज्ञा मानेंगे, तो इसके देवता की तथा द्रव्य की प्राप्ति न होने के कारण याग की सिद्धि ही नहीं हो सकेगी और कर्मविधान व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि किसी देवता को उद्देश्य करके द्रव्य का प्रक्षेप करना ही याग का स्वरूप है। अतः यहाँ पर 'अग्नये होत्रम्' इस विग्रह के अनुसार दर्वी होम के लिये अग्नि देवता का विधान किया गया है। यहाँ पर बहुव्रीहि के द्वारा ही मत्वर्थ की प्राप्ति हो जाने के कारण मत्वर्थलक्षणा का भय भी नहीं है और यद्यपि **'पयसाजुहोति'**, **'दध्ना जुहोति'** आदि वाक्यों से दर्वी होम के लिये पय अथवा दधि द्रव्य की प्राप्ति हो जाती है तथापि बिना देवता की प्राप्ति हुए किसे उद्देश्य करके याग सम्पादित किया जायेगा।

अग्निहोत्रादि पदों को गुणविधि मानना इसलिये भी युक्त है कि दर्वी होम में देवता को कहने वाला कोई अन्य शास्त्रवाक्य नहीं है। यहाँ पर सिद्धान्ती का यह कथन ठीक नहीं है कि **"यदग्नये च प्रजापतये प्रातः जुहोति, यत्सूर्याय च प्रजापतये च प्रातर्जुहोति"** इस विधिवाक्य से देवता की प्राप्ति हो जायेगी। अतः अग्निहोत्र वाक्य देवताविधि न होकर यागनामधेय है, क्योंकि इस वाक्य से अग्नि एवं प्रजापति दो देवताओं की प्राप्ति हो रही है। अग्निहोत्र को कर्म की संज्ञा मानने पर किसी अन्य विधेय द्रव्य के न प्राप्त होने के कारण होम ही विधेय होगा। यदि होम का अनुवाद करके अग्नि एवं प्रजापति दोनों देवताओं का विधान मानते हैं तो वाक्यभेद दोष प्राप्त होगा। अतः 'यदग्नये०' वाक्य से

देवता का विधान मानने की अपेक्षा अग्निहोत्र वाक्य को युक्त गुणविधि मानना ही उचित होगा।

यदि कहो कि 'अग्निर्ज्योतिः०' मन्त्रवाक्य से अग्नि का अनुवाद करके 'यदग्नये०' से समुच्चय विशिष्ट प्रजापति का विधान हो जायेगा तो जैसे संख्याविशिष्ट आज्य के विधान से वाक्यभेद प्राप्त होता है वैसे ही यहाँ भी उक्त दोष प्राप्त होगा। ब्राह्मणवाक्यगत चतुर्थी से मन्त्र के दुर्बल होने के कारण यहाँ पर मन्त्र से अग्नि का अनुवाद संभव नहीं है।[1] इसी प्रकार **ऐन्द्रीन्याय**[2] से प्रजापति के सूचक 'यदग्नये०' वाक्य से भी देवता की प्राप्ति संभव नहीं है, जबकि अग्निहोत्र को गुणविधि मानने पर मान्त्रवर्णिक देवता की प्राप्ति के पूर्व ही इस वाक्य से अग्नि की प्राप्ति हो जाने पर मन्त्रगत अन्य देवता के सूचक पद भी 'ऐन्द्रीन्याय' से अग्नि के सूचक हो जायेंगे।

इसी प्रकार घृत द्रव्य का वाचक आघार पद भी ''अकर्तरि कारके च संज्ञायाम्'' इस पाणिनि सूत्र से घञन्त होने के कारण संस्कार गुण का वाचक है और यह वाक्य उपांशुयाग की गुणविधि है। अतः क्षरण क्रिया में समर्थ आज्यादि द्रव्य ही आघार पद से कहे गये हैं, क्योंकि ये शब्द गुण के रूप में ही लोक में प्रसिद्ध हैं, इसलिये इन्हें गुणविधि मानने पर ये अनुष्ठाता पुरुष में प्रवृत्ति उत्पन्न करेंगे।

इस वाक्य में गुणविधि मानना इसलिये भी उचित है क्योंकि 'आघारम्' पद द्वितीयान्त है और द्वितीया विभक्ति सदैव संस्कार गुण की विधायिका होती है। अतः प्रसिद्धि के कारण भी यहाँ पर गुण विधान मानना संगत है। आघार द्वारा संस्कृत घृत उपांशुयाग का द्रव्य होता है। ''**सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय गृह्यते यद्ध्रुवायामाज्यम्**'' आदि वाक्यों द्वारा भी आज्य की यज्ञ में उपयोगिता कही गयी है। अतः ''क्षरणसंस्कृत आघारयुक्त उपांशुयाग सम्पादित करे'' यह वाक्यार्थ मानने पर मत्वर्थलक्षणा भी नहीं प्रसक्त होगी।

संस्कारमात्र का श्रवण होने से भी इसे याग की संज्ञा नहीं कहा जा

---

1. ''तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन चेष्यते,
देवतासंगतिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम्।'' [तन्त्र० पृ० 531]
2. ''वचनान्वयार्थमैन्द्रीस्यात्''।
विशेष–अग्निहोत्र प्रकरण में अग्निहोत्र सम्बन्धी विविध वाक्य हैं। जैसे—1. यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति, 2. अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, 3. सायं जुहोति, 4. प्रातर्जुहोति, 5. यदग्नये च प्रजापतये च प्रातर्जुहोति, 6. अग्निर्ज्योतिः ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति, 7. सूर्यो ज्योतिः ज्योतिस्सूर्यो स्वाहेति प्रातर्जुहोति, 8. अग्निर्ज्योतिः ज्योतिस्सूर्यो स्वाहेति प्रातर्जुहोति, सूर्योज्योतिः ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायम्जुहोति। इसमें पाँचवें-छठें वाक्य देवता विधायक, सातवें-आठवें शुद्ध मन्त्र और नवें-दशवें मिश्रलिङ्गकमन्त्र हैं।

सकता, क्योंकि संस्कारकर्मों की संज्ञा कहीं भी नहीं प्राप्त होती। अतः द्वितीयाश्रुति द्वारा यहाँ संस्कार गुण कहा गया है। **"चतुर्गृहीतं वा एतदभूत्तस्याघार्यमाघार्य"** आदि प्रयाज के अङ्गभूत वाक्य भी "चतुर्गृहीतविशिष्ट" आज्य के समर्पण का कथन करते हैं। यद्यपि यहाँ पर प्रकरण का प्रधान याग दर्शपूर्ण मास है, किन्तु उसके अन्तर्गत आने वाले आग्नेयादि याग का द्रव्य विहित है। अतः केवल उपांशुयाग के ही साकांक्ष होने से आघार गुण उसी में अन्वित होता है। सिद्धान्ती का यह कहना ठीक नहीं है कि 'इत इन्द्र०' आदि मन्त्रों से देवता के प्राप्त होने के कारण यह आघार कर्म की संज्ञा है, क्योंकि जिस प्रकार सावित्र मन्त्र केवल निर्वाप कर्म के लिये हैं वैसे ही यह मन्त्र भी क्षरणसंस्कार का अङ्गमात्र है।

इसी प्रकार **'य एव विद्वान् पौर्णमासीम् यजते०'** आदि वाक्य पूर्णमासी एवं अमावस्या रूप काल के विधायक हैं एवं 'समिधो यजति' आदि वाक्य भी 'विष्णुं यजति' आदि वाक्यों की भाँति देवतागुण के विधायक हैं। यहाँ पर मन्त्रवाक्य से देवता की कल्पना सम्भव नहीं है, क्योंकि मन्त्रवर्ण से देवता की प्राप्ति के पूर्व ही इन वाक्यों से गुणविधान सिद्ध हो जाने से इस कल्पना के लिये अवसर ही नहीं रहता। अतः उक्त वाक्यों में गुणविधियाँ ही हैं।

सिद्धान्त

पूर्वपक्षी के उपर्युक्त कथन का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती का कहना है कि इन योगरूढ़ पदों का तत्प्रख्यन्याय से यागनामधेयत्व सिद्ध होता है। 'तत्प्रख्य' शब्द की व्युत्पत्ति तत्पूर्वक 'प्र' उपसर्ग एवं 'ख्या' इस आकारान्त धातु से 'आतश्चोपसर्गे' इस सूत्र से प्राप्त 'क' प्रत्यय के संयुक्त होने से हुई है। जिसका अर्थ है 'उन योगरूढ़ पदों को यागनामधेय मानने पर याग की सिद्धि के लिये अपेक्षित विधेय गुण को कहने वाला शास्त्र।' इन अग्निहोत्रादि को नामधेयपद मानने के मुख्य कारण निम्नांकित हैं—

1. अग्निहोत्र कर्म के देवता के शास्त्रान्तर से प्राप्त होने के कारण यहाँ गुणविधि नहीं है–'अग्निहोत्रं जुहोति'[1] आदि गुणविधि की सम्भावना वाले वाक्य विधि न होकर यागकर्म की संज्ञा ही हैं, क्योंकि जिस गुण की प्राप्ति अग्निहोत्र वाक्य से वादी ने कही है वह अन्य वाक्य से प्राप्त है।[2] अतः अग्निहोत्र पद को देवता का विधायक मानना उचित नहीं है। विधि तो सदैव अप्राप्त अर्थ का ही विधान करती है। यहाँ पर अग्नि देवता की प्राप्ति **"अग्निर्ज्योतिः ज्योतिरग्निः स्वाहेति प्रातर्जुहोति"** इस मन्त्रवाक्य से ही हो जाती है।

1. तै० सं० 1/5/9/1
2. तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्"। जै० सूत्र 1/4/4"

आचार्य कुमारिल भट्ट का मत है कि विधि को अभीष्ट गुण की प्राप्ति कराने वाले शास्त्र के विद्यमान रहते उस गुण की किसी अन्य वाक्य से प्राप्ति कराना व्यर्थ है। अतः ऐसे अग्निहोत्रादि पदों का कर्मनामधेयत्व मानना ही उचित है।[1] खण्डदेव का भी यही मत है।[2]

अग्निहोत्र कर्म के विधेय द्रव्य एवं देवता को कहने वाले अन्य शास्त्र के विद्यमान होने के कारण यहाँ पर गुणविधि मानना अनुचित है। यहाँ पर गुण का विधान तो तब होता जब गुण का विधान करने वाला अन्य वाक्य न होता, क्योंकि यहाँ पर श्रुति द्वारा ही गुणविधान हो रहा है इसलिये मन्त्रवाक्य से प्राप्त गुण के आधारभूत अग्निहोत्र को यागकर्म की संज्ञा ही मानना चाहिए। वस्तुतः यहाँ यागविधि के संभव रहते गौण विधान तर्कसम्मत नहीं है। आपदेव ने जैसा कहा है- "तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य प्रापकस्यशास्त्रस्य विद्यमानत्वात् अग्निहोत्रशब्दः कर्मनामधेयमिति यावत्।"[3]

इस प्रकार "**अप्राप्तेशास्त्रमर्थवत्**" इस न्याय से पूर्वपक्षी को अभिमत देवता की प्राप्ति प्रमाणान्तर अर्थात् मन्त्रादि से ही हो जाने के कारण अग्निहोत्र पद से पुनः अग्नि देवता की प्राप्ति का विधान उचित नहीं है। इसलिये अग्निहोत्र पद तत्प्रख्यन्याय से यागकर्म की संज्ञा है जिसके निमित्त अग्नि आदि देवता एवं दध्यादि द्रव्य का विधान अन्य वाक्यों से प्राप्त है। अतः यहाँ शास्त्रप्राप्त की उपेक्षा करके और दर्वी होम का अनुवाद करके अग्निहोत्र पद द्वारा गुण का विधान मानना ठीक नहीं है।

यदि वादी यह कहे कि अग्निहोत्र पद "अग्नौ होत्रमस्मिन्" इस सप्तमी समास से होम का आधार सिद्ध होता है, अतः अग्नि उसका विधेय गुण है तो यह उचित नहीं है, क्योंकि '**यदाहवनीये जुहोति**' इस वाक्य द्वारा ही अधिकरण रूप आहवनीय अग्नि की प्राप्ति हो जाती है, अतः पुनः अग्निहोत्र वाक्य द्वारा उसकी प्राप्ति कराना व्यर्थ है।

वार्तिककार के अनुसार अग्निहोत्र पद में चतुर्थी समास का लक्षण प्राप्त न

1. "विधित्सितगुणप्रापि शास्त्रमन्यत् यतस्त्विह
तस्मात्तत्प्रापणं व्यर्थमिति नामत्वमिष्यते।" [तन्त्र० पृ० 296]
2. "यत्र प्रमाणान्तरेण विधित्सितस्य प्राप्तिः सम्भाव्यते तत्र तद्विधिवैयर्थ्यादिव नामधेयत्वाध्यवसानम्............यत्र तु अनुपादेयरूप गुणयोगः यथा भिन्नेजुहोति इत्यादौ.............न देवताविधिः।" [मी० कौ० पृ० 202—203] एवं द्र० - शा० दी० पृ० 91, एवं कु० वृ० पृ० 95,
"मन्त्रवर्णकल्प्य विधिनैव देवताप्राप्तिसंभवे अस्य पूर्वप्रवृत्त्या विधिकल्पकत्वे वैफल्यापत्तेः अभ्युदयशिरस्कत्वात् च सम्भवति प्रथमविध्यापादक धात्वर्थविधौ अन्यायत्वात्०.........।" [भा० दी० प्रभावली सहित पृ० 92]
3. मी० न्याय० पृ० 92

होने के कारण यहाँ पर "अग्नये होत्रमस्मिन्" इस चतुर्थी तत्पुरुष की सहायता लेना ठीक नहीं है, क्योंकि चतुर्थी विभक्ति को देवतावाचक मानकर वादी का अग्निहोत्र पद को अग्नि देवता का विधायक मानना व्यर्थ है। यहाँ अग्नि देवता शास्त्रान्तर से प्राप्त है। इसलिए अग्निहोत्र पद गुण का विधायक न होकर याग कर्म की संज्ञा सिद्ध होता है।

यहाँ पर भाष्यकार, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र एवं सोमेश्वर भट्ट आदि मीमांसकों ने अग्निगुण की प्राप्ति "अग्निर्ज्योतिः" आदि मन्त्र से अनुवाद करके मानी है, जबकि शास्त्रदीपिकाकार, खण्डदेव, माधवाचार्य तथा प्रकरणग्रन्थकार लौगाक्षिभास्कर आदि ने "यदग्नये च०", वाक्य से अग्नि देवता की प्राप्ति कही है।[1] भाष्यकार प्रभृति मीमांसकों का मत है कि अग्निहोत्र पद में चतुर्थी तत्पुरुष नहीं प्रत्युत चतुर्थी बहुव्रीहि समास है, जिससे मत्वर्थ की प्रतीति हो जाती है। अतः अग्निहोत्र पद में अग्निगुणविशिष्ट कर्मविधि मानना भी संभव नहीं है। इसलिए अग्निहोत्रादि पद याग का नाम हैं।

2. यदग्नये आदि ब्राह्मणवाक्यों में चतुर्थी विभक्ति होने पर भी वाक्यभेद दोष नहीं है-वादी का यह तर्क भी उचित नहीं है कि 'यदग्नये' इस विधिवाक्य में अग्नि एवं प्रजापति दोनों के चतुर्थी विभक्ति युक्त होने से दो देवताओं की प्राप्ति होगी और इस प्रकार अनेक गुण पदार्थों के विधेय होने से वाक्यभेद प्राप्त होगा। अतः इस वाक्य से देवता का विधान न मानकर अग्निहोत्र पद को ही गुणसमर्पक मानना चाहिए। क्योंकि वाक्यभेद तो तब प्राप्त होता है जब दोनों विधेय पदार्थों में विशेषण-विशेष्य भाव न हो प्रत्युत दोनों निरपेक्ष विधान करते हों अर्थात् जब अग्नि एवं प्रजापति दोनों अलग-अलग उद्देश्य के विधेय हों; तभी विध्यावृत्ति रूप दोष प्रसक्त होगा, किन्तु यहाँ पर समुच्चयार्थक निपात 'च' वाक्य में प्राप्त होता है जो अग्नि एवं प्रजापति दोनों की सापेक्षता का सूचक है।[2] अतः अग्नियुक्त प्रजापति का अन्वय धात्वर्थ याग में होने से वाक्यभेद दोष नहीं प्राप्त होता।

जैसे **"गौश्चाश्वश्चाश्वतरश्च गर्दभाश्च अजाश्चावयश्च ब्रीह्यश्च यवाश्च तिलाश्च माषाश्च तस्य द्वादशशतं दक्षिणा"**[3] इस वाक्य में **"ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा ददाति"** वाक्य द्वारा विहित दक्षिणा का अनुवाद करके परस्पर-सापेक्ष गो आदि की दक्षिणा का विधान होने पर भी वाक्यभेद नहीं होता, वैसे ही यहाँ

1. मै० सं० 1/8/6
2. (क) द्र० मी० न्याय० पृ० 132,
(ख) "इह चाग्नीप्रजापती देवताश्रयत्वेनोपात्तौ न देवतात्वेन। देवता च कर्मसम्बन्धिनी न देवताधिष्ठाने। तेन नास्ति वाक्यभेदः...........।"
[वृहती प० सहित II भाग पृ० 218]
3. ता० ब्रा० 16/1/10

'यदग्नये०' वाक्य में 'च' शब्द के समुच्चयार्थक होने के कारण वाक्यभेद नहीं है।[1]

इस प्रकार 'यदग्नये च०' एवं 'यत्सूर्याय०' आदि वाक्य क्रमशः अग्निसमुच्चित प्रजापति एवं सूर्यसमुच्चित प्रजापति का विधान करते हैं। यहाँ पर प्रजापति विशेष्य है, और अग्नि एवं सूर्य क्रमशः प्रजापति के विशेषण हैं, जो कि 'अग्निर्ज्योति०' एवं 'सूर्योज्योति०' वाक्यों से अनूदित किये गये हैं। तात्पर्य यह है कि प्रातःकालिक अग्निहोत्र कर्म में 'सूर्योज्योति०' वाक्य से सूर्य का अनुवाद करके एवं सायंकालिक अग्निहोत्र में 'अग्निर्ज्योति०' मन्त्र से अग्नि का अनुवाद करके 'यदग्नये०' आदि वाक्य से क्रमशः सूर्य समुच्चित प्रजापति और अग्नि समुच्चित प्रजापति का विधान किया जाता है। सायं एवं प्रातः पद काल के बोधक हैं।[2]

यहाँ पर वादी की यह शङ्का ठीक नहीं है कि अग्नि एवं प्रजापति के अलग-अलग पठित होने से एवं चतुर्थ्यन्त होने से यहाँ अग्निसापेक्ष प्रजापति का बोध नहीं होता, क्योंकि यहाँ पर अग्नि गुण एवं प्रजापति दोनों का 'च' के समुच्चयार्थ में अन्वय होता है। अतः इस निपात के वाक्य में प्रयुक्त होने से विधेय पदार्थ की अनेकता नहीं सिद्ध होती।[3]

चतुर्थी से दुर्बल होने पर भी 'यदग्नये०' आदि वाक्य से मान्त्रवर्णिक देवता का बाध नहीं होता–वादी का यह कथन भी तर्कसम्मत नहीं है कि मन्त्र के चतुर्थी की अपेक्षा दुर्बल प्रमाण होने से 'यदग्नये०' वाक्य से प्राप्त अग्नि समुचित प्रजापति गुण से 'अग्निर्ज्योतिः०' आदि मन्त्रवाक्यों से प्राप्त अग्नि बाधित हो जायेगा। क्योंकि यह बाध तो तभी सम्भव था जब विधिवाक्य का स्वरूप 'प्रजापतये जुहोति' इस प्रकार होता, जिससे प्रजापति मात्र का विधान होता, किन्तु यहाँ पर 'अग्नये च प्रजापतये०' यह वाक्य पठित है; जो कि अग्नि के साथ प्रजापति के विधान का कथन करता है। इस वाक्य का 'अग्नये' पद 'अग्निर्ज्योतिः०' मन्त्र से प्राप्त अग्नि का अनुवादक है। विधिवाक्य से अग्नि एवं प्रजापति दोनों का एक साथ विधान करने की अपेक्षा मन्त्रवाक्य से प्राप्त अग्नि का अनुवाद करके अग्नियुक्त प्रजापति का विधान करने में कल्पना का लाघव है।[4] यहाँ पर विधिवाक्य से प्रजापति मात्र का विधान

1. जै० सू० 10/3/13
2. द्र० — भाट्टदीपिका पृ० 93,
"इदानीमग्निप्रजापत्योः द्वयोर्शास्त्रान्तरप्राप्तयोः अग्नेः पुनर्वचनं प्रजापतिनिवृत्यर्थम् भवति।" [सू० 1/4/4 का भाष्य विवरण]
3. अग्निहोत्रपदे स्पष्टमनुवाद्यत्वलक्षणम्, अनूद्य चापि धात्वर्थः गुणः सर्वो विधीयते। न चानुवादः प्रकृतात्कर्मणोऽन्यत्रलभ्यते।" [तन्त्र० पृ० 296]
4. "समुच्चितोभयविधानापेक्षान्यतः प्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चित प्रजापतिमात्र विधाने लाघवात्।" [अर्थसंग्रह कौ० सहित पृ० 165]

विवक्षित नहीं है। इसलिये 'यदग्नये' आदि ब्राह्मण वाक्य को गुण विधायक न मानकर मन्त्र वर्ण से ही गुणभूत देवता का कथन करना युक्त है। ऐसा मानने पर विधि एवं मन्त्र दोनों वाक्यों की सप्रयोजनता ही सिद्ध होती है, किसी एक की व्यर्थता नहीं। यदि अग्नि एवं प्रजापति दोनों का मुख्य रूप से एक ही होम के लिये विधान किया जाता तब यहाँ वाक्यभेद होता; किन्तु यहाँ पर तो अग्नि का अनुवाद रूप से एवं प्रजापति का मुख्य रूप से विधान है, अतः उक्त दोष यहाँ पर नहीं है।[1] जैसा कि कुमारिल कहते हैं-

''अनेकपदसम्बद्धं यद्यप्येकमपि कारकम्
तथापि तदनावृत्तैः प्रत्ययैर्न विधीयते।''

वादी का यह कथन भी युक्त नहीं है। विधिवाक्य में प्राप्त चतुर्थी से प्रजापति का विधान होने के कारण ''ऐन्द्रीन्याय'' से मन्त्रों का गौणत्व प्राप्त हो रहा है, इसलिये मन्त्र द्वारा देवता की कल्पना संभव नहीं है। यदि कथञ्चित् ऐसी कल्पना भी कर लें तो अग्नि एवं सूर्य से प्रजापति का विकल्प प्राप्त होगा। क्योंकि **''अग्नेःपूर्वाहुतिः प्रजापतिरुत्तरा**[2] इस क्रम विधि से दोनों में विकल्प संभव नहीं है, अतः यहां ऐन्द्रीन्याय का प्रसङ्ग ही नहीं है। 'यदग्नये०' वाक्य से प्राप्त प्रजापति शब्द ''प्रजानां पान्ति'' इस व्युत्पत्ति से यौगिक शब्द हैं। अतः प्रजापति जिसका विशेषण है उस विशेष्य की अपेक्षा होने पर मन्त्रवर्ण से प्राप्त अग्नि ही विशेष्य के रूप में प्राप्त होता है। ऐसा मानने पर असङ्गति नहीं होगी और मन्त्रप्राप्त विनियोग भी निरर्थक नहीं होगा।[3]

वस्तुतः ''सायंजुहोति, प्रातः जुहोति'' आदि अग्निहोत्र कर्म की अभ्यासविधियाँ है। प्रातः होम के समय सूर्यसमुच्चित प्रजापति देवता का विधान है, एवं सायंकालीन होम के समय अग्निसमुच्चित प्रजापति का विधान है। अतः इनमें विकल्प हो ही नहीं सकता। अग्निहोत्रकर्म सायंहोम से प्रारम्भ होकर प्रातः होम के समय समाप्त होता है। अतः 'यदग्नये०' और 'यत्सूर्याय०' कथन युक्त हैं। अग्निहोत्र पद और होमरूप धात्वर्थ दोनों याग रूप एक ही प्रवृत्तिनिमित्त वाले हैं अतः अग्निहोत्र पद तत्प्रख्यन्याय से कर्म की संज्ञा है, यह सिद्ध होता है।

'आघारमाघारयति'[4] वाक्य का आघार पद भी नामधेय है, संस्कार गुण का वाचक नहीं– अग्निहोत्र पद की भाँति ही आघार पद भी याग की संज्ञा ही है; न कि उपांशुयाग के अङ्गभूत आघार द्रव्य के संस्कारगुण का कथन करने वाला। क्योंकि **''चतुर्गृहीतं वा एतदभूत् तस्याघारं आघार्य''** इस विधिवाक्य से

1. तन्त्र० पृ० 503
2. तै० ब्रा० 2/1/2/10
3. द्र० —मी० कौ० पृ० 203-204
4: तै० ब्रा० 3/3/1

आघार कर्म के द्रव्य की प्राप्ति होती है और "**इत इन्द्र ऊर्ध्वोऽध्वरः**" इस मन्त्रवाक्य से आघार कर्म के देवता के रूप में इन्द्र की प्राप्ति होती है। द्रव्य एवं देवता की अन्य वाक्य से प्राप्ति होने के कारण 'आघार' पद तत्प्रख्यन्याय से याग की संज्ञा है, संस्कार का वाचक नहीं है। भाष्यकार का भी यही मत है।[1]

तैत्तिरीय शाखा में कहा गया है कि जिस कर्म में नैऋत दिशा से प्रारम्भ करके ऐशानी दिशा-पर्यन्त निरन्तर आज्य का क्षारण किया जाय वह 'आघार कर्म' कहलाता है। जबकि वाजसनेयी शाखा में जुहू (पलाशनिर्मित पात्र) में आज्य को लेकर पश्चिम से पूर्व दिशा पर्यन्त अविच्छिन्न रूप से घृत का अग्नि में क्षारण आघार कर्म कहा जाता है। यह कथन आघार को गुण का वाचक मानने पर उपपन्न नहीं होगा। अतः आघार यागकर्म की संज्ञा है।

वादी का यह कथन भी तर्कसम्मत नहीं है कि संस्कार कर्मों की संज्ञा न प्राप्त होने से यह पद संस्कार गुण का ही वाचक है, क्योंकि '**अंशुंगृह्णाति**', '**अदाभ्यं गृह्णाति**' आदि वाक्यों में संस्कार कर्मों की भी संज्ञा का विधान देखा गया है।[2]

यदि 'आघारमाघारयति' वाक्य में प्रयुक्त आघार पद को कर्म की संज्ञा न मानकर संस्कार गुण का वाचक मानेंगे और कर्म का अनुवाद उपांशुयाग से करेंगे तो प्रकरण प्राप्त आज्य द्रव्य एवं देवता का विधान व्यर्थ होगा और इस प्रकार श्रुतहानि और अश्रुत-कल्पनारूप दोष उपस्थित होंगे। यद्यपि द्वितीया का प्रयोग प्रायः संस्कार के लिये देखा गया है, तथापि व्रीहि की भाँति आघार का संस्कार प्रसिद्ध नहीं है। अतः यहाँ पर प्रत्यक्षश्रुति से द्रव्य एवं देवता का लाभ होने से इसे कर्मनामधेय पद मानना ही उचित है, न कि दूरस्थ उपांशुयाग द्रव्य में संस्कारगुण के रूप में अन्वय। बृहतीकार के मतानुसार जैसे प्रस्तर प्रहार में द्रव्य एवं देवता के सम्बन्ध से याग का कथन किया गया है वैसे ही आघारवाक्य में भी याग कर्म ही वर्णित है।[3]

यहाँ पर पूर्वपक्षी का यह उदाहरण उपयुक्त नहीं है कि निर्वापमात्र के लिये प्रयुक्त सावित्रमन्त्रों की भाँति "**इत इन्द्र ऊर्ध्वो अध्वर**" मन्त्र भी क्षरणसंस्कार का अङ्गमात्र है। क्योंकि वहाँ पर 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालो०' वाक्य से ही देवता की प्राप्ति हो जाने से सावित्रमन्त्रों का देवताकल्पकत्व नहीं है,

---

1. "एष च मन्त्र इन्द्रमभिधातुं शक्नोति। स यदीन्द्र तत्साधनं भवेत् एवमनेन मन्त्रेण आघारः शक्यते कर्तुम्। तस्मादिन्द्रो देवता, द्रव्यदेवता-संयुक्तमाघारणम्।'
[सूत्र 1/4/4 का शा० भा० पृ० 91]
2. द्र०—कु० वृ० पृ० 96
3. एवमाघारयति इत्यपि निषिद्धे गुणविधाने किमाख्यातार्थ विधातुं शक्नोति स द्रव्यदेवतासम्बन्धाद् प्रहरतिवद् यजतिः। अतः सन्ततादयो अपि तस्यैव तस्माद् इदमपि आघारपदं तस्यैव नामेति स्थितम्।" [बृहती प० स० II पृ० 217]

किन्तु यहाँ देवता की प्राप्ति पहले से न होने के कारण 'इत इन्द्र०' आदि मन्त्र द्वारा देवता गुण कल्पित करना अनिवार्य है। इसका बाधक कोई वाक्य भी नहीं है। अतः 'आघारम्' पद कर्म का नाम ही है, उपांशुयाग का अङ्ग नहीं है।

समिधो यजति आदि वाक्य भी यागकर्म के नामधेयवाक्य हैं। अग्निहोत्र की भाँति 'समित्' आदि पद भी देवता के वाचक न होकर यागकर्म के ही वाचक हैं क्योंकि समित् याग के देवता का विधान करने वाला अन्य शास्त्र विद्यमान है। **"समिधः समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्तु"**[1] इस मन्त्र वाक्य से समिधादि देवताओं की प्राप्ति समित् यागकर्म को उद्देश्य करके की गई है। अतः तत्प्रख्यन्याय से समिदादि पद याग की संज्ञा सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार **'य एवं विद्वान् पौणमासीम् यजते'**, **'य एवं विद्वान् अमावस्याम यजते०'**[2], इन दोनों वाक्यों में प्रयुक्त पौर्णमासी एवं अमावस्या पद काल के वाचक न होकर प्रयाज के अङ्गभूत यागकर्मों के वाचक हैं।

अग्निहोत्रादि पदों का याग के साथ सामानाधिकरण्य होने से भी इनकी यागनामधेयता सिद्ध होती है--अग्निहोत्रादि वाक्यों में प्रयुक्त अग्निहोत्र, आघार, समित् एवं पूर्णमासी आदि पदों की धात्वर्थ याग के साथ एकार्थवाचकता होने से ये पद कर्म की संज्ञा सिद्ध होते हैं। यहाँ पर वादी का यह तर्क उचित नहीं है कि यदि ये पद याग की संज्ञा होते तो 'ज्योतिष्टोमेन यजेत', 'उद्भिदा यजेत' आदि वाक्यों की भाँति ही यहाँ भी 'अग्निहोत्रेण जुहोति', 'आघारेणआघारयति' आदि प्रयोग प्राप्त होते, क्योंकि इन वाक्यों में प्रयुक्त कर्मवाचक पदों में द्वितीया का प्रयोग लक्षणा से तृतीयार्थ द्योतन के लिये है। अनुष्ठान के पूर्व धात्वर्थ सिद्ध (फल) रूप में होता है। अतः **'नासाधितं करणम्'** इस न्याय से करण के भी साध्यत्व का ज्ञान कराने के लिये अग्निहोत्रम्, आघारम्, समिधः आदि द्वितीयान्त पद कहे गये हैं।[3] क्योंकि याग एवं करण का सामानाधिकरण्य एक विभक्ति वाला होने से नहीं अपितु समान पदवृत्तित्व के कारण ही है। अतः इसी न्याय से अग्निहोत्रादि पदों का याग के साथ एकार्थवाचित्व है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि अग्निहोत्र, आघार, समित् एवं पूर्णमासी आदि पद दर्वी होम उपांशुयाग, तथा दर्शपूर्णमासयाग के लिये गुण एवं संस्कारादि के विधायक नहीं हैं बल्कि उनसे भिन्न यागकर्मों के नाम हैं।[4]

1. कातीयहोत्रम् 1/4/
2. तै० सं० 1/6/9,
3. क. न च होमस्य प्रत्ययवाच्यायामर्थभावनायां करणत्वात् तन्नामत्वेऽग्निहोत्रेणेतितृतीयास्यात्,.........।" [मी० परि० पृ० 31]
   ख. "नासाधिते हि धात्वर्थे करणत्वं ततोऽस्य सा,
   साध्यतां वक्ति संस्कारो नैवाशंक्यः क्रियात्वतः।" [जै० न्याय० पृ० 50]
4. तन्त्र० 297

एकदेशेऽपि च ज्ञानान्नानुवादोऽपगच्छति,
आघारस्यापि सम्बन्धः क्लेशेनोपांशुकर्मणा।
सामानाधिकरण्यं च साध्यांशेनेह कर्मणः,
विस्पष्टं द्रव्यनामत्वं न चाऽघारस्य गम्यते।"

लोकरूढ पदों की यागनामधेयता

वेद में कतिपय ऐसे नामधेय वाक्य भी प्राप्त होते हैं जिन्हें न तो मत्वर्थलक्षणा के भय से याग की संज्ञा कहा जा सकता है। न ही उन वाक्यों में चित्रादि वाक्यों की भाँति अनेक गुणों का विधान प्राप्त होता है जिससे वाक्यभेद भय से उन्हें कर्म की संज्ञा कहा जा सकता है और न ही उसके देवता गुण का विधायक कोई अन्य वाक्य प्राप्त होता है जिससे तत्प्रख्यन्याय से उन्हें नामधेयों में परिगणित किया जा सकता है। ऐसे स्थलों पर गुणविधि कही गई है अथवा याग की संज्ञा यह चिन्तन का विषय है। जैसे—**'अथैष श्येनेनाभिचरन् यजेत'**[1], **'संदंशेनाभिचरन् यजेत'**[2], **'अथैष गवाभिचरन् यजेत'**[3] आदि वाक्य।

पूर्वपक्ष —

पूर्वपक्षी इन्हें गुणविधायक मानते हैं, जवकि मीमांसक मत में इन वाक्यों में प्रयुक्त श्येनादि को याग की संज्ञा माना गया है। वादी अपने कथन की पुष्टि करता हुआ कहता है कि इन वाक्यों के श्येनादि पद श्येनपक्षी रूप द्रव्य गुण के वाचक हैं। क्योंकि श्येन शब्द श्येन पक्षी रूप अर्थ में रूढ़ हैं, अतः यहाँ 'श्येन पक्षी रूप द्रव्य से अभिचार रूप फल सम्पादित करे' यह वाक्यार्थ प्राप्त होता है। इन वाक्यों से सोमयाग में नित्य प्राप्त सोमद्रव्य का वाध करके सोम के स्थान पर पक्षीरूप काम्य गुण का विधान किया जाता है। इसी प्रकार 'संदंश' पद सँडसी का और 'गो' शब्द गोपशु रूप द्रव्य का वाचक है। काम्य कर्म होने से 'सोमेन यजेत' से प्राप्त सोम गुण का यह विधि वाध कर देती है। अतः पूर्वपक्षी के मत में उक्त वाक्यों में गुणविधियाँ हैं।[4]

पूर्वपक्षी के अनुसार इन वाक्यों को गुणविधि इसलिये भी मानना चाहिए क्योंकि इन पदों के लोकरूढ होने से यहाँ सामानाधिकरण्य भी नामधेयत्व निर्णय में सहायक नहीं है। इन्हें कर्म की संज्ञा मानने के लिए कोई हेतु न प्राप्त होने से सिद्धान्ती का यह कहना ठीक नहीं है कि वत्यर्थ के ग्रहण से इन

1. षड्विंश ब्रा० 3/8/1/
2. षड्० ब्रा० 3/10/1
3. "अभिपूर्वकस्य चरधातोः वैरिमरणानुकूलो व्यापारोऽर्थः।'

[षड्० ब्रा० प्र० 3 ख० 8]

4. "अत्यन्त निरूढत्वात् गुणविधिः ज्योतिष्टोमादिषु—काम्यत्वाच्च नित्यमुत्पत्तिशिष्टमपि सोमं वाधते।"

[शा० दी० पृ० 94]

शब्दों की यागनामधेयता सिद्ध हो जायेगी। वस्तुतः ऐसा मानने के लिये अत्यन्त क्लिष्ट रूप वाली गौणीवृत्ति कल्पित करनी होगी। अतः जघन्यवृत्ति होने से गौणीवृत्ति द्वारा वत्यर्थ कल्पित करने की अपेक्षा मत्वर्थलक्षणा द्वारा यहाँ पर गुणविशिष्ट विधि स्वीकार करने में ही लाघव है[1], क्योंकि गौणीवृत्ति की अपेक्षा लक्षणा प्रबल प्रमाण है। जैसा कि वार्तिककार ने भी कहा है—

''मत्वर्थोवाक्यबेलायाम् एकवाक्यवशाद्भवेत्
इवार्थः पदवेलायां गृह्यमाणोऽतिदुर्बलः।''

अतः सिद्धान्ती का यह तर्क उचित नहीं है कि 'यथा वै०' अर्थवाद से प्राप्त सादृश्य के श्येन पक्षी में ही असम्भव होने से गौणीवृत्ति द्वारा श्येन शब्द की यागपरकता कल्पित करना उचित है। साथ ही सिद्धान्ती का यह कथन भी युक्त नहीं है कि विधेय की स्तुति सदैव भिन्न पदार्थ में स्थित सादृश्य से की जाती है, क्योंकि जैसे—लोक में ''रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव'' आदि वाक्यों में व्यक्ति एवं काल रूप औपचारिक भेद कल्पित करके उपमा दी जाती है, वैसे ही यहाँ भी श्येन द्रव्य की श्येन से उपमा सम्भव है। 'श्येनेन०' आदि वाक्यों में वर्णित पदार्थ संदिग्ध नहीं हैं, जिसके निर्णय के लिये वाक्यशेष रूप से अर्थवाद की सहायता लेनी पड़े।

यहाँ गुणविधि मानने का एक और कारण यह भी है कि श्येन का द्रव्य रूप अर्थ लेने पर श्येन शब्द अपने अर्थ का परित्याग किये बिना ही श्येन युक्त याग की भी प्रतीति करा सकता है; जबकि इसे यागवाचक मानने पर स्वार्थ में कोई उपयोग न होगा। जिससे प्रारम्भ से ही सादृश्य की विवक्षा से श्येन पद की प्रवृत्ति माननी होगी। अतः श्रुति का बाध होगा।[2]

इसी प्रकार **'संदंशेनभिचरन् यजेत'** वाक्य का 'संदंश' पद भी गुण का ही कथन करता है एवं **'गवाभिचरन् यजेत'** वाक्य में प्रयुक्त 'गो' पद भी द्रव्य गुण का ही वाचक है, ऐसा मानने पर ही श्रुति की सार्थकता होगी। वस्तुतः ये पद जाति निमित्तक होने से याग को कहने में समर्थ नहीं हैं।

सिद्धान्त

इन श्येनादि पदों की यागनामधेयता 'तद्व्यपदेशन्याय' से है। 'तद्व्यपदेश' पद का शाब्दिक अर्थ है ''उस विधि को अभीष्ट गुण के साथ याग की भिन्नता प्रकट करने वाला कथन''। क्योंकि 'श्येन विधि के द्वारा

---

1. द्र० जै० न्याय० पृ० 51,
न चात्र कर्मणि प्रवृत्तिनिमित्तं किञ्चिदस्ति। वत्यर्थोपादानेन............। तत्र वरं मत्वर्थलक्षणा।'' [तन्त्र० पृ०- 298]
2. द्र०— तन्त्रवार्तिक पृ०- 298

विधेय रूप में गृहीत श्येन पक्षी की भिन्नता **'यथा वैश्येनो०'** आदि वाक्यों द्वारा कही जाती है अतः श्येनादि पदों का यागनामधेयत्व तद्व्यपदेश न्याय से सिद्ध होता है।

1. 'श्येनेनभिचरन्०' वाक्यगत श्येन पद यागकर्म का ही वाचक है, गुण का नहीं -सिद्धान्ती के अनुसार **'श्येनेनभिचरन् यजेत'** इस वाक्य में श्येन पद पक्षिविशेष का वाचक न होकर श्येनसंज्ञक याग का वाचक है। इसलिये यहाँ पर गुणविधि कल्पित करना उचित नहीं है। क्योंकि वाक्य में 'श्येन' पद के समीप शतृप्रत्ययान्त 'अभिचरन्' पद पठित है और 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः'[1] इस सूत्र से शतृ प्रत्यय का विधान होने से यहाँ हेत्वर्थ का ज्ञान होता है, अतः अभिचार रूप फल के सम्पादन हेतु श्येनसंज्ञक याग कर्तव्य रूप से प्राप्त होता है। अर्थवादगत श्येन आदि प्रसिद्ध अर्थ से जिस श्येन का सादृश्य कहा गया है, वह श्येन याग की संज्ञा का ही वाचक है।[2] श्येन पद की यागनामधेयता **"यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते"** इस अर्थवाद वाक्य द्वारा सादृश्य कथन किये जाने से सिद्ध होती है।

इस अर्थवाद का 'अयं' पद श्येनयाग को ही लक्षित कराता है। यहाँ यदि विधिवाक्य में श्येन पद को गुण का वाचक मान भी लें तो 'अयं' के साथ उसका सम्बन्ध भला कैसे सिद्ध होगा, क्योंकि 'श्येनेन०' आदि वाक्य में गुणविधि मानने पर श्येन गुण ही श्येन द्वारा स्तुत होगा जबकि स्वयं के द्वारा स्वयं का उपमान असिद्ध है।[3] इसलिये ऐसा मानने पर अर्थवाद वाक्य की विधि के साथ वाक्यशेषता भी नहीं सिद्ध होगी। अर्थवाद सदैव विधिवाक्यों की स्तुति से ही अपने प्रयोजन की सिद्धि करते हैं, स्वतंत्र रूप से उनका कोई अर्थ या प्रयोजन नहीं है। अतः वाक्यशेषता न सिद्ध होने पर वे व्यर्थ हो जायेंगे। गुणविधि मानने पर तो श्येन पक्षी द्वारा श्येन की स्तुति मानी होगी। जिससे एक ही पदार्थ में उपमानोपमेय भाव प्राप्त होगा, जबकि उपमान और उपमेय सदैव दो भिन्न पदार्थों में स्थित रहते हैं। जैसा कि वार्तिककार ने कहा भी है—

> **"विधेयं स्तूयते वस्तु भिन्नोपमया सदा,**
> **न तेनैव तस्यैव स्तुतिः तद्वदीष्यते।"**[4]

---

1. पा० सू० 3/2/126
2. "तद्व्यपदेशं च" जै० सू० 1/4/5/
3. "विधेयस्यैव स्तोतव्यतया गुणविधौ तस्यैव श्येनसादृश्येन स्तुतिर्वाच्या। न च श्येन-सादृश्यस्यैव श्येनेन सादृश्यम्, भिन्नजातीययोरेव गोगवयादौ सादृश्यदर्शनात्। न च सति संभवे काल्पनिकभेदाभ्युपगमेन सादृश्यकल्पना युक्तेति भावः।"

   [मी० सू० 1/4/5 का भा० वि०]
4. द्र०- तन्त्रवार्तिक पृ०- 298।

शास्त्रदीपिकाकार का यह मत है कि[1] श्येन पद को यागवाचक मानने पर यह उपमानोपमेय भाव सिद्ध होगा और अर्थवादवाक्य की सप्रयोजनता भी।

2. श्येनादि वाक्यों में गुण विशिष्ट विधि भी संभव नहीं है–वादी का यह तर्क भी उचित नहीं है कि 'सोमेन यजेत' आदि वाक्यों की भाँति 'श्येनेन०' वाक्यगत श्येन पद कर्म-विशिष्ट गुण का विधायक है, क्योंकि विशिष्ट विधि मानने के लिये मत्वर्थलक्षणा स्वीकार करनी होगी जिससे कल्पनागौरव प्राप्त होगा। अतः यहाँ पर गुणविशिष्ट विधि नहीं मानी जा सकती। इसलिये श्येन पद याग की संज्ञा सिद्ध होता है।

इस सम्बन्ध में वादी का यह उदाहरण भी उचित नहीं है कि जैसे लोक में 'रामरावणयोर्युद्धं०'[2] आदि वाक्यों का प्रयोग होता है, वैसे ही यहाँ पर भी श्येन की श्येन द्वारा स्तुति की गई है, क्योंकि बिना भेदक प्रमाण के कर्मविशिष्टविधि नहीं मानी जा सकती। उपमान सदैव प्रसिद्ध होता है और उपमेय अप्रसिद्ध। यद्यपि अर्थवादों का अपने आप में कोई प्रयोजन नहीं होता, तथापि यदि उपमान का आलम्बन भिन्न नहीं होगा तो उपमा भी नहीं सिद्ध होगी। इसलिये लोक में भले ही ऐसी कल्पना प्राप्त होती हो, किन्तु वेद में ऐसी व्यर्थ कल्पना के लिये अवकाश नहीं है।[3] यदि एक ही व्यक्ति में कालभेद से उपमानत्व कल्पित भी किया जायेगा तो अर्थवादवाक्यगत 'आदत्ते' इस वर्तमानकालिक क्रिया में लक्षणा द्वारा भूतकाल की कल्पना करनी पड़ेगी।

इसी प्रकार एक ही कार्य में व्यक्ति के भेद से उपमान कल्पित करने पर 'श्येन' पद के सर्वनामवाचक होने के कारण श्येनत्वावच्छिन्न पद से ग्रहण होने योग्य अर्थ से लक्षणा द्वारा भिन्न व्यक्ति कल्पित करना होगा; जबकि याग नामधेय मानने पर श्येन याग की श्येन द्रव्य से स्तुति संगत होती है।

यहाँ पर यह तर्क नहीं दिया जा सकता है कि जैसे अन्य स्थलों पर विधेय पदार्थ से भिन्न की स्तुति द्वारा भी विधेय की स्तुति सिद्ध होती है, वैसे ही यहाँ पर भी है। क्योंकि अन्य स्थलों पर भले ही अविधेयगत स्तुति देखी जाती हो, किन्तु यहाँ 'श्येनेन०' वाक्य में याग तो स्वयं विधि का भाग है। अतः इससे न तो द्रव्य की स्तुति की जा सकती है और न ही विधान। वस्तुतः श्येन पद जिस प्रकार श्येन पक्षी रूप अर्थ को कहता है, उसी प्रकार याग का भी वाचक है। इस प्रकार 'श्येन' को याग की संज्ञा मानने पर

1. "गुणविधौ तावत्स एवं स्तोतव्यः। तस्य चात्मनैवोपमानमनुपपन्नमिति तद्व्यपदेशात्मक वाक्यशेषानुपपत्तिः।" [शा० दी० पृ० 94]
2. बाल्मीकि रामायण—युद्धकाण्ड—110/24।
3. "भवति हि लोके काल्पनिकमवस्थादिगतभेदमाश्रित्यैवमपि स्तुतिः सम्भवति वेदे तु न युक्ता। नामधेयत्वे तु यागश्येनस्य.............०।" [तन्त्र० पृ० 298]

श्रुत्यर्थ सङ्गत होता है; जबकि गुणवाचक मानने पर मत्वर्थलक्षणा कल्पित करनी पड़ेगी, क्योंकि मत्वर्थलक्षणा कल्पित है और वत्यर्थ क्लृप्त। इसलिये मत्वर्थलक्षणा से विशिष्ट विधि कल्पित करने की अपेक्षा गौणीलक्षणा से वत्यर्थ कल्पित करने में लाघव है।[1]

खण्डदेव के मतानुसार 'यथावै०' यह अर्थवादवाक्य 'श्येन' पद में वर्तमान सादृश्य गुण की सिद्धि के लिये लक्षणा का आश्रय लिये बिना ही श्येन उपमान, उपमेय याग और साधारण धर्म रूप सादृश्यवाचक 'यथा' और 'वै' पदों से युक्त होने के कारण पूर्णोपमा द्वारा विधेय भूत श्येन याग की स्तुति करता है। अतः उपमान पदार्थ की भिन्नता के कारण भी श्येन पद याग की संज्ञा सिद्ध होता है।[2]

वासुदेव दीक्षित का मत है कि 'श्येन' में गुणविशिष्ट विधि मानने पर श्येनगुणविशिष्ट धात्वर्थ का विधान मानना पड़ेगा, जो कि उचित नहीं है। क्योंकि ऐसी दशा में उत्पत्ति- वाक्यगत 'श्येन' पद को गुण एवं कर्म दोनों ही का लक्षणा से विधान करना होगा; जबकि उसे श्येन याग का विधायक मानने पर केवल एक पद से ही विधान होने के कारण लाघव है और विधान में लाघव होने से अत्यन्त क्लिष्ट होने पर भी अर्थवादवाक्य द्वारा सिद्ध गौणी वृत्ति का आश्रय लेना उचित है।[3] अतः 'श्येनेन०' वाक्य गत श्येन पद याग कर्म का नामधेय सिद्ध होता है। उसकी यह नामधेयता **तद्व्यपदेशन्याय** से है।

'संदंश' पद भी यागकर्म का ही वाचक है–इसी प्रकार **'संदंशेनऽभिचरन् यजेत'** वाक्य में प्रयुक्त 'संदेश' पद भी 'संदंश' द्रव्य का वाचक न होकर यागकर्म का वाचक है। इसकी यागार्थवाचकता **''यथा वै संदंशो दुरादानमादत्ते एवमयं द्विषन्तम् भ्रातृव्यं निपत्त्यादत्ते''** इस अर्थवाद वाक्य से भी सिद्ध होती है। यहाँ पर उपमान-संदंश द्रव्य द्वारा उपमेय-संदंश याग कर्म की 'यथा वै०' आदि सादृश्यवाचक पदों से स्तुति की गई है। अतः ''जिस प्रकार संदंश कठिनाई से पकड़ने योग्य तप्त लोहपिण्ड आदि को पकड़ लेता है वैसे ही यह संदंश याग कठिनाई से प्राप्त होने वाले शत्रुओं को सरलता से पकड़ लेता है'', यह वाक्यार्थ यहाँ प्राप्त होता है। इस अर्थवाद वाक्य से दुरादान के साधन के रूप में प्रसिद्ध संदंश द्रव्य से याग की स्तुति की गई है। अतः 'संदंश' पद तद्व्यपदेश न्याय से याग का वाचक सिद्ध होता है।[1]

---

1. तन्त्र० पृ० 299
2. क. मी० कौ० पृ० 216,
   ख. ''यथा वै श्येन इत्युक्ता हि उपमानोपमेयता,
   नैकस्मिंस्तेन गौण्याऽस्य वृत्त्या स्यात्कर्मनामता।'' [जै० न्याय० पृ० 51]
3. द्र० —कु० वृ० पृ० 98

'संदंश' पद भी यागकर्म का ही वाचक है–इसी प्रकार **'संदंशेनऽभिचरन् यजेत'** वाक्य में प्रयुक्त 'संदेश' पद भी 'संदंश' द्रव्य का वाचक न होकर यागकर्म का वाचक है। इसकी यागार्थवाचकता **"यथा वै संदंशो दुरादानमादत्ते एवमयं द्विषन्तम् भ्रातृव्यं निपत्त्यादत्ते"** इस अर्थवाद वाक्य से भी सिद्ध होती है। यहाँ पर उपमान-संदंश द्रव्य द्वारा उपमेय-संदंश याग कर्म की 'यथा वै०' आदि सादृश्यवाचक पदों से स्तुति की गई है। अतः "जिस प्रकार संदंश कठिनाई से पकड़ने योग्य तप्त लौहपिण्ड आदि को पकड़ लेता है वैसे ही यह संदंश याग कठिनाई से प्राप्त होने वाले शत्रुओं को सरलता से पकड़ लेता है", यह वाक्यार्थ यहाँ प्राप्त होता है। इस अर्थवाद वाक्य से दुरादान के साधन के रूप में प्रसिद्ध संदंश द्रव्य से याग की स्तुति की गई है। अतः 'संदंश' पद तद्व्यपदेश न्याय से याग का वाचक सिद्ध होता है।[1]

'गवाऽभिचरन्०' वाक्यगत 'गो' पद भी तद्व्यपदेश न्याय से यागकर्म का नामधेय है–**'गवाभिचरन् यजेत'** वाक्य का 'गो' पद भी गो पशु का वाचक न होकर गोसंज्ञक याग का वाचक है। 'गो' शब्द की कर्मनामधेयता **"यथा गावो गोपायन्ति०'** इस अर्थवाद वाक्य के सादृश्य वाचक पदों की सहायता से प्रसिद्ध गोपशु द्वारा गो संज्ञक याग कर्म की स्तुति द्वारा सिद्ध है। जैसे गाय अपने बछड़े की हिंसक पशुओं से रक्षा करती है, वैसे ही यह गो संज्ञक याग भी अपने यजमान की असुरों और राक्षसों से रक्षा करता है।", यह वाक्यार्थ यहाँ प्राप्त होता है। अतः विधिवाक्यगत 'गो' पद पशुद्रव्य की नहीं अपितु याग की संज्ञा है।

कतिपय वादी विद्वानों का जो यह मत है कि अर्थवादगत श्येनादि पद जातिनिमित्तक होने से याग रूप अर्थ को कहने में समर्थ नहीं है, वह ठीक नहीं है। वस्तुतः भिन्न पदार्थ में स्थित सादृश्य की सहायता से ये याग की स्तुति करते हुए यागार्थ का कथन करने में समर्थ होते हैं। अतः जैसे-लोक में 'सिंहो देवदत्तः' आदि वाक्यों में बल के सादृश्य से देवदत्त को ही सिंह कहकर स्तुति की जाती है, वैसे ही यहाँ भी सादृश्य से याग की स्तुति सिद्ध होती है।[2] अतः विधिवाक्यगत श्येन, संदंश तथा गो आदि पद तद्व्यपदेश न्याय से याग की संज्ञा हैं।

यहाँ पर यह आक्षेप नहीं किया जा सकता कि वेदोक्त होने से अभिचार कर्म भी कर्तव्य के रूप में प्राप्त हैं, अतः इन कर्मों में भी पुरुष प्रवृत्त होंगे।

---

1. "संदंशशब्दश्च संदंश्यते पार्श्वद्वये निपीड्य दुरादेयं परिगृह्यते अनेनेति व्युत्पत्त्या।" [कु० वृ० पृ०- 98]
2. यत्तु जातिशब्दा इमे न यागमभिवदन्तीति। सादृश्यव्यपदेशाद् अभिवदिष्यन्ति। ....तस्मात् कर्मनामधेयम्। [सूत्र 1/4/5 का शा० भा०]

क्योंकि भले ही यह कर्म वेद में कहे गये हैं; किन्तु **''फलं न विधेयं किंतु फलमुद्दिश्य तत्साधनत्वेन कर्मैव विधेयम्''** इस न्याय से फलरूप होने से ये वेदविहित नहीं हैं। अभिचार कर्म शत्रुमारण के कारण अनिष्टफल (नरकादि) के जनक होने से वेदविहित नहीं हैं; इसलिये शत्रु हिंसा रूप अभिचार कर्मों में वैदिक पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं होगी—ऐसा मीमांसा सिद्धान्त है।[1]

'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो०' आदि वाक्यों में प्रयुक्त वाजपेयादि शब्द भी तत्प्रख्यन्याय से याग की संज्ञा सिद्ध होते हैं–'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इस वाक्य में प्रयुक्त 'वाजपेय' शब्द गुण की संज्ञा न होकर याग कर्म की संज्ञा है। क्योंकि यदि इसे गुण का विधायक पद मानेंगे तो 'वाजमन्नं पेयो' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वाजपेय द्रव्य शस्य जाति से युक्त होगा; जो कि दर्शपूर्णमास कर्म की प्रकृति है। सम्पूर्ण याग सकल इष्टि, पशु एवं सोम इन तीन भागों में विभक्त हैं। इनमें वाजपेय याग सोम जाति का है। अतः यदि 'वाजपेय' पद द्वारा यवागू आदि रूप अन्नयुक्त पेय गुण का विधान करते हैं, तो वाजपेय याग इष्टिजातीय हो जायेगा।[2] अतः 'वाजपेयेन०' वाक्य को गुण-विधि मानने पर वाजपेय और दर्शपूर्णमास दोनों यागों की समान प्रकृति हो जायेगी। इसलिये यहाँ 'वाजपेय'[3] को याग की संज्ञा मानना ही अधिक उचित है।

यहाँ गुणविधि मानने में एक दोष यह भी है कि इस वाक्य से वाजपेय गुण एवं स्वाराज्य फल दोनों का एक साथ विधान मानने पर वाक्यभेद दोष प्राप्त होगा, क्योंकि याग का गुण के साथ अन्वय करने पर ''वाजपेयेन यागं भावयेत्'' यह वाक्यार्थ प्राप्त होगा और स्वाराज्य फल के साथ अन्वय करने पर 'यागेन स्वाराज्यं भावयेत्' यह वाक्यार्थ मानना होगा। वाक्य में एक बार उच्चरित 'यज' के धात्वर्थ से साध्य (कर्मत्व) एवं साधन (करणत्व) दोनों रूपों सहित याग की उपस्थिति संभव नहीं है[4], क्योंकि 'यज' से याग का सामान्य रूप ही गृहीत होता है। अतः गुण एवं फल दोनों के साथ सम्बन्ध रखने की उसमें योग्यता नहीं है। यदि 'यज' की करणरूप से उपस्थिति मानते हैं—तो

1. द्र०- मी० परि० पृ०- 32
2. ''एकशब्द्ये परार्थवत्'' जै० सू० 1/4/7
3. **विशेष**–'वाजपेय' शब्द को गुण मानने में एक दोष यह भी है कि ऐसी दशा में वाजपेय याग के भी ज्योतिष्टोम की भाँति सोमयाग हो जाने से **'सप्तदशदीक्षो वाजपेयः', 'सप्तदशोपसत्को वाजपेयः'** आदि वाक्यों द्वारा अङ्गभूत दीक्षा एवं उपसद का अनुवाद करके संख्या का विधान नहीं हो सकेगा। अतः वाजपेय को कर्म की संज्ञा मानना ही युक्त है।
4. ''साधारणयजेः कर्मकरणत्वेन तन्त्रता,
त्रिकद्वयविरुद्धं स्यात्तन्त्रतायां फलं प्रति।'' [जै० न्याय० पृ० 52]।

वह फल की आकांक्षा से युक्त रहेगा और यदि स्वाराज्यफल रूप से याग की उपस्थिति मानेंगे तो वह साधन (करण) की आकांक्षा करेगा। इस प्रकार करण रूप से याग का अन्वय मानने पर स्वाराज्यरूप फल ही याग के साथ अन्वित होगा, वाजपेय गुण नहीं अन्वित होगा एवं फल रूप से याग का भावना में अन्वय मानने पर वाजपेय गुण ही अन्वित होगा, फल नहीं। यदि दोनों का एक साथ भावना में अन्वय मानेंगे तो विधि की आवृत्ति माननी होगी, जिससे वाक्यभेद होगा।[1] अतः वाजपेय को याग की संज्ञा मानने पर ही इस दोष से मुक्ति संभव है।

यदि वादी कहे कि 'वाजपेयद्रव्येण स्वाराज्यं भावयेत्' यह वाक्यार्थ मानने पर वाक्यभेद नहीं होगा तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि जिस समय याग फलरूप से ज्ञात हो रहा हो उसी समय वह करण रूप से नहीं ज्ञात हो सकता। इसलिये ऐसा मानने पर न केवल साध्य और साधन की वैरूप्यता से प्राप्त वाक्यभेद होगा; प्रत्युत "विरुद्धत्रिकद्वयापत्ति"'[2] भी प्राप्त होगी।

यदि याग को स्वाराज्यफल के प्रति साधन मानते हैं तो फल की सिद्धि में कारण स्वरूप होने से याग में **गुणत्व** (अङ्गता) सिद्ध होगा। अङ्गरूप होने से पारार्थ्य की सिद्धि करने के कारण याग में **उपादेयत्व** होगा। साथ ही फलविधि के अधीन होने से याग **विधेय** भी होगा। इस प्रकार फल प्रधान और याग गौण होगा। अतः गुणत्व, उपादेयत्व एवं विधेयत्व रूप एक त्रिक याग में उपस्थित होगा। यदि याग को वाजपेय गुण के प्रति साध्यरूप (फल) मानते हैं, वाजपेय गुण के प्रति याग अङ्गी होगा, अतः याग में **प्राधान्यत्व** की प्राप्ति होगी, और प्रधान होने से वह विधि का उद्देश्य भी होगा जिससे **उद्देश्यत्व** की प्राप्ति होगी। विधि सदैव अप्राप्त अर्थ का विधान करती है। याग के पूर्व प्राप्त होने के कारण यहाँ उसका पुनः कथन होगा जिससे **अनुवाद्यत्व** की भी प्राप्ति होगी- यह दूसरा त्रिक है। जैसी कि उक्ति है-

द्रव्यसारूप्य सामान्यात् ऐष्टिकत्वं प्रसज्यते।
तन्त्रत्वमैकरूप्येण भवेत्तुल्योपकारतः।

इस प्रकार दोनों त्रिकों की प्राप्ति होने के कारण एक ही याग एक ही समय में गुण एवं प्रधान रूप से, विधेय एवं उद्देश्य रूप से तथा उपादेय एवं अनुवाद्यरूप से उपस्थित होगा, जो कि परस्पर विरोधी धर्म हैं। अतः एक ही धर्मी में इनकी उपस्थिति वाक्यभेद स्वीकार किये बिना संभव नहीं है। इसलिये याग का वाजपेय द्रव्य और स्वाराज्य फल दोनों के साथ सम्बन्ध मानने पर परस्पर विरुद्ध-त्रिकद्वयापत्ति रूप दोष प्राप्त ही होगा। अतः वाजपेय यागकर्म

1. जैसा कि तन्त्रवार्तिककार ने भी कहा है—
"वाजपेयं यवागू स्यादौषधद्रव्यता ततः,
उपकारान्यथात्वे तु भवेत्यावृत्तिलक्षणम्।" [तन्त्र० पृ० 300]
2. द्र०— जै० न्याय० वि० पृ०- 53

का नामधेय ही सिद्ध होता है।

यहाँ पर वादी का यह तर्क भी ठीक नहीं है कि फल एवं गुण दोनों का एक साथ विधान न मानकर केवल 'यज' की आवृत्ति से याग के साथ उनका अलग-अलग सम्बन्ध कल्पित किया जा सकता है। क्योंकि ऐसा मानने पर भी 'वाजपेयद्रव्येण यागं कुर्यात्' एवं 'यागेन स्वाराज्यं सम्पादयेत्' से दो वाक्य मानने पड़ेंगे, जिससे वाक्यभेद दोष ज्यों का त्यों बना रहेगा।[1] इसलिये वाजपेय शब्द गुणविधायक नहीं है; अपितु तत्प्रख्यन्याय से याग की संज्ञा है। इसे याग की संज्ञा मानने पर प्रकरण का बाध नहीं होगा। 'वाजपेय' शब्द में चतुर्थी तत्पुरुष न होकर 'वाजः पेयो यस्मिन्'' ऐसा विग्रह होने से बहुव्रीहि समास है, जो वाजपेय शब्द की यागनामधेयता को ही लक्षित कराता है। यहाँ पर वाज सोमरस का वाचक है।[2] वाजपेय याग के द्रव्य का विधान प्रकार **''प्रतितिष्ठन्ति सोमग्रहैः''** आदि से प्राप्त है। **'देवा वै यथादर्शं यज्ञानाहरन्त'** ऐसा उपक्रम करके **'ते सहैव सर्वे वाजपेयमपश्यन्'** वाक्य से तथा **'स वा एष ब्राह्मणस्य चैव राजन्यस्य च यज्ञ तं वा एतं वाजपेय इत्याहुः''** आदि अर्थवाद भी विधि-वाक्यगत 'वाजपेय' पद की यागनामधेयता को सिद्ध करते हैं। अतः गुणादि का कथन करने वाला शास्त्रान्तर विद्यमान होने से विधि वाक्यगत वाजपेय याग की संज्ञा का ही वाचक है।

नामधेयों के संदिग्ध स्थल

वैश्वदेवादि पदों का यागनामधेयत्व

उद्भिदादि पदों की नामधेयता सिद्ध हो जाने के पश्चात् **'वैश्वदेवेन यजेत'** आदि कतिपय ऐसे वाक्य वेद में प्राप्त होते हैं, जिनके बारे में यह निश्चित नहीं है कि इनकी नामधेयता में कौन सा हेतु प्रवृत्त होगा। पूर्वपक्षी ने ऐसे वाक्यों को गुणविधायक माना है जबकि मीमांसकों ने इन्हें भी नामधेय वाक्य कहा है। इनकी नामधेयता की सिद्धि में कुछ मीमांसकों ने तत्प्रख्यता को हेतु माना है; जबकि कतिपय विद्वानों ने मत्वर्थलक्षणाभयादि चारों हेतुओं से भिन्न ''उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व'' हेतु से वैश्वदेवादि वाक्यों की कर्मनामधेयता कही

---

1. (क) द्र० — सूत्र 1/4/8 का शाबर भाष्य,
(ख) ''तन्त्रसम्बन्धे हि परस्परनिरपेक्षयोर्यागेन सम्बन्धः एक विशेषितेतर सम्बन्धे वाक्यभेदप्रसङ्गात्।...................तेन स्वाराज्यकामैर्यागैकवाक्यता गम्यमाना नोत्सृष्टा भविष्यति इति नामधेयता।'' [तन्त्र० पृ० 301]
2. ''वाजः देवान्नरूपः सोमः पेयो यस्मिन् यागे, स वाजपेयः, यस्मादेतेन देवाः वाजः फलरूपमन्नं प्राप्तुमैच्छन् तस्मादन्नरूपो वाजः प्राप्यो येन स वाजपेय इति।'' [सायण भाष्य 1/7/7]

है, क्योंकि द्रव्य एवं देवता के तद्धित से ही गृहीत हो जाने से यहाँ मत्वर्थलक्षणा का भय नहीं है। विश्वेदेवरूप एक ही देवता गुण का विधान प्राप्त होने से वाक्यभेद का भय नहीं है। श्येन याग की भाँति विश्वेदेव पद किसी का व्यपदेश भी नहीं करता और न ही तत्प्रख्यन्याय से इसकी नामधेयता संभव है। अतः उत्पत्तिशिष्टबलीयस्त्व ही यहाँ नामधेयत्व का हेतु है।

'वैश्वदेवेन यजेत'[1] वाक्य चातुर्मास्य प्रकरण में पढ़ा गया है। चातुर्मास्य याग के चार पर्व हैं—1. वैश्वदेव, 2. वरुण-प्रघास, 3. साकमेध, 4. शुना-सीरीय। वैश्वदेव पर्व में- **'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति, सौम्यं चरुम्, सावित्रं द्वादशकपालं, सारस्वतम् चरुम्, पौष्णं चरुम्, मारुतं सप्तकपालम्, वैश्वदेव्यामिक्षा, द्यावापृथिव्यमेककपालम्'**'[2]- यह आठ याग विहित हैं। इन्हीं के समीप 'वैश्वदेवेन यजेत' यह वाक्य पठित है। पूर्वपक्षी के मतानुसार क्योंकि आमिक्षा याग में विश्वेदेव देवता प्राप्त है, अतः 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य के 'यज' भाग द्वारा इन यागों का अनुवाद करके 'वैश्वदेव' पद से इन यागों के देवता का विधान किया गया है। अतएव यह वाक्य गुणविधि है। यदि 'वैश्वदेव' को याग की संज्ञा मानेंगे तो ये वाक्य निरर्थक हो जायेंगे, क्योंकि देवता की प्राप्ति न होने के कारण इन यागों का स्वरूप सिद्ध नहीं होगा। इसलिये 'वैश्वेदेव' शब्द के द्वारा देवता गुण का विधान मानना ही उचित है।[3]

यहाँ पर सिद्धान्ती का यह कहना ठीक नहीं है कि 'वैश्वदेव्यामिक्षा' वाक्य से देवता का विधान प्राप्त होने से इस वाक्य द्वारा उसका पुनः विधान मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि यदि पुनर्विधान नहीं मानते हैं तो भी विकल्प तो सम्भव ही है। इसलिये यह तर्क ठीक नहीं है कि उत्पत्तिवाक्य से ही देवता का विधान हो जाने से वहाँ पर अन्य देवता का विधान नहीं हो सकता, क्योंकि विपरीत बाध भी देखा गया है। अतः वैश्वदेव से गुणविधान न मानने पर सभी वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे। इसलिये अगत्या उत्पन्नशिष्ट गुण वैश्वदेव का उत्पत्तिशिष्ट अग्नि आदि गुण से विकल्प मानना चाहिए।

अथवा आमिक्षावाक्य को द्रव्यमात्र का विधायक मानकर 'वैश्वदेव' पद द्वारा देवतागुणविशिष्टयाग का विधान भी यहाँ माना जा सकता है।

सिद्धान्त

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती का मत है कि 'वैश्वदेव०' वाक्य में

1. तै० ब्रा० 1/4/10
2. तै० सं० 1।8।2।
3. तत्र नामत्वपक्षे स्याद्वाक्यमेतदनर्थकम्,
   देवतातो विधेया स्यात् गत्यभावाद्विकल्पतो।" [शा० दी० पृ० 103]

गुण नहीं अपितु याग का नाम कहा गया है अर्थात् इस वाक्य में आग्नेयादि याग के देवता का विधान नहीं किया गया है, प्रत्युत इस याग समुदाय का नाम कहा गया है, क्योंकि यदि 'वैश्वदेव' पद को यागसमुदाय की संज्ञा मानते हैं, तो "**प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत**"[1], आदि वाक्यों से वैश्वदेव नामक याग समुदाय का ग्रहण भी सिद्ध हो जाता है।

यहाँ पर आग्नेयादि पदों के तद्धितान्त होने से प्रत्यक्ष श्रुति से ही द्रव्य एवं देवता की प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि 'साऽस्य देवता'[2], इस पाणिनि सूत्र से 'आग्नेय' आदि पद तद्धितान्त सिद्ध होते हैं। अतः श्रुतिविहित देवता की उपेक्षा करके प्रकरण प्राप्त 'वैश्वदेव०' वाक्य से देवता का विधान मानना अनुचित है। क्योंकि श्रुति से प्रकरण दुर्बल प्रमाण है[3], इसलिये उत्पत्तिशिष्ट अग्नि आदि देवता का वैश्वदेव देवता द्वारा बाध सम्भव नहीं है। यहाँ पर तद्धित से ही द्रव्य एवं देवता दोनों का विधान हो जाता है। इस कारण न तो मत्वर्थलक्षणा का अवसर है और न ही द्रव्य का देवता से सम्बन्ध कहने के लिये प्रकरण की अपेक्षा है। अतः यहाँ पर 'वैश्वदेव' पद में गुणविशिष्ट विधि नहीं कल्पित की जा सकती और न ही देवताविधि।[4]

वादी का यह कहना भी ठीक नहीं है कि अग्नि आदि देवताओं के साथ वैश्वदेव देवता का विकल्प हो सकता है, क्योंकि विकल्प सदैव समान बल वालों में होता है। उत्पत्तिशिष्ट देवता एवं उत्पन्नशिष्ट वैश्वदेव दोनों का विषय भिन्न होने से यहाँ पर विकल्प मानना संभव नहीं है। उत्पन्नशिष्ट 'वैश्वदेव' पद का द्रव्य अथवा देवता से सम्बन्ध श्रुति से प्राप्त नहीं है, किन्तु 'यज' के धात्वर्थ के साथ सामानाधिकरण्य होने से वैश्वदेव पद का याग के साथ सम्बन्ध सिद्ध होता है। आग्नेयादि पूर्वपठित वाक्यों में याग का श्रवण न होने के कारण वैश्वदेव नामक याग से आग्नेयादि याग-समूह की यागता भी सिद्ध होती है जबकि इनमें विकल्प मानने पर याग से इनका वैयधिकरण्य सिद्ध होगा।[5]

यहाँ पर 'वैश्वदेवेन यजेत' आदि वाक्यों से याग का 'वैश्वदेव्यामिक्षा' में

---

1. जिस देश में पश्चिम की अपेक्षा पूर्वभाग नीचा हो उसे 'प्राचीनप्रवण' देश कहते हैं। [मै० सं० 1/10/7]
2. अष्टा० 4/2/24
3. "प्रत्यक्षश्रुतिविहिता अग्न्यादयस्तेषां यागानाम्, विश्वदेवावाक्येन प्रकरणात् तेनैव नान्यनेति गम्यते। न चायं विषमशिष्टो विकल्पो भवितुमर्हति। न हि प्रकरणं श्रुतस्य द्रव्यस्य बाधने समर्थम्।" [सू० 1/4/14 का शा० भा०]
4. "गुणान्तरावरुद्धत्वात् नावकाश्यो गुणोऽपरः,
विकल्पोऽपि न वैषम्यात् तस्मान्नामैव युज्यते।" [तन्त्र० पृ० 309]
5. द्र०— जै० सू० 1/4/14

अनुवाद करके वैश्वदेव को गुणविधायक सिद्ध करना भी उचित नहीं है वस्तुतः दूरस्थ याग का अनुवाद करने की अपेक्षा यागसमुदाय का अनुवाद मानना अधिक उचित है, क्योंकि 'प्राचीन प्रवणे०' आदि वाक्यों द्वारा प्राप्त वैश्वदेव याग का विधान आठों हविर्यागों के बिना नहीं सिद्ध होता। अतः एक देशस्थ विश्वेदेव पद का 'छत्रिन्याय' से सभी यागों का नामधेयत्व सिद्ध होता है।

वैश्वदेवादि पदों की यागनामधेयता भी **'तत्प्रख्यन्याय'** से ही है, क्योंकि 'विश्वेषां देवानां समवायात्' इस विग्रह के अनुसार भी वैश्वदेव याग समुदाय की संज्ञा सिद्ध होता है। **"यद्विश्वेदेवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्~"**[1], यह अर्थवाद विश्वदेवों का यागों के साथ सम्बन्ध कहता है। यहाँ पर यह आवश्यक नहीं है कि गुण का प्रख्यापक शास्त्र मन्त्र अथवा विधिवाक्य ही हो। विधिवाक्यों का अङ्ग होने से अर्थवादवाक्य भी गुण का प्रख्यापक हो सकता है। अतः जिस प्रकार से **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** वाक्य का यागनामधेयत्व **"तानि वाव ज्योतींषि य एतस्य स्तोमाः"**[2], इस अर्थवाद से ज्ञात ज्योतिसम्बन्ध के कारण माना गया है। उसी प्रकार यहाँ भी विश्वेदेव देवताओं द्वारा आग्नेयादि यागों का अनुष्ठान जिस कारण किया गया है, उसी कारण ये याग वैश्वदेव कहे जाते हैं। वस्तुतः ये अर्थवाद याग की संज्ञा के निर्वचन रूप हैं। अतः वैश्वदेव पद भी तत्प्रख्यन्याय से ही याग की संज्ञा हैं। वार्तिककार ने भी **"तत्प्रख्यतैव सर्वेषां नामधेयत्वम्"**[3] इस कथन द्वारा वैश्वदेवादि के नामधेय मानने में 'तत्प्रख्यता' को ही हेतु माना है। अतः 'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व' नामक हेतु का यहाँ विषय ही नहीं है।[4]

जबकि नव्यमीमांसक खण्डदेव ने "उत्पत्तिशिष्टदेवताऽवरोधसहकृततत्प्रख्य -न्याय" से वैश्वदेव पद को यागकर्म की संज्ञा माना है, क्योंकि वैश्वदेव देवता केवल आमिक्षा याग में है। अतः यद्यपि वैश्वदेव केवल आमिक्षा याग में ही तत्प्रख्य न्याय से प्रवृत्ति का कारण बनता है, किन्तु छत्रिन्याय से सभी यागों का समुदाय रूप में यज द्वारा अनुवाद होने के कारण वैश्वदेव पद पूरे समुदाय का आश्रय बनता है। और **'वसन्ते वैश्वदेवेन यजेत'** आदि वाक्य से वसन्तादि के साथ सम्बन्ध के द्वारा चातुर्मास्य संज्ञा प्राप्त करता है। साथ ही चातुर्मास्य याग के फल से भी सम्बन्धित होता है। अतः वैश्वदेव पद आग्नेयादि आठ यागों के समूह की संज्ञा है, गुणविधायक नहीं है।

1. तै० ब्रा० 1/4/10/5
2. तै० ब्रा० 1/5/11/2
3. द्र०- वैश्वदेवाधिकरण का भाष्यवार्तिक पृ०- 310
4. 'तत्र यष्ट्टत्वयोगेन एकदेशदेवतात्वेन वा विश्वेषां देवानां समवायात् तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयं वैश्वदेवशब्दः।" [शा० दी० पृ०- 105]

नामधेय के भेद

नामधेयों की प्रवृत्ति के चार प्रमुख कारण हैं—1. मत्वर्थलक्षणा भय, 2.वाक्यभेद भय, 3. तत्प्रख्यता, 4. तद्व्यपदेश। जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नाङ्कित है-

1. यौगिक पदों का नामधेयत्व-मत्वर्थलक्षणा दोष से बचने के लिये माना गया है। जैसे— 'उद्‌भिदा यजेत' इस वाक्य में यदि यौगिक पद 'उद्‌भिद्' को याग का वाचक न मानकर उद्भेदन कार्य के साधनभूत गुण का विधायक मानेंगे तो यागकर्म का विधायक कोई अन्य वाक्य न होने से मत्वर्थलक्षणा की सहायता से 'उद्‌भिदा' पद में ही गुणविशिष्ट- कर्मविधि माननी होगी, किन्तु इसे याग की संज्ञा मानने पर मत्वर्थलक्षणा दोष नहीं प्राप्त होगा। अतः उद्‌भिदादि यौगिक पदों को मत्वर्थलक्षणा दोष से निवृत्ति के लिये याग की संज्ञा माना गया है।

2. चित्रादि रूढ़ पदों का नामधेयत्व-वाक्यभेद दोष की निवृत्ति के कारण माना गया है। जैसे—'चित्रया यजेत०' इस वाक्य में 'चित्रा' पद गुण का विधायक पद न होकर यागनामधेय है, क्योंकि यदि चित्रादि पदों को गुणवाचक मानकर उसका याग में विधान करें तो चित्रा के अनेक द्रव्यवाला होने से अनेक गुणों का एक साथ विधान मानना होगा। यहाँ यदि उत्पत्तिवाक्य से कर्म न प्राप्त होता तो अनेक गुणों का विधान एक साथ हो सकता था, किन्तु 'दधिमधु०' आदि वाक्य से प्राजापत्य कर्म पूर्व प्राप्त है। ऐसी दशा में चित्रत्व, स्त्रीत्व आदि अनेक गुणों का विधान करने पर विध्यावृत्ति करनी होगी, जिससे वाक्यभेद दोष प्राप्त होगा, जबकि चित्रा को प्राजापत्य कर्म की संज्ञा मानने पर यह दोष नहीं प्राप्त होगा। अतः विधिवाक्यगत चित्रा यागकर्म का नामधेय है। इसी प्रकार लोक में गुण एवं जाति के रूप में प्रसिद्ध आज्य, पृष्ठ आदि शब्द भी वेदगत उत्पत्तिवाक्यों में याग की संज्ञा के द्योतक हैं।

3. अग्निहोत्रादि योगरूढ पदों का नामधेयत्व—"तत्प्रख्यन्याय" से है। विधि को अभीष्ट जिस गुण को कहने वाला अन्य वाक्य विद्यमान हो वह वाक्य 'तत्प्रख्यशास्त्र' कहलाता है। जैसे—अग्निहोत्रं जुहोति- इस वाक्य में अग्निहोत्र पद को याग की संज्ञा मानने का निमित्त "तत्प्रख्यता" ही है, क्योंकि अग्निहोत्र को गुणविधि अथवा गुणविशिष्ट विधि मानकर वादी जिस देवता की प्राप्ति कराना चाहता है, वह अग्नि देवता 'अग्निर्ज्योतिः०' आदि मन्त्रवाक्य से प्राप्त हो रहा है। अतः अग्निहोत्र पद यागकर्म का ही वाचक है, गुणविधि का नहीं। इसी प्रकार 'आघारमाघारयति', 'समिधो यजति', 'वाजपेयेन

स्वाराज्यकामो यजेत', 'वैश्वेदेवेन यजेत' आदि वाक्यगत आघार, समित्, वाजपेय और वैश्वदेवादि पद भी तत्प्रख्यन्याय से याग की संज्ञा हैं।[1]

4. तद्व्यपदेश न्याय से नामधेयत्व—लोक में गुण के रूप में प्रचलित श्येनादि शब्दों की यागनामधेयता "तद्वयपदेश" निमित्त से है। जैसे—'श्येनेनऽभिचरन् यजेत' इस वाक्य में प्रयुक्त श्येन पद श्येन पक्षी रूप विशेष गुण का वाचक न होकर श्येनयाग का वाचक है, क्योंकि अर्थवाद वाक्य में 'यथा वै श्येनो०' आदि पदों के द्वारा लोक में प्रसिद्ध श्येन पक्षी के शत्रु आदान रूप गुण के सादृश्य से श्येनयाग की स्तुति की गई है। यदि विधिवाक्य गत श्येन को भी श्येन पक्षी का वाचक मानेंगे तो श्येन से श्येन की उपमा कैसे सिद्ध होगी, क्योंकि उपमेय और उपमान सदैव भिन्न पदार्थ में स्थित होते हैं। अतः विधिवाक्यगत श्येन पद को याग की संज्ञा मानने पर 'यथा वै०' आदि स्तुति वचन भी उपपन्न होंगे। श्येन पद याग का नामधेय "तद्वयपदेश न्याय" के कारण सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'संदंशेनऽभिचरन् यजेत', 'गवाऽभिचरन् यजेत' आदि वाक्य में प्रयुक्त संदंश, गो आदि पद दुरादानादि सादृश्य के व्यपदेश से याग के नामधेय पद सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार आचार्य जैमिनि से लेकर भाष्यकार कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र और मध्यकालिक आचार्य माधवाचार्यादि सभी मीमांसकों ने नामधेयों के चार भेद स्वीकृत किये हैं। इन चार भेदों के अन्तर्गत ही वेदवाक्य में प्रयुक्त सारे नामधेयपद संग्रहीत हो जाते हैं। अतः इनसे भिन्न उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वआदि कोई अन्य भेद निरवकाश है। इसलिये उक्त भेद को नामधेय के कारणं के रूप में स्वीकृत करना कल्पनागौरव मात्र है,[2] क्योंकि इसके द्वारा जिन पदों की नामधेयता सिद्ध की जाती है; उनका नामधेयत्व तत्प्रख्य हेतु से ही सिद्ध हो जाता है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि यागों के नाम का निर्धारक होने से विधिवाक्यगत नामधेय पदों की प्रयोजनवत्ता है। नामधेयपद 'यज' के धात्वर्थ से प्राप्त याग को अन्य यागों से पृथक् करने का कार्य करते हैं। उनका याग व्यावर्तन रूप कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यदि नामधेयपदों द्वारा इतर याग व्यावर्तन

---

1. मीमांसा में ऐसा कोई नियम नहीं है कि तत्प्रख्यशास्त्र विधिवाक्य ही हो। क्योंकि विधेय की स्तुति द्वारा अर्थवाद भी विधिवाक्यों के अङ्ग हैं तथा यागार्थस्मारकता के द्वारा मन्त्रवाक्य भी विधि के विनियोग कार्य में सहायक हैं। अतः तत्प्रख्यता विधि, मन्त्र या अर्थवाद किसी भी प्रकार की हो सकती है।
2. द्र०— मी० न्याय० पृ० 106।

रूप कार्य न किया जाता, तो विशेष फल की प्राप्ति कराने वाले भिन्न-भिन्न यागों के अनुष्ठान के प्रति पुरुष की प्रवृत्ति सम्भव न होती। इसके साथ ही किस फल की प्राप्ति के लिये कौन सा याग किया जाय, ऐसी व्यवस्था भी न होती। इस प्रकार नामधेय पद विधिविषय के व्यवस्थापक सिद्ध होते हैं। क्योंकि विधि के पुरुष प्रवर्तन रूप कार्य में यागनामधेय पद सहायक होते हैं, अतः नामधेयों पर अक्रियार्थता का आरोप भी नहीं सिद्ध होता। नामधेयपद यागविधि के विशेषण होने से विधि के अङ्ग हैं। इसलिये नामधेयों पर अक्रियार्थता का आरोप लगाने पर विधि की व्यर्थता सिद्ध होने लगेगी जो कि अप्रामाणिक है।

नामधेयपदों का याग के साथ सामानाधिकरण्य है। यह सामानाधिकरण्य याग एवं विधि के एकविभक्तिक होने से नहीं अपितु याग और नामधेयपदों की एकार्थवाचकता के कारण है। अतः नामधेयपदों का याग के साथ सामानाधिकरण्य ''वैश्वदेवी'' और ''आमिक्षा'' पदों की भाँति एक प्रवृत्तिनिमित्तता के कारण है।

नामधेय पदों का धर्म के प्रति प्रामाण्य स्वाध्याय-विधि से भी सिद्ध होता है, इसलिये नामधेयपदों को निरर्थक नहीं कहा जा सकता। नामधेयपदों को गुणविधि नहीं माना जा सकता, क्योंकि ज्योतिष्टोमादि पदों को गुणविधायक मानने पर मत्वर्थलक्षणा एवं वाक्यभेद आदि दोषों की प्राप्ति होगी, जिससे कल्पनागौरव प्राप्त होगा। उत्पत्तिवाक्यगत अग्निहोत्रादि पदों को इसलिये भी गुणविधि नहीं माना जा सकता, क्योंकि अग्नि आदि देवता गुण की प्राप्ति कराने वाला 'अग्निर्ज्योति०' आदि अन्य शास्त्र हैं। इसी प्रकार श्येनादि पदों की यागवाचकता उसके सादृश्य को कहने वाले अर्थवादवाक्यों से सिद्ध है। इसलिये उत्पत्तिवाक्यगत नामधेयपदों को गुणवाचक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः सारे नामधेय पदों की यागवाचकता मत्वर्थलक्षणा भय, वाक्यभेद भय, तत्प्रख्यन्याय एवं तद्व्यपदेश न्याय से सिद्ध है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यागविधि के विशेषण होने से नामधेयपद प्रयोजनवान् हैं। विधि के विशेषक होने के कारण ये ऋत्विक् वरण तथा पुरुष के यागानुष्ठान के संकल्प कार्य में भी सहायक हैं। विधि के विषय के व्यवस्थापक होने के कारण ये कर्तव्य रूप विधि भाग से भिन्न नहीं प्रत्युत विधि से अन्यतम हैं। वेदसम्प्रदाय में नामधेय वाक्य भी परम्परा से प्रमाण के रूप में प्राप्त हैं। अतः नामधेयवाक्य विधि के प्रवर्तन रूप कार्य में सहायक होने से धर्मरूपी प्रमिति की उत्पत्ति कराने में समर्थ हैं।



चतुर्थ अध्याय

निषेधवाक्य

निषेधवाक्य का स्वरूप और उपयोगिता

वेदवाक्यों का पञ्चम विभाग ''निषेधवाक्य'' है। इनके सम्बन्ध में सूत्रकार जैमिनि, शबरस्वामी, कुमारिल भट्ट से लेकर माधवाचार्य आदि अर्वाचीन मीमांसकों ने अपने ग्रन्थों में पर्याप्त चर्चा की है। पूर्ववर्ती मीमांसाचार्यों नें अर्थवाद आदि वेदवाक्यों की भाँति अलग अधिकरण के रूप में निषेध के विषय में विवेचन नहीं किया है जबकि प्रकरण ग्रन्थकारों विशेषतः आपदेव, लौगाक्षि-भास्कर, कृष्णयज्वा आदि ने वेदवाक्य विभाग के अङ्गभूत निषेधवाक्य के स्वरूप के विषय में स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है। प्रश्न यह है कि इन निषेधवाक्यों का स्वरूप क्या है? और ये किस प्रकार से पुरुषार्थ-प्राप्ति में साधन बनते हैं?

वस्तुतः ऐसे वेदवाक्य जो ''नञ्'' श्रुति से युक्त हैं और अनिष्ट के साधनभूत ब्राह्मण-हत्या आदि कर्मों से पुरुष को निवृत्त कराते हैं एवं पुरुष निवर्तन द्वारा पुरुषार्थप्राप्ति में सहायक बनते हैं, उन वाक्यों को मीमांसादर्शन में "निषेधवाक्य'' के नाम से जाना गया है। जैसे—**''न कलञ्जं भक्षयेत्" ब्राह्मणो न हन्तव्यः," "नानृतं वदेत्'', ''न सुरां पिबेत्''** आदि वाक्य। ऐसे वेदवाक्यों में प्रयुक्त 'नञ्'' श्रुति का अन्वय आख्यात प्रत्यय ''त'' के लिङ्त्वांश के साथ होता है, प्रातिपदिक अथवा धातु के साथ नही होता। यह नञर्थ जिसके साथ संयुक्त होता है उसके विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादक होता है। अतः जब यह प्रत्यय के लिङंश के साथ सम्बन्ध प्राप्त करता है, तो लिङ् के वाक्यार्थ ''प्रवर्तना'' के विरोधी ''निवर्तना'' रूप अर्थ का बोध कराता है किन्तु जिन स्थलों पर प्रत्यय के साथ नञर्थ का अन्वय करने पर भी अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं होती, अथवा कल्पना की बोझिलता बढ़ती हैं ऐसे स्थलों पर पर्युदास का सहारा लेकर लक्षणा द्वारा वाक्यार्थ-निर्णय किया जाता है और इस प्रकार पर्युदासपरक अर्थ द्वारा भी निषेधवाक्य पुरुषार्थ प्राप्ति में सहायक बनते हैं। जैसे ''एकादश्यां न भुञ्जीत'' आदि निषेध वाक्यों में; जबकि इसके विपरीत पूर्वपक्षी निषेधवाक्यों में प्रयुक्त नञ् को अभाववाचक मानकर उनके सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तिमूलक आक्षेप करते हैं, और उसकी पुष्टि के हेतु वे निम्नाङ्कित तर्क प्रस्तुत करते हैं —

पूर्वपक्ष-

1. निषेधवाक्य कर्तव्यार्थ का प्रतिपादन नहीं करते। अतः पुरुषार्थ प्राप्ति में उपयोगी न होने से वे व्यर्थ हैं।

2. निषेधवाक्यों में प्रयुक्त नञ् के अभावार्थक होने से नञ् के साथ धात्वर्थ का सम्बन्ध होने पर वे धात्वर्थाभाव का द्योतन करते हैं, और यदि आप सिद्धान्ती प्रत्ययार्थ से उसका अन्वय करेंगे तो भी वे प्रवर्तनाभाव का ही बोध करायेंगे। इस प्रकार क्रियार्थक न होने के कारण व्यर्थ होंगे।

3. निषेधवाक्य इसलिये भी निष्प्रयोजन हैं, क्योंकि वे न तो साक्षात् पुरुषप्रवर्तक हैं और न ही अर्थवाद आदि वाक्यों की भाँति विधि के अङ्ग होकर परम्परया प्रवर्तन में सहायक होते हैं। अतः धर्म के प्रति भी उनका प्रामाण्य सम्भव नही है।

4. यदि कथञ्चित् निषेधवाक्यों में प्रयुक्त नञ् श्रुति की प्रतिषेधकता मान भी लें तो ऐसे वाक्यों में जहाँ क्रियापद प्रयुक्त ही नहीं हैं, वहाँ उनका अन्वय किसके साथ मानेंगे? क्योंकि विधायक प्रत्यय के साथ संयुक्त हुए बिना "नञ्'' के द्वारा प्रतिषेध ही न हो सकेगा।

5. यद्यपि "नञ्" अनेकार्थवाची है,[1] तथापि निषेधवाक्यों में नञ् को अभाववाचक मानना ही अधिक उचित है, क्योंकि यदि इसके विपरीत इसे अनेक अर्थों का प्रतिपादन करने वाला मानेंगे तो यह व्यवस्था न रहेगी कि अमुक स्थल पर प्रयुक्त नञ् अभाव अर्थ वाला है या धात्वर्थ विरोधी है या किसी अन्य अर्थ का प्रतिपादन कर रहा है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी ''नञ्'' को ''निवृत्तिपदार्थक'' कहकर उसके अभावार्थक होने की पुष्टि की है। अतः अभाववाचक होने पर वह किसी क्रिया का बोध न करा सकने के कारण व्यर्थ है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ''नञ्'' का कार्य निषेधमात्र है। अतः वे कर्तव्यार्थ प्रतिपादक न होने के कारण व्यर्थ हैं। इसलिये धर्म के प्रति उनका प्रामाण्य नहीं है। इस प्रकार वेदगत निषेधवाक्य वाले भाग की अनित्यता सिद्ध होने से सम्पूर्ण वेद की पौरुषेयता एवम् अनित्यता सिद्ध हो जाती है।

---

1. क. "तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता,
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः।"
[नागेशकृत परमलघुमञ्जूषा नञर्थप्रकरण]
ख. ''तदन्यतद्विरुद्ध तदभावेषु नञ्।''

सिद्धान्त

पूर्वपक्षी के उक्त तर्कों का खण्डन करते हुए मीमांसकों ने निषेधवाक्यों का निम्नाङ्कित स्वरूप बताया है—

1. विधिवाक्यों की भाँति ही निषेधवाक्य भी पुरुषार्थप्राप्ति में सहायक हैं—जिस प्रकार विधिवाक्य किसी अन्य प्रमाण से अज्ञात स्वर्ग आदि अर्थों में उनकी प्राप्ति के साधनभूत यागादि क्रिया के प्रति पुरुष में प्रवर्तना उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार निषेधवाक्य अनिष्टकारी नरकादि दुःखों के साधनभूत कलञ्जभक्षण आदि कर्मों से पुरुष की निवृत्ति कराते हैं।[1] विधि का कार्य पुरुषं की यागादि कर्मों में प्रवर्तना है. जबकि निषेध का कार्य अनर्थकारी कर्मों से पुरुष-निवर्तना है।[2] विधिवाक्य अपने प्रवर्तकत्व की सिद्धि के लिये विधेय यागादि की इष्टसाधनता वर्णित करके पुरुष को उन याग, होम आदि कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। इसी प्रकार निषेधवाक्य अपने निवर्तना रूप कार्य की सिद्धि के लिये कलञ्जभक्षणादि निषेध्यपदार्थ की अनिष्टसाधनता का ज्ञान कराते हुए उनसे पुरुष को निवृत्त कराते हैं। यथा—**"स्वर्गकामो जुहोति"** आदि विधिवाक्य लिङ् लोट्, तव्य आदि विधायक प्रत्ययों की सहायता से प्रवर्तना के वाचक हैं, क्योंकि "विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्न प्रार्थनेषु लिङ्"— इस पाणिनि सूत्र से लिङादि की प्रवर्तना रूप शक्ति ज्ञात होती है। उसी प्रकार **"न कलञ्जं भक्षयेत्"**, **"ब्राह्मणो न हन्तव्यः"** आदि निषेधवाक्यों में "नञ्" के साथ पढ़े गये लिङ्, लोट् आदि विधायक प्रत्यय निवर्तना अर्थ के बोधक हैं। अनर्थकारी क्रियाओं के प्रति पुरुष का निवृत्त्यनुकूल व्यापार ही "निवर्तना" कहलाती है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विधि की भाँति निषेधवाक्य भी पुरुषार्थप्राप्ति में सहायक हैं, क्योंकि जिस प्रकार पुरुष स्वर्ग इत्यादि अभीष्ट फलों की प्राप्ति का इच्छुक होता है उसी प्रकार अनिष्ट फलों से बचना भी चाहता है। साधन ज्ञान के अभाव में वह यह निश्चय नहीं कर पाता कि किस साधन से वह अपने इष्ट की प्राप्ति में प्रवृत्त हो तथा अनिष्टकारी कर्मों से कैसे बचा जाये। वेदगत विधिवाक्य यागादि क्रियाओं का ज्ञान कराकर इष्टप्राप्ति के साधनस्वरूप कर्मों में प्रवृत्त होने में पुरुष की सहायता करते हैं। निषेधवाक्य भी दुःख के साधनभूत ब्राह्मणहत्या आदि कर्मों का ज्ञान कराकर पुरुष को उनसे निवृत्त कराते हैं। अतः निषेधवाक्य पुरुष में निषेध्य कर्मों के विषय में निवृत्तिबुद्धि उत्पन्न करने के कारण पुरुषार्थ

1. द्र०-मी० न्याय० पृ०- 106
2. "पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः। निषेधवाक्यानाम् अनर्थहेतुक्रियानिवृत्तिजनकत्वेनैव अर्थवत्त्वात्।" (अर्थ०-कौ० सहित पृ०-170)

प्राप्ति में सहायक होते हैं।[1]

2. निषेधवाक्यगत ''नञ्'' सदैव अपने से सम्बद्ध पदार्थ के विपरीतार्थ का बोधक होता है—निषेधवाक्यों में प्रयुक्त ''नञ्'' श्रुति की यह प्रकृति है कि वह सदैव अपने से सम्बद्ध प्रातिपदिक, धात्वर्थ अथवा क्रिया के विपरीत अर्थ का ही ज्ञान कराता है। जैसे- ''घटो नास्ति'' इस वाक्य में ''अस्ति'' के साथ ''नञ्'' का सम्बन्ध होने पर यह वाक्य घटसत्ता के विरोधी घटासत्त्व का ज्ञान कराता है। लिङ् का अर्थ प्रवर्तना है। **''न कलञ्जं भक्षयेत्''** आदि वाक्यों में ''नञ्'' श्रुति का सम्बन्ध लिङर्थ प्रवर्तना के साथ हो रहा है। अतः यह वाक्य ''प्रवर्तना'' के विरोधी ''निवर्तना'' का ही बोध करायेगा।

जिस प्रकार विधिवाक्य के श्रवण से ''यह मुझे प्रवृत्त कर रहा है''— इस प्रकार का प्रवर्तनारूप अर्थ ज्ञात होता है, उसी प्रकार निषेधवाक्य का श्रवण होने पर पुरुष को ''यह मुझे निवृत्त कर रहा है''—ऐसा निवर्तना रूप वाक्यार्थ-बोध होता है। निषेधवाक्य निवर्तनार्थक ही होते हैं। अतः ''न कलञ्जं०'' आदि निषेधवाक्यों के श्रवण से अनर्थ के साधनभूत कलञ्जभक्षणादि से निवृत्तिरूप वाक्यार्थबोध होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि ''नञ्'' लिङ् या आख्यात प्रत्यय के साथ सम्बन्ध प्राप्त करता है तो उसके विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है और यदि प्रतिपादिक अथवा धात्वर्थ के साथ संयुक्त होता है तो उसके विरोधी अर्थ का प्रतिपादक बनता है।

3. निषेध वाक्यों में प्रयुक्त 'नञ्' अभाव का वाचक न होकर निवर्तना का वाचक होता है—निषेधवाक्यों में प्रयुक्त "नञ्'' श्रुति अभाव की बोधक नहीं प्रत्युत निवर्तना की बोधक है। यद्यपि यह सत्य है कि ''नञ्'' की शक्ति अभाव में भी होती है, किन्तु यदि यहाँ पर उसका अभाव अर्थ मानेंगे तो अभीष्ट की सिद्धि न हो सकेगी। वस्तुतः यदि वह धात्वर्थ के साथ संयुक्त होगा तो वह धात्वर्थाभाव का बोध करायेगा। अभाव का विधान संभव न होने से वह विधेय भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि अभाव उपादेय अर्थात् पुरुष प्रयत्न साध्य नहीं हो सकता, अतः पुरुषकृतिसाध्यत्व न होने से उसमें विधायकता भी संभव नहीं होगी। यदि अभाववाचक मानकर ''नेक्षेत'' आदि में नञ् का अन्वय 'ईक्ष्'' आदि के धात्वर्थ के साथ करते हैं तो वह ईक्षणाभाव रूप अर्थ का प्रतिपादन करेगा और अभाव के विधेय न होने के

---

1. ''निषेधवाक्यश्रवणोत्तरं हि निवर्तनाविषयक शाब्दबोधे जाते तस्याः अयमस्मान्निवर्तताम् इत्याकारकत्वे लिङादिनिष्ठत्वादौ च पूर्ववदेवावगते कलञ्जभक्षणं मदनिष्टसाधनम् अयमस्मान्निवर्ततामित्याकारकव्यापार विषयाभावप्रतियोगिकृतिविषयत्वात् इत्यनुमितिर्जायते।''

(मी०न्याय०की सा०वि०पृ०-156)

कारण ईक्षणाभाव का विधान नहीं हो सकेगा। इसलिये नञ् के अभाववाचक होने पर भी धात्वर्थ के साथ उसका अन्वय होने पर कर्तव्यरूपता के प्रतिपादन के लिये लक्षणा से उसका ''तदन्यत्'' और ''तद्भिन्न'' अर्थ मानना ही अभीष्ट है।[1] अतः ''नञ्'' का ''तदन्यत्'' अर्थ मानकर "ईक्षेत" के साथ अन्वय करने पर ईक्षणाभावभिन्न संकल्प रूप अर्थ लक्षणा से प्राप्त होगा। वस्तुतः नञ् से जितने अर्थों की प्रतीति होती है, उन सभी अर्थों में नञ् की शक्ति विद्यमान है। यह अर्थ प्रतिपादन चाहे अभिधा से हो या लक्षणा से। अभिधा के द्वारा अभीष्ट सिद्धि न होने पर अगत्या लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है।

जिन स्थलों पर नञ् पर्युदास अर्थ वाला न होकर ''प्रतिषेध'' अर्थ वाला होता है अर्थात् जहाँ ''नञ्'' धात्वर्थ के साथ संयुक्त न होकर आख्यात पद के साथ संयुक्त होता है, वहाँ पर ''नञ्'' अभाव का बोधक न होकर निवृत्तिमात्र का बोधक होता है।[2] केवल विधि को प्रमाण मानने वाले मीमांसक भी नञ् की निवर्तना शक्ति को अस्वीकृत नहीं करते।

4. विधिवाक्यों की भाँति ही निषेधवाक्य भी अपूर्व-नियम एवं परिसंख्या रूप होते हैं—जिस प्रकार विधि अपूर्व-विधि, नियम-विधि एवं परिसंख्या तीन प्रकार की होती, उसी प्रकार निषेधवाक्य भी अपूर्वनिषेध, नियमनिषेध एवं परिसंख्या निषेध रूप होने से तीन प्रकार के होते हैं।[3]

1. किसी अन्य शास्त्रीय लौकिक वाक्य द्वारा जिनका निषेध पहले से न प्राप्त हो, वह ''अपूर्व निषेध'' कहे जाते हैं। जैसे- **''नातिरात्रे षोडषिनं गृहृणाति''** में षोडषीग्रहण का निषेध. **''न तौ पशौ करोति''** में पशुयाग में आज्यभाग प्राप्ति का निषेध एवं **''दीक्षितो न ददाति''** आदि वाक्यों में सोमदीक्षा प्राप्त पुरुष के लिये दान होमादि कर्मों का निषेध ''अपूर्वनिषेध'' के उदाहरण हैं।

2. जिस प्रकार ''व्रीहीन् अवहन्ति'' आदि नियमविधि स्वयं अवहनन आदि कर्मों में प्रवृत्त पुरुष के विषय में प्रवृत्त न होकर अन्य उपायों द्वारा तुषविमोचन में प्रवृत्त पुरुष को अप्राप्त अवहनन कर्म की प्राप्ति कराकर अप्राप्तांश की पूरक बनती है। उसी प्रकार ''नियमनिषेध'' भी निषिध्य पदार्थों में अप्रवृत्त पुरुष के प्रति नहीं प्रवृत्त होता। प्रत्युत रागतः ब्राह्मणहत्या आदि कर्मों में प्रवृत्त हुए पुरुष की **''ब्राह्मणो न हन्तव्यः''** आदि वाक्यों की सहायता से निषिध्य हननादि कर्मों से

---

1. द्र०-भाट्टदीपिका पृ०-99
2. यत्राख्यातसंयोगे नास्तिघटः नासीन्न भविष्यतीति वा निवृत्तिः प्रतीयते, तत्रापि न गत्यभावो नञः क्रियते, किन्त्वज्ञानसंशयविपर्ययमात्रनिवारणमिति।
[श्लोक० की न्याय रत्नाकर व्याख्या पृ०302]
3. द्र०मी० न्यायप्रकाश की सारविवेचनी पृ०- 157-68

निवृत्ति कराता है। यह कोई नियम नहीं है, कि निषेध वाक्य के श्रवण के बिना पुरुष निषिद्ध कर्मों से निवृत्त ही नहीं हो सकता। अपनी इच्छा से तथा अन्य स्मृति आदि प्रमाणों से भी वह इनसे निवृत्त हो सकता है तथापि उत्कट इच्छा के वशीभूत होकर जो पुरुष इन हननादि कर्मों में प्रवृत्त होता है, उनकी निवृत्ति कराने वाले निषेधवाक्य ''नियमनिषेध'' कहलाते हैं। **''न कलञ्जं भक्षयेत्''** आदि वाक्य इसके उदाहरण हैं।

3. जबकि सभी प्रकार के निषेधवाक्य **''सर्वत्र हि परिसंख्याशब्दाद् एवकाराद्वा नञश्रुत्या परिसंख्या नियमो वा अवबोध्यते''**[1] इस नियम के अनुसार नञ् श्रुति से युक्त होने पर परिसंख्यानिषेध होते हैं।

5. निषेधवाक्यगत ''नञ्'' का अन्वय लिङ्प्रत्ययवाच्य शाब्दी भावना के साथ होता है—निषेधवाक्यों में व्यवहृत ''नञ्'' श्रुति का अन्वय सदैव विधायक प्रत्यय ''त'' के लिङ्त्व अंश वाच्य शाब्दीभावना के साथ ही होता है। इसलिये वादी के द्वारा किया गया यह दोषारोपण ठीक नहीं है कि नञ् का अन्वय सदैव धात्वर्थ के साथ ही होने के कारण निषेधवाक्यों में धात्वर्थविषयक वर्जनबुद्धि ही क़र्तव्य रूप में प्राप्त होती है। यद्यपि ''नञ्'' श्रुति की धात्वर्थ के प्रति आसक्ति होने से धात्वर्थ के साथ उसका अन्वय संभव है, तथापि केवल आसक्ति अथवा अव्यवधान ही अन्वय के लिये आवश्यक नहीं है। अन्वय के लिये यह ज्ञान भी आवश्यक है कि जिसका जिसके साथ अन्वय हो रहा है- वह उसके प्रति विशेषण रूप में उपस्थित है या गौण रूप से। गौण रूप में उपस्थित पदार्थ का अन्य पदार्थ के विशेषण के रूप में अन्वय नहीं हो सकता, प्रत्युत जो जिसका विशेषण है वह उस के साथ अन्वित होता है।[2]

यथा ''राजपुरुषमानय'' वाक्य में ''राजा'' पद ''पुरुष'' का विशेषण है इसलिये उसका अन्वय ''पुरुष'' के साथ ही होगा। इसी प्रकार ''आनय'' क्रिया के साथ राजा का अन्वय नहीं हो सकता; अपितु ''ले आना'' के साथ पुरुष का ही अन्वय होगा, क्योंकि पुरुष ही क्रिया के प्रति मुख्य रूप से प्राप्त है। अतः **''नहि अन्योपसर्जनमन्येनान्वेति''** इस न्याय के अनुसार ''न कलञ्जं भक्षयेत्'' आदि निषेधवाक्यों में प्रयुक्त ''नञ्'' का अन्वय ''भक्ष्'' के धात्वर्थ के साथ नहीं होगा, अपितु भक्षणक्रियागत ''त्'' प्रत्यय के साथ ही होगा। इस प्रकार व्यवधान न होने पर भी ''नञ्'' का अन्वय धात्वर्थ के साथ नहीं हो सकता, क्योंकि धात्वर्थ प्रत्ययार्थ के प्रति गौण होता है।

---

1. द्र०- कुमारिल भट्ट कृत तन्त्रवार्तिक पृ०-59
2. ''अव्यवधानेऽपि धात्वर्थस्य प्रत्ययार्थोपसर्जनत्वेन उपस्थितस्य नञर्थेनान्वयायोगात्। न ह्यन्योपर्जनमन्येनान्वेति। यतः मा भूद् राजपुरुषमानय इत्यत्र राज्ञ आनयनान्वयित्वम्।'' (मी० न्याय० पृ०-107)

वाक्यार्थ अन्वय में एक अनुयोगी और दूसरा प्रतियोगी होता है। जिसका अन्वय किया जाता है वह अनुयोगी पदार्थ और जिसमें अन्वय किया जाता है वह प्रतियोगी पदार्थ कहा जाता है। यहाँ ''न कलञ्जं भक्षयेत्'' आदि वाक्यों में **'नञ्''** अनुयोगी और **''धात्वर्थ''** (भक्षण) प्रतियोगी है। तथापि प्रतियोगी के रूप में उपस्थित धात्वर्थ के भावना का विशेषण होने से नञर्थ का अन्वय धात्वर्थ के साथ संभव नहीं है, क्योंकि धात्वर्थ ''त'' प्रत्ययगत भावना के प्रति गौण है।

इस ''त'' के भी दो धर्म है ''आख्यातत्व'' और ''लिङ्त्व''। इनमें आख्यातत्व अंश लिङ्त्व अंश के प्रति गौण है, जबकि लिङ्त्व अंश किसी के प्रति गौण नहीं होता। यही आख्यातत्व और लिङ्त्व क्रमशः आर्थीभावना और शाब्दीभावना के नाम से मीमांसाशास्त्र में व्यवहृत होते हैं।

इस प्रकार प्रधान होने के कारण शाब्दीभावना के साथ ही निषेध वाक्यगत नञ् का अन्वय होता है। आर्थीभावना अथवा धात्वर्थ के साथ नहीं। नञर्थ का धात्वर्थ के साथ अन्वय उसी प्रकार नहीं हो सकता जिस प्रकार द्रव्य के वाचक ''एकहायनी'' के साथ गुणवाचक ''आरुण्य'' का अन्वय नहीं हो सकता। ज्योतिष्टोम याग में **''अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति''** इस वाक्य से लाल वर्ण एवं पिङ्गल नेत्रों वाली एक वर्षीय गौ से सोमक्रयण का विधान किया गया है। इस वाक्य में प्रयुक्त ''एकहायनी'' पद के गो द्रव्य का वाचक होने से यद्यपि आरुण्य गुण का उसके साथ अन्वय हो सकता था, क्योंकि द्रव्य के साथ गुण का अन्वय होता है, तथापि ''कारक'' की अपेक्षा ''एकहायनी'' पद के गौण होने से उसमें आरुण्य का अन्वय नहीं होता। इसी प्रकार गौण होने से धात्वर्थ के साथ नञ् का सम्बन्ध नहीं हो सकता। यहाँ वादी का यह तर्क भी उचित नहीं है कि ''नञ्'' का अन्वय धात्वर्थ के साथ भले ही न हो किन्तु ''कलञ्ज'' आदि पदों के साथ तो हो ही सकता है। वस्तुतः जिस प्रकार आरुण्य गुण का अन्वय एकहायनी गो द्रव्य के साथ न होकर ''क्रीणाति'' के आख्यात प्रत्यय के साथ होता है, क्योंकि **''प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्यात्''** इस नियम से तथा **''परिपूर्णं पदं पदान्तरेणान्वेति''** आदि के अनुसार प्रत्यय के ही प्रधान होने से वाक्य में उपस्थित सभी पदों का अन्वय प्रत्ययार्थ के साथ ही होता है। इसी प्रकार ''न कलञ्जं भक्षयेत्'' आदि वाक्यों में प्रयुक्त ''नञ्'' पदार्थ का अन्वय ''त्'' प्रत्यय के लिङ्त्वांशवाच्य प्रवर्तना के साथ ही होगा, न कि कलञ्जादि पदार्थों के साथ। वस्तुतः कलञ्ज आदि सभी पदार्थ भावना के प्रति गौण ही है मुख्य नहीं।[1]

1. द्र०-मी० न्याय० पृ०-107

अतः जैसे क्रयभावना के साथ ही आरुण्य आदि पदों का अन्वय होता है, वैसे ही इस निषेधवाक्य में भी "भक्षणभावना" के साथ ही नञर्थ का अन्वय होगा। अन्य कारक पदों के साथ अन्वय नही होगा, क्योंकि कारक पद क्रियागत प्रत्यय के प्रति गौण होते हैं, और वाक्य में विधायक प्रत्यय ही प्रधान होता है।

6. निषेधवाक्यों का कार्य विधिवाक्यों से भिन्न है—मीमांसा शास्त्र में विधि एवं निषेध दोनों एक दूसरे के विपरीत अर्थ वाले हैं। जहाँ विधिवाक्यगत लिङादि प्रवर्तना रूप अर्थ देते हैं, वहीं निषेध वाक्यों में नञ्विशिष्ट लिङ् सदैव निवर्तना अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं। अतः वादी का यह तर्क भी युक्त नहीं है कि निषेधवाक्य में हनन आदि विषयक वर्जनबुद्धि के कर्तव्य के रूप में प्राप्त होने से तथा विधिवाक्यों में यागादिविषयक प्रवृत्तिबुद्धि के कर्तव्य रूप में प्राप्त होने के कारण, क्योंकि दोनों स्थलों पर कर्तव्यता ही प्रतिपादित की जाती है; इसलिये विधि एवं निषेध की एकार्थता सिद्ध होती है।

इसका निरास करते हुए सिद्धान्ती का कहना है कि जिस प्रकार लोक में ब्राह्मणहत्या और अश्वमेध याग कर्म में महान् भेद देखा गया है, उसी प्रकार वेदगत विधिवाक्य एवं निषेधवाक्य में भी महान् अन्तर है।[1] विधि एवं निषेध के अन्तर को बताते हुए "न्यायसुधाकार" ने कहा है कि विधि एवं निषेध-विषयक फल, प्रमा, प्रमेय, अधिकारी एवं बोधक प्रत्ययादि के भेद से ही इन दोनों का अत्यन्त भेद सिद्ध होता है। जहाँ निषेध वाक्यों का फल नरकादि दुःखकारी अनिष्ट फल से पुरुष की निवृत्ति है, वहीं विधिवाक्यों का फल स्वर्ग, पुत्र आदि अभीष्ट फलों की प्राप्ति विषयक ज्ञान कराना है। विधिवाक्यों के श्रवण से पुरुष में "मैं इस कार्य में प्रवृत्त होऊँ" ऐसी प्रवृत्ति विषयक बुद्धि उत्पन्न होती है। निषेधवाक्यों के श्रवण से ब्राह्मणहत्यादि निषेध्य कर्मों के प्रति "मैं इससे निवृत्त होऊँ" ऐसी निवृत्तिबुद्धि पुरुष में होती है। विधि का प्रमेय यागादि क्रियागत इष्टसाधनता है, तो निषेध का प्रमेय कलञ्जभक्षण एवं चौरकर्मादिगत अनिष्टसाधनता है। विधि के विधेयभूत यागादि में स्वर्गादि की इच्छा से युक्त पुरुष अधिकारी होता है। रागादि से प्रवृत्त पुरुष ही निषेध्य विषयों में अधिकारी होता है। विधिवाक्यों में नञ्रहित लिङ्, लोट्, तव्य आदि प्रत्यय यागादि की इष्टसाधनता का ज्ञान कराने के साधन हैं; जबकि निषेधवाक्यों में नञ्युक्त लिङादि प्रत्यय निषेध्य विषयों की अनिष्टसाधनता का ज्ञान कराते हैं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि

---

1. जैसी कि उक्ति भी है-
"अन्तरं यादृशं लोके ब्रह्महत्याश्वमेधयोः
दृश्यते तादृशं वेदे विधानप्रतिषेधयोः।" (बृहट्टीका से उद्धृत)

निषेधवाक्य विधि से भिन्न स्वरूप वाले हैं।[1]

विध्यर्थ को ही प्रमाण मानने वाले मण्डनमिश्र आदि मीमांसकों के अनुसार जिस प्रकार पुरुष विधि द्वारा इष्टसाधनता के ज्ञान से प्रवृत्त होता है, वैसे ही निषेधस्थलों में पुरुष नञ्सहित विधि से ज्ञात अनिष्टसाधनता से निवृत्त भी होता है। इस प्रकार निषेधवाक्यों में नञ् सदैव प्रत्ययार्थ लिङ्त्व के साथ अन्वित होता हुआ निवर्तना रूप वाक्यार्थबोध कराता है।[2] अतः विधि को ही प्रमाण मानने वाले मीमांसक भी नञ् की निवर्तनाशक्ति को अप्रमाणिक नहीं करते।

पूर्वपक्षी के मतानुसार निषेधवाक्यों में व्यवहृत "नञ्" को यदि निषेधवाचक न मानकर सिद्धान्ती को अभिमत पर्युदास अर्थ लेते हैं, तो स्वार्थवृत्ति को छोड़कर लक्षणा का आश्रय लेना पड़ेगा, जो कि जघन्यवृत्ति है। अतः नञ् श्रुति का प्रयोजन निषेध ही है, पर्युदास नहीं है।[3]

यदि सिद्धान्ती यह कहे कि नञर्थ को निषेधवाचक मानने पर "नानुयाजेषु०" आदि निषेध वाक्यों में प्रयुक्त नञ् का प्रतिषेध अर्थ लेने पर विकल्प प्रसक्ति होगी, तो उसका समाधान यह है कि एक पक्ष की प्राप्ति होने पर भी दूसरे पक्ष की निवृत्ति तो होगी ही। अतः विकल्प भी अनुचित नहीं है।[4]

नञ् को पर्युदासपरक मानने में एक दोष यह भी है कि "नित्यो ह्यस्य न शब्दस्य सुबन्तसम्बन्धेन समासः इस वार्तिक के नियम से "नञ्" का अनुयाज पद के साथ नित्य समास प्राप्त होगा। जिससे "नानुयाजेषु" की वाक्यरूपता भङ्ग हो जायेगी और ऐसी दशा में निषेधवाक्यगत नञ् श्रुति की व्यर्थता सिद्ध होगी, क्योंकि यहाँ पर्युदास तो तब होता जब "अननुयाजेषु" ऐसा नित्य समास यहाँ माना जाता। यदि नञ् का अनुयाज के साथ नित्य समास न करके क्रियापद के साथ सम्बन्ध किया जायेगा तो प्रतिषेध अर्थ होने से "नानुयाजेषु" वाक्य व्यर्थ नहीं होगा।

यदि इन वाक्यों में प्रयुक्त नञ् को निषेधपरक नहीं मानना चाहते तो "नहिनिन्दान्याय" से इनका प्रशंसापरक अर्थ लेकर इन्हें अर्थवादवाक्य माना जा सकता है। ऐसा करने से इन वाक्यों की विधि के अङ्ग रूप से क्रियार्थता भी सिद्ध हो जायेगी।

---

1. "फलबुद्धिप्रमेयाधिकारिबोधकभेदतः,
पञ्चधाऽत्यन्त भिन्नत्वात्भेदो विधिनिषेधयोः।" (न्याय०पृ०-- 108)
2. द्र०-मी० न्यायप्रकाश-पृ० 108
3. तत्र श्रुत्यर्थलाभाय प्रतिषेधोऽन्यथा पुनः पदद्वयमपि ह्यन्यपरत्वात् लक्षणा व्रजेत्।" ['शा० दी० पृ०-463]
4. "प्रतिषेधः प्रदेशेऽनारभ्यविधाने च प्राप्तप्रतिषिद्धत्वात् विकल्पः स्यात्।" (जै०सू० 10/8/1] एवं टुप्टीका पृ० 28

पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त आरोपों का खण्डन सिद्धान्ती के निम्नलिखित तर्कों से स्वयं हो जाता है—

7. नञर्थ का अन्वय प्रत्ययार्थ के साथ संभव न होने पर अगत्या आख्यात भिन्न पदों के साथ भी अन्वय होता है—वेद में कतिपय ऐसे स्थल भी हैं, जहाँ निषेधवाक्यों में प्रयुक्त "नञ्" का अन्वय प्रत्ययार्थ के साथ नहीं संभव होता। क्योंकि प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय में विकल्प आदि की प्राप्ति होने लगती है, ऐसी स्थिति में नञर्थ का अन्वय लिङ्त्व-वाच्य शाब्दीभावना के साथ न होकर धात्वर्थ एवं प्रातिपदिक पदों के साथ होता है। नाम एवं धातु के साथ संयुक्त नञ् निषेधक नहीं होता, क्योंकि निषेध रूप अर्थ तो नञ् के भावना के साथ अन्वित होने पर ही प्राप्त होता है।[1] जैसे—**नानुयाजेषु**", "**नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं**", "**न होतारं वृणीते नार्षेयम्**" आदि निषेधवाक्य में। इन वाक्यों में नञ् का तात्पर्य धात्वर्थाभाव न होकर तद्भिन्नता होती है। ऐसे वाक्यों में नञर्थ के प्रत्ययार्थ के साथ अन्वित होने में कतिपय बाधक स्थितियाँ प्राप्त होती हैं। जिसके निवारण के लिये नञ् का अन्वय अगत्या प्रातिपादिक या धातु के साथ करना पड़ता है।

शाब्दीभावना के साथ नञर्थ के अन्वय में दो बाधक हेतु हैं— 1. "तस्य व्रतम्" रूप उपक्रम 2. विकल्प-प्रसक्ति। जिन निषेधस्थलों में इन दोनों में से कोई भी बाधक हेतु प्राप्त होने लगता है, वहाँ वाक्यार्थ-निर्णय के लिये पर्युदास की सहायता ली जाती है। इन बाधकों से रहित अन्य निषेधवाक्यों में लिङ् के साथ अन्वित नञर्थ निषेधरूप होता है। इसलिये नञ् के दो अर्थ मीमांसामत में स्वीकृत हैं— 1. पर्युदास निषेध 2. प्रतिषेध या अत्यन्त निषेध

1. पर्युदास का स्वरूप

जिन निषेधस्थलों में विध्यर्थ मुख्य होता है और निषेध गौण होता है वहाँ पर्युदास होता है। ऐसे स्थलों में नञर्थ का अन्वय प्रातिपदिक अथवा धात्वर्थ के साथ होता है।[2] पर्युदास स्थल में अर्थ-निर्णय के लिये लक्षणा की सहायता ली जाती है, क्योंकि अभिधा वृत्ति से प्राप्त अर्थ वहाँ सङ्गत नहीं होता। जैसे-"**नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्**" इस वाक्य में नञर्थ का अन्वय "ईक्ष" धातु के साथ होने पर लक्षणा द्वारा ईक्षणाभावभिन्न संकल्प अर्थ लिया जाता है।

इस प्रकार यहाँ पर निषेध मुख्य नहीं है प्रत्युत संकल्प पालनरूप कर्तव्य ही मुख्य है।[3] अतः पर्युदास में विध्यर्थ की मुख्यता कही जाती है। इसी

1. "विधायकैरसंयुक्तो न हि नञ् प्रतिषेधकः" ('श्लोक॰, वाक्याधिकरण श्लोक-308)
2. "पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्" (हरिकारिका)।
3. "ईक्षणव्यतिरिक्ता हि क्रियातत्राप्यपेक्षिता

प्रकार **"यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु"** इस निषेधवाक्य में "नञ्" श्रुति का अनुवाद "करोति" इस क्रिया के साथ न होकर "अनूयाज" प्रातिपदिक के साथ होता है। यहाँ भी "नञ्" कर्तव्यनिषेधक नहीं है प्रत्युत अनूयाजभिन्न यागों में "ये यजामह" का उच्चारण करना चाहिए- इस प्रकार की कर्तव्य-रूपता ही नञ् के मुख्यार्थ के रूप में प्राप्त होती है।

वार्तिककार ने भी कहा है कि नाम एवं धात्वर्थ के साथ संयुक्त होने वाला "नञ्" वैसे ही निषेधार्थक नहीं होता, जैसे अब्राह्मण, अधर्म आदि पदों में नञ् द्वारा मुख्यार्थ ब्राह्मणत्वरहित क्षत्रियादि की तथा धर्म के विरोधी अधर्म की प्रतीति होती है। अतः नञ् अपने से सम्बद्ध धातु एवं नाम के विरोधी अर्थ की प्रतीति कराता है।[1] इस प्रकार पर्युदास वस्तुतः निषेध न होकर प्रच्छन्न रूप विधि ही है।

2. प्रतिषेध का स्वरूप

जिन निषेधस्थलों में नञर्थ का अन्वय आख्यात अर्थात् क्रियापद के साथ होता है वहाँ प्रतिषेध होता है।[2] ऐसे वाक्यों में नञर्थ ही प्रधान होता है और प्रत्ययार्थ गौण होता है; यह शुद्ध निषेध है। जैसे—"ब्राह्मणो न हन्तव्यम्" इस वाक्य में "नञ्" श्रुति का अन्वय क्रियापद के साथ होने से ब्राह्मण हननकर्म से पूर्णतया निवृत्ति ही यहां पर वाक्यार्थ है। प्रतिषेधवाक्यों में नञर्थ सदैव भावना के साथ सम्बद्ध होता है। भावना वस्तुतः क्रिया की प्रतिपादिका है। **"नानृतं वदेत्"**, **"न स्तेयात्"** **"न कलञ्जं भक्षयेत्"** आदि वाक्य भी निषेध के ही उदाहरण हैं।

वार्तिककार का कहना है कि आख्यात के साथ अन्वित नञ् निषेध का ही वाचक है। यह अन्वय "त" आदि प्रत्ययों के आख्यात और लिङ्त्व किसी भी अंश से सम्बन्धित हो सकता है, किन्तु दोनों ही स्थितियों में वह निषेध का ही वाचक होता है। ऐसे निषेधों द्वारा पुरुष की अनिष्टफलकारी कर्मों से निवृत्ति ही निषेधवाक्यों का प्रयोजन है।

8. "नेक्षेतोद्यन्तम्०" आदि वाक्यों में नञ् के प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय में "तस्यव्रतम्" यह उपक्रम बाधक है—"नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्"[3] आदि स्मृतिवाक्यों में नञर्थ का क्रिया के साथ अन्वय करने में "तस्यव्रतम्" यह

प्रत्यासत्तेर्न संकल्पमतिक्रम्य प्रतीयते।" ('श्लोक० अपोहवाद-श्लोक32)

1. "नामधात्वर्थयोगी तु नैव नञ्प्रतिषेधकः वाक्यः
   वदतोऽब्राह्मणधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ।" (श्लोक० अपोहवाद श्लोक-33)
2. "प्रतिषेधः स विज्ञेयः क्रियया सह यत्र नञ्।" (हरिकारिका)
3. अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विज
   स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानि इमानिधारयेत्।" (मनु० 4-13)

उपक्रम बाधक है। मनुस्मृति में **"व्रतानि इमानि धारयेत्"**[1] आदि के द्वारा स्नातक के अनुष्ठेय कर्मों का संकल्प करने के पश्चात् "नेक्षेत०" आदि वाक्य पढ़े गये हैं। यहाँ क्योंकि निषेधवाक्य के पाठ के पूर्व ही स्नातक के कर्तव्य रूप व्रत का संकल्प लिया गया है। इसलिये यदि इस वाक्य में प्रयुक्त "नञ्" श्रुति का अन्वय भावना के साथ करेंगे तो प्रारम्भ में व्रत के रूप में किया गया संकल्प व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि "ऐसी दशा में उगते हुए सूर्य को नहीं देखना चाहिए" यह वाक्यार्थ प्राप्त होगा; जो कि उपक्रम का विरोधी है। वस्तुतः प्रकरण के प्रारम्भ में ही स्नातक के व्रतों का संकल्प लिया गया है। अतः इस वाक्य में उपक्रम से सङ्गति के लिये "धात्वर्थ" के साथ नञ् का अन्वय करके पर्युदास के आश्रय से वाक्यार्थ करने पर अभीष्ट की सिद्धि होगी और लक्षणा से "आदित्यविषयक अनीक्षण संकल्प" स्नातक के कर्तव्य के रूप में प्राप्त होगा। क्योंकि नञ् का धात्वर्थ के साथ संयोग होने पर नञ् अपने स्वभाव के अनुसार ईक्षणविरोधी अर्थ देता है और पर्युदास लक्षणा से ईक्षण विरोधी अनीक्षण का संकल्प ही अनुष्ठेय के रूप में प्राप्त होता है, धात्वर्थ के साथ सम्बद्ध "नञ्" प्रतिषेध अर्थ वाला नहीं होता। अतः धात्वर्थ के साथ अन्वय करने पर "तस्य व्रतम्" रूप उपक्रम एवं "नेक्षेत०" आदि वाक्यों में कोई विरोध भी नहीं होगा और उनकी एकवाक्यता भी सिद्ध होगी।[2] अतः स्नातक में "मैं उदित होते हुए सूर्य को नहीं देखूँगा" आदि रूप संकल्पबुद्धि उत्पन्न होगी।

यद्यपि मनुस्मृति में कहे गये ये वाक्य उदाहरण की भाँति प्रतीत होते हैं, तथापि प्रारम्भ में **"तस्य व्रतम्"** ऐसा उपक्रम और अन्त में **"एतावता हैनसा वियुक्तो भवति"** आदि अर्थवादरूप वाक्य प्राप्त होने से इन वाक्यों की पारस्परिक आकांक्षा ही सिद्ध होती है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि यहाँ पर कर्तव्य विधान को स्वीकार न करके प्रतिषेध रूप अर्थ लेंगे तो पूर्ववाक्य की साकांक्षता नष्ट हो जायेगी। इसके साथ ही सांकाक्ष वाक्यों की प्रमाणरूपता न मानने पर "गौः, अश्वः, पुरुषो, हस्ती" आदि निराकांक्ष पदों की वाक्यरूपता प्राप्त होगी। ऐसी दशा में **"साकांक्षं वाक्यं प्रमाणम्"** आदि नियम भी व्यर्थ सिद्ध होंगे।

निष्कर्ष यह है कि यदि हम "नेक्षेत०" आदि वाक्यों में "नञ्" का

1. "नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन
नोपसृष्टो न वारिस्थो न मध्यं नभसोगतम्।" (मनु० 4-37)
2. "त्रेधा हि नञो वृत्तिः पर्युदासअभावप्रतिषेधैः। तद्यत्राब्राह्मणाऽनीक्षणादौ नामधात्वर्थाभ्यां युज्यते। तत्र ब्राह्मणेक्षणवस्त्वन्तरपर्युदस्तं क्षत्रियानीक्षणसंकल्पाख्यं वस्त्वेव नञा प्रतिपाद्यते। तच्च वस्त्वन्तरपर्युदसनं वस्त्वन्तरस्यानुगुणम्।"
(श्लोक० की न्याय रत्नाकर टीका पृ०-655)

प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय मानेंगे तो कर्तव्य रूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी। अतः यहाँ "नञ्" का धात्वर्थ के साथ सम्बन्ध प्रतिपादित करना ही अभीष्ट हैं, क्योंकि ऐसा होने पर नञ् का प्रतिषेध रूप अर्थ नहीं होगा।[1] प्रतिषेध तो वस्तुतः वहाँ होता है जहाँ "नञ्" का सम्बन्ध विधायक प्रत्यय के साथ हो। नाम एवं धातु के विधायक न होने के कारण इनसे सम्बद्ध नञ् प्रतिषेधक नहीं वरन् पर्युदासपरक होगा।[2]

"नेक्षेत०" आदि वाक्यों में प्रयुक्त नञ् अभाव का वाचक नहीं अपितु ईक्षण विरोधी अनीक्षण संकल्प का बोधक है, क्योंकि अनीक्षण ही धात्वर्थ का विरोधी है। यहाँ यद्यपि ईक्षण विरोधी अन्य पदार्थ भी हो सकते थे, तथापि वस्त्र द्वारा नेत्र ढँकना आदि अन्य साधनों का ईक्षण क्रिया के साथ अविनाभूत सम्बन्ध नहीं है; जबकि मानसिक संकल्प प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप सभी क्रियाओं का अविनाभावि-सम्बन्धी है। अतः यहाँ कर्तव्य के रूप में संकल्प ही प्राप्त होता है।[3]

इस प्रकार पर्युदासलक्षणा का सहारा लेने पर "स्नातक आदित्यविषयक अनीक्षण संकल्प द्वारा फलभावित करे" यह वाक्यार्थ प्राप्त होता है। "एतावता हैनसा वियुक्तो भवति" यह निषेधशेषरूप अर्थवाद भी पापक्षय रूप फल का ज्ञान कराते हुए "नेक्षेत" आदि निषेध के साथ एकवाक्यता प्राप्त करता है।

9. "नानुयाजेषु०" आदि वाक्यों में विकल्प प्राप्ति के भय से नञ् का प्रत्ययार्थ से सम्बन्ध नही किया जाता—दर्शपूर्णमास के अनारभ्य प्रकरण में **"यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु"**[4] यह निषेधवाक्य पठित है। वहीं पर **"आश्रावय"** यह चार अक्षर **"अस्तु श्रौषट्** यह चार अक्षर, **"यज"** रूप द्वयक्षर एवं **"ये यजामह"** यह पञ्चाक्षर **"वौषट्"** रूप दो अक्षर-यह सत्रह प्रजापति के यज्ञ कहे जाते हैं[5]- पठित हैं। दर्शपूर्णमास याग में अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता एवम् आग्नीध्र ये चार ऋत्विज् हैं। "यजेत" के प्रेरणा अंश से प्रेरित होकर जिस समय अध्वर्यु हविपूर्ण जुहूपात्र को हाथ में लेकर आग्नीध्र को प्रैष देता है—**"आश्रावय"** अर्थात् मैं देवता के लिये हवि ग्रहण कर रहा हूँ, तुम देवता को सुनाओ, तब आग्नीध्र कहता है कि "अस्तु श्रौषट्" अर्थात् मैं देवता को

1. द्र०-मी० न्यायप्रकाश पृ०- 109
2. द्र०—अर्थसंग्रह कौमुदी सहित पृ० 176-77
3. "तत्र न तावद् धात्वर्थो विधातुं शक्यते, न तदभावबोधनात् नापि तदभावो विधातुं शक्यते, अभावस्याविधेयत्वात्। अतश्च नञीक्षतीभ्यां विधानयोग्यः कश्चनेक्षण-विरोधी अर्थो लक्षणया प्रतिपाद्यते।" (मी०न्याय० पृ०-110)
4. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 24/13/5
5. तै० सं० 1/6/11

सुना रहा हूँ। इसके पश्चात् वह "अग्निं यज," "सोमं यज" आदि द्वारा हवि जिसे दी जा रही है, उस देवता के नाम का द्वितीयान्त उच्चारण करता हुआ अन्त में **"यज"** ऐसा पाठ करता है। इस वाक्य के द्वारा प्रेरित हुआ होता सोमादि देवता युक्त मंत्र के उच्चारण के पूर्व **"ये यजामहे"** शब्द का उच्चारण करके याज्यामन्त्र को पढ़ता है अर्थात् अध्वर्यु से प्रेरित होकर हम याज्यामन्त्र को पढ़ रहे हैं। इस मन्त्र के पाठ के बाद अन्त में होता **"वौषट्"** शब्द का उच्चारण करता है। इसी समय अध्वर्यु हवि का अग्नि में प्रक्षेप करता है और यजमान भी **"अग्नये इदं न मम"** आदि उच्चारण करता हुआ हवित्याग करता है। इस प्रकार इस अनारभ्याधीत वाक्य में यागसामान्य को उद्देश्य करके "ये यजामह" का विधान किया गया है।[1]

"यज" धातु से विहित सभी यागों में "आश्रावय" से लेकर "वौषट्" पर्यन्त मन्त्र उच्चरित हैं। इसका विधायक वाक्य है "यजतिषु ये यजामहं करोति"; किन्तु "नानूयाजेषु" यह निषेध वाक्य अनूयाजयागों में "येयजामह" के उच्चारण का निषेध करता है। दर्शपूर्णमास याग में तीन अनूयाजयाग विहित है।

इस निषेधवाक्य में यदि लिङ् के साथ नञ् श्रुति का अन्वय करेंगे तो अनूयाजयागों में "ये यजामह" के उच्चारण का निषेध प्राप्त होगा जो कि युक्त नहीं है। यदि यहाँ किसी प्रकार निषेध स्वीकार भी कर लें तो विधि एवं निषेधवाक्यों में विकल्प प्राप्त होने लगेगा, क्योंकि विकल्प आठ दोषों से युक्त है; अतः इस दोष से बचने के लिये नञ् का अन्वय भावना के साथ न करके "अनूयाज" इस प्रातिपदिक के साथ किया जाता है। ऐसी दशा में "नञ्" निषेधपरक न होकर पर्युदासपरक हो जाता है क्योंकि पर्युदास तद्भिन्न वस्तुपरक होता है। अतः यहाँ लक्षणा से "नानुयाजेषु" का "अनुयाजभिन्न यागों में ये यजामह का उच्चारण करना चाहिए" यह वाक्यार्थ होता है[2]। नानुयाजेषु आदि वाक्यों में निषेध न स्वीकार करने के कई कारण है, जिनमें से प्रमुख कारण निम्न हैं—

(क) निषेध के प्राप्तिसापेक्ष होने के कारण नानुयाजेषु आदि निषेधस्थलों में वह चरितार्थ नहीं होता —निषेध सदैव प्राप्त विषय का ही होता है अप्राप्त का नहीं। इसलिये वादी की यह धारणा ठीक नहीं कि "नानूयाजेषु" आदि निषेध वाक्यों में भी "नान्तरिक्षे न दिवि" आदि वाक्यों की भाँति अप्राप्त का प्रतिषेध किया गया है। निषेध वाक्यों में नञर्थ सदैव प्रत्यय के साथ सम्बद्ध

1. द्र०-मी० न्यायप्रकाश की सारविवेचिनी- पृ०- 165
2. "यत एव विकल्पोऽयं प्रतिषेधे प्रसज्यते
अतस्तत्परिहाराय पर्युदासाश्रयणं वरम्।" (शा०दी० पृ०-465)

होकर भी कर्तव्य रूप अर्थ का बोध कराते हैं। अतः यदि हम अप्राप्त का प्रतिषेध स्वीकार करते हैं तो ''ब्राह्मणो न हन्तव्यः'' आदि वाक्यों में उपदिष्ट हनननिवृत्ति आदि की कर्तव्य रूप में प्राप्ति उन स्थलों पर भी होने लगेगी जहाँ पुरुष इन कर्मों में रागतः प्रवृत्त नहीं हो रहा है। ऐसी दशा में इनके द्वारा रागतः प्रवृत्त हुए पुरुष की निवृत्ति संभव न हो सकेगी। इसके विपरीत निषेध को ''प्राप्तिसापेक्ष'' मानने पर निषेधशास्त्र की प्राप्ति ऐसे स्थलों पर नहीं होगी जहाँ पुरुष स्वयं ही इन कर्मों से निवृत्त है; प्रत्युत भ्रान्तिवश ब्राह्मणहननादि कर्मों को अभीष्ट समझकर प्रवृत्त हुए पुरुष की ही निषेधवाक्यों द्वारा निवृत्ति होगी।

इसी प्रकार निषेध के प्राप्ति सापेक्ष होने के कारण ''नानूयाजेषु'' आदि वाक्यों में भी प्राप्त विषय का ही प्रतिषेध होगा, और ऐसा न होने पर अनूयाजयागों में निषेध प्रवृत्त न हो सकेगा।[1] यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि वह कलञ्जभक्षणादि कर्मों की भाँति रागतः प्राप्त है, क्योंकि यागादि क्रियायें अत्यधिक परिश्रम से सिद्ध होती हैं। इसलिये विधिवाक्यश्रवण के बिना उनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। अतः यदि अनूयाजयागों में ''येयजामह'' का विधायक कोई विधि-वाक्य प्राप्त भी किया जायेगा तो निषेध द्वारा पाक्षिक निवृत्ति ही होगी, पाक्षिक प्रवृत्ति तो बनी ही रहेगी, क्योंकि शास्त्रप्राप्त का अत्यन्त बाध सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि शास्त्रप्राप्त वाक्यों में प्रबल-दुर्बल भाव नहीं होता। अतः ''नानूयाजेषु०'' आदि निषेध वाक्यों में निषेध के लिये अवकाश ही नहीं है।

(ख) निषेधवाक्यों में प्रयुक्त ''नञ्'' पदशास्त्र की भाँति सामान्य का विशेष से बाध नहीं करता-जिस प्रकार ''**आहवनीये जुहोति**'' इस वाक्य द्वारा सामान्यरूप से विहित होम का ''**सप्तमे पदे जुहोति**'' इस विशेषशास्त्र द्वारा बाध होता है वैसा बाध ''**नानूयाजेषु**'' एवं ''**यजतिषु ये यजामहं करोति**'' इस वाक्य में संभव नहीं है। वहाँ पर यदि ''**पदेजुहोति**'' द्वारा विहित पदहोम से आहवनीय होम का बाध न माना जाता तो पदशास्त्र व्यर्थ हो जाता, क्योंकि अन्य किसी स्थल पर उसकी विधायकता मानने के लिये अवकाश नहीं है, जबकि यहाँ यह स्थिति नहीं है। बाध तो वस्तुतः वहाँ होता है, जहाँ दोनों वाक्य परस्पर निरपेक्ष हों। पदशास्त्र अपने विधान के लिये आहवनीयशास्त्र की अपेक्षा न करके स्वतंत्र रूप से विधानकार्य में समर्थ होता है।[2] जबकि ''नानूयाजेषु''

1. "यद्यत्र प्रधानसम्बन्धलोभान्नञः प्रत्ययसम्बन्धः क्रियते तथा सत्यनेन वाक्येनानूयाजेषु ये यजामहः प्रतिषिध्यते। न च तत्र प्रतिषेधः प्राप्तिं बिना सम्भवति प्राप्तिसापेक्षत्वात् प्रतिषेधस्य।" (मी० न्याय० पृ०-111)
2. "न च पदेजुहोति इति विशेषशास्त्रेण-----इति वाच्यम्। परस्परनिरपेक्षयोरेव शास्त्रयोर्बाध्यबाधकभावात्। पदशास्त्रस्य हि स्वार्थविधानार्थमाहवनीयशास्त्रानपेक्षत्वम्०।" [अर्थ० पृ०- 181]

यह निषेधवाक्य "यजतिषु०" इस विधिवाक्य की अपेक्षा रखता है अर्थात् बिना इस विधि की सहायता लिये वह अपनी कर्तव्यरूपता ही नहीं प्रतिपादित कर सकता, क्योंकि "ये यजामह करोति" का अनुवाद करके ही वह विधान करने में समर्थ है। इसका कारण यह भी है कि "नानुयाजेषु" इस वाक्य में "करोति" आदि क्रियापद प्रयुक्त नहीं है। अतः "नानूयाजेषु" इस निषेधशास्त्र के "यजतिषु०" वाक्य द्वारा उपजीव्यता प्राप्त करने के कारण यहाँ नञ् द्वारा अत्यन्त निषेध मानना युक्त नहीं है। इसलिये यहाँ पर निषेध न मानकर पर्युदास मानना ही अधिक युक्तिसंगत होगा।

(ग) "नानूयाजेषु" आदि स्थलों में पर्युदास की प्राप्ति सम्भव रहते विकल्प मानना अन्याय्य है-जहाँ तक सम्भव हो यदि निषेधस्थल में पर्युदास की प्राप्ति हो सके तो उसकी उपेक्षा करके विकल्प मानना उचित नहीं है, क्योंकि विकल्प अष्टदोषग्रस्त होता है।[1] अर्थात्—जैसे "व्रीहीभिर्यजेत यवैर्वा" इस वाक्य द्वारा प्रमाण प्राप्त व्रीहि से याग करेंगे तो व्रीहि का पाक्षिक प्रामाण्य तो प्राप्त होता है, किन्तु यवशास्त्र का पाक्षिक अप्रमाण्य भी मानना पड़ता है और यदि यव से हवन करेंगे तो यवप्रामाण्य का स्वीकार एवं पूर्व स्वीकृत व्रीहि का अप्रामाण्य कल्पित करना होगा। उसी प्रकार यदि "नानुयाजेषु" आदि वाक्यों में विकल्प मानेंगे तो निषेध के समय विधि रूप "यजतिषु० का पाक्षिक अप्रामाण्य प्राप्त होगा एवं विधि वाक्य द्वारा विहित सभी यागों में "येयजामह" का पाठ करने पर "नानूयाजेषु" इस निषेधशास्त्र का प्रामाण्य नहीं होगा। जबकि यहाँ पर पर्युदास करने पर "अनूयाज भिन्न यागों में येयजामह का पाठ करना चाहिए" यह लाक्षणिक अर्थ प्राप्त होगा। यद्यपि लक्षणा जघन्यवृत्ति होने से दोष है तथापि विकल्प की अपेक्षा वह दोष लघु है। अतः यहाँ पर "ये यजामह" का अनूयाजभिन्न यागों में पर्युदास ही युक्त है। वस्तुतः नञ् का सम्बन्ध अनूयाज के साथ करने पर नञ् प्रतिषेधक नहीं होगा, अपितु अनूयाज भिन्न यागों में ये यजामह की कर्तव्यरूपता का विधायक ही होगा।

(घ) "नानूयाजेषु०" आदि वाक्यों में विकल्प मानने पर दो अदृष्टों की कल्पना करनी होगी-यदि हम "नानूयाजेषु" आदि वाक्यों को प्रतिषेधपरक मानकर विकल्प को स्वीकार भी कर लें तो हमें दो अदृष्ट कल्पित करने होंगे अर्थात् "**यजतिषु ये यजामहं करोति**" इस विधिवाक्य द्वारा विहित "ये यजामह"

1. "यतः एवं प्रतिषेधपक्षे विकल्पोऽष्टदोषदुष्टोऽतएव पर्युदासाङ्गीकरणम्। पर्युदासत्वं चारव्यातार्थव्यतिरिक्त-प्रतियोगिताकाभावबोधकत्वम्।" (भा०दी० पृ०-99) एवं "नित्यवच्छुतयोः विधिप्रतिषेधयोः पक्षेऽप्यत्यन्तायुक्तो विकल्प इति वरं लक्षणयापि पर्युदासाश्रयणम्।" (शा०दी०पृ०-465)

का उच्चारण करने पर उससे अदृष्टोत्पत्ति भी माननी होगी एवं जिस प्रकार दर्शपूर्णमास में ''नानृतं वदेत्'' आदि निषेधों का उद्देश्य अपूर्वोत्पत्ति है- यह अपूर्व अदृष्टरूप होता है, उसी प्रकार ''नानुयाजेषु'' इस वाक्य के अनुसार अनूयाजयागों में "येयजामह'' का उच्चारण न करने पर भी अदृष्टोत्पत्ति रूप फल की प्राप्ति माननी होगी। इस प्रकार विकल्प मानने पर यहाँ दो अदृष्ट कल्पित करने होंगे, जबकि पर्युदास करने पर केवल लक्षणा ही माननी होगी। दो अदृष्ट कल्पित करने की अपेक्षा यहाँ लक्षणा मानना श्रेष्ठ है, क्योंकि ऐसा करने से कल्पना की बोझिलता कम होगी।[1]

यद्यपि इस निषेधवाक्य में विषय की एकता के आधार पर एकवाक्यता नहीं सिद्ध होती, तथापि जिस प्रकार **''दध्ना जुहोति''** इस वाक्य द्वारा केवल ''दधि'' का ही विधान किया गया है। होम का विधान तो **''अग्निहोत्रं जुहुयात्''** इस वाक्य से पहले ही हुआ रहता है। उसी प्रकार इस निषेध वाक्य द्वारा भी **''येयजामह''** के उच्चारण का विधान नहीं किया गया है, क्योंकि वह तो ''यजतिषु०'' इस पूर्चवाक्य द्वारा ही विहित है। यहाँ पूर्ववाक्य से प्राप्त ''ये यजामह'' एवं क्रिया का अनुवाद करके अनूयाजभिन्नयागों में ''ये यजामह'' का पर्युदासपरक विधान किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस विधि एवं निषेधवाक्य में पदैकवाक्यता नहीं है, अपितु वाक्यैकवाक्यता है।[2]

(ङ) ''नानुयाजेषु०'' में प्रयुक्त नञ् का अनूयाज के साथ अन्वय करने में नित्यसमासापत्ति नहीं होती-वादी का यह कथन भी युक्त नहीं है कि 'नञ्'' श्रुति का अनूयाज के साथ सम्बन्ध करने पर इनका नित्य समास प्राप्त होगा, क्योंकि पाणिनि का ''विभाषा'' सूत्र यह नियम करता है कि सामासिक पद एवं वाक्य दोनों का प्रयोग किया जा सकता है। अतः चाहे समास का प्रयोग किया जाये चाहे वाक्य का; अर्थ एक ही होगा। इसी 'विभाषा'' नियम के आधार पर ''राज्ञः पुरुष'' आदि वाक्यों का प्रयोग भी मान्य है। अतः समास न करना कोई दोष नहीं है। वस्तुतः ''समर्थः पदविधिः'' इस नियम के अनुसार समर्थ पदों का ही समास होता है। यदि ''राज'' शब्द लिङ्ग एवं संख्या आदि की अपेक्षा नहीं रखता तब ''पुरुष'' पद के साथ उसका समास होकर ''राजपुरुष'' ऐसा सामासिक रूप न बनता- यही **''पदसामर्थ्य''** है।

अर्थ की प्रतीति सामासिक एवं असामासिक पद दोनों समान रूप से कराते हैं। इसलिये कात्यायन मुनि का यह कथन कि ''विभाषा वचन निरर्थक है'' अप्रामाणिक है, क्योंकि जहाँ पर वाक्य एवं समास दोनों एक अर्थवाले

---

1. द्र०-कु० वृत्ति पृ०-1542 एवं टुप्टीका पृ०-283
2. ''अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्यायत्वात् विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्।''
(जै०सू० 10/8/4)

नहीं होते वहाँ समास के साथ ही वाक्य भी प्रयुक्त होता है जैसे—"कुम्भं करोतीति कुम्भंकारः" आदि में। यहाँ "नानूयाजेषु" में ऐसा अर्थ अभीष्ट न होनेके कारण "अननुयाजेषु" आदि रूप नित्य समास न होकर वाक्य का प्रयोग ही उचित है।[1] अतः यहाँ पर नञर्थ का अनुयाज के साथ अन्वय करके "अनुयाजयागों में ये यजामह का अननुष्ठान" रूप पर्युदास अर्थ ही उचित है; न कि आख्यात प्रत्यय के साथ नञ् का अन्वय करके विकल्प स्वीकृति द्वारा निषेध मानना। अतः पर्युदास मानने पर "नञ्समासापत्ति" रूप दोष यहाँ सिद्ध नहीं होता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि विकल्प से मुक्ति के लिये निषेधवाक्यगत "नञ्" श्रुति का अन्वय विधायक प्रत्यय के साथ न करके अनूयाज आदि प्रतिपादिकों के साथ करना चाहिए। प्रातिपदिक के साथ नञर्थ का सम्बन्ध होने पर "अनूयाजभिन्न" अर्थ प्राप्त होता है। इस प्रकार यहाँ पर्युदास की प्राप्ति होती है; जिससे यह बोध होता है कि अनूयाज भिन्न यागों में "ये यजामह" की कर्तव्य रूप में प्राप्ति होगी। अनुयाजयागों में "ये यजामह" मंत्र की न तो कर्तव्य रूप से प्राप्ति होगी और न ही उसका निषेध हो सकता है, अपितु "यजतिषु येयजामहं करोति" द्वारा विहित "येयजामह" का अनुवाद करके अनूयाजों की "ये यजामह" से भिन्न विषयता का ही यहाँ विधान किया गया है। क्योंकि "नानुयाजेषु" यह विशेषशास्त्र विधिशास्त्र की अपेक्षा रखता है, अतः यहाँ लक्षणा के द्वारा निषेधवाक्य का तात्पर्य "अनूयाजभिन्न यागों में ये यजामह का विधान" होता है, जिससे "नानुयाजेषु" इस वाक्य की धर्म के प्रति प्रामाणिकता भी सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार "नानूयाजेषु" आदि निषेधों में वाक्यार्थ रूप फल की प्राप्ति के लिये पर्युदास का आश्रय ही सर्वथा उचित है।

10. "नानूयाजेषु०" आदि वाक्यों को पर्युदास की अपेक्षा उपसंहार मानना भी युक्त नहीं है—क्योंकि "पर्युदास" एवं "उपसंहार" दोनों एक दूसरे के विरुद्ध अर्थ वाले हैं, अतः वादी की यह शङ्का भी ठीक नहीं है कि "नानूयाजेषु" आदि निषेधवाक्यों द्वारा विधि प्राप्त "ये यजामह" मंत्र का "यजतिषु०" इस सामान्य विधि में संकोच किया जाने के कारण यहाँ उपसंहार माना जा सकता है। **दर्शपूर्णमासयाग** में प्रधानहोम के पश्चात् शेष

1. (क) "समर्थः पदविधिरिति समर्थयोः समासः। सामर्थ्यं च लिङ्गसंख्यादिक च नापेक्षते------------प्रतीतेस्तुल्यत्वात् एवं सत्यपि एकोऽर्थः। तस्मादुभयोरनुगमः कर्तव्यः।" (टुप्टीका पृ०-284)
(ख) न चानूयाज शब्दसम्बन्धे नञ्समासापत्तिः। विभाषा अध्ययनात् पाणिनेः। कात्यायनीयन्तु वावचनानर्थक्यं न्यायविरोधादनादर्तव्यम्।" (शा०दी०पृ०-465)

पुरोडाश को चार भागों में विभक्त किया जाता है। इसका विधायक वाक्य है- **"पुरोडाशं चतुर्धा करोति"**। ये चार भाग चारों ऋत्विजों के लिये होते हैं, किन्तु इस वाक्य द्वारा सामान्य रूप से प्राप्त पुरोडाश चतुर्धाकरण की प्राप्ति आग्नेय एवं अग्नीषोमीय दोनों ही स्थलों पर होती है। ऐसी दशा में **"आग्नेयं चतुर्धा करोति"** यह विधि यह नियमन करती है कि केवल आग्नेयपुरोडाश का ही चतुर्धाकरण हो। अतः यहाँ सामान्य रूप से प्राप्त चतुर्धाकरण को "आग्नेयं" इस वाक्य द्वारा केवल अपने में ही संकुचित करने के कारण इसे उपसंहार कहा जाता है। "नानूयाजेषु" आदि वाक्य भी अर्थसंकोच करने के कारण पर्युदास न होकर उपसंहार ही हैं। इसका समाधान करते हुए सिद्धान्ती का कथन है कि पर्युदास एवं उपसंहार दोनों का कार्य भिन्न होने से यहाँ उपसंहार नहीं माना जा सकता। क्योंकि उपसंहार जहाँ अन्य स्थलों पर प्राप्त अर्थ का स्वमात्र में संकोच करता है, वहीं इसके विपरीत पर्युदास अपने में प्राप्त अर्थ को अपने से हटाकर इतर में व्यवस्थित करता है। अतः "नानूयाजेषु" यह वाक्य अनूयाजों में प्राप्त "ये यजामह" का अपने से भिन्न अन्य भागों में स्थापन करने के कारण उपसंहार से भिन्न वृत्ति वाला ही सिद्ध होता है।[1]

पार्थसारथि मिश्र के अनुसार उपसंहार सामान्य रूप से प्राप्त अर्थ का विशेष में संकोचन करने के कारण विधि का व्यापार है; जबकि पर्युदास में नञर्थ का अन्वय विधायक पदों से भिन्न धातु अथवा नाम के साथ होता है। अतः पर्युदास धात्वादि से सम्बद्ध "नञ्" का व्यापार होने से उपसंहार से भिन्न स्वरूप वाला है।

पर्युदास और उपसंहार में अभेद इसलिये भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जहाँ पर्युदास हो वहाँ उपसंहार भी प्राप्त हो। जैसे—"नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्" आदि वाक्यों में पर्युदास होते हुए भी उपसंहार संभव नहीं है, क्योंकि यहाँ सामान्य रूप से प्राप्त अनीक्षण का विशेष अर्थ में संकोच नहीं होता, बल्कि पापक्षय के उद्देश्य से अनीक्षण संकल्प मात्र का विधान किया जाता है।

उपसंहार तो वस्तुतः विधिरूप ही है जबकि "नानूयाजेषु" आदि निषेधस्थलों में विधि है ही नहीं। ऐसी दशा में यदि पर्युदास एवं उपसंहार में अभेद मानकर "नानूयाजेषु" आदि को उपसंहार कहेंगे तो अन्य विधेय स्थलों पर विधि की विधायकत्व शक्ति नष्ट हो जायेगी। अतः "नानूयाजेषु" इस निषेध वाक्य द्वारा सामान्य रूप से प्राप्त "ये यजामह" का अनूयाजभिन्न यागों

---

1. 'उपसंहारो हि तन्मात्रसंकोचार्थः। यथा पुरोडाशं चतुर्धा करोति इति सामान्यप्राप्त चर्तुधाकरणं" आग्नेयं- चतुर्धा करोतीति" विशेषादाग्नेय पुरोडाशमात्रे संकोच्यते। पर्युदासस्तु तदन्यमात्रसंकोचार्थः इति ततो भेदः।" (अर्थ० 285-86)

में कर्तव्य रूप से विधान करने के कारण यहाँ पर्युदास ही सिद्ध होता है।

11. "नार्षेयं" आदि निषेध वाक्यों में भी विकल्पप्रसक्ति के कारण प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय नहीं होता—दर्शपूर्णमास के विकृतियाग चातुर्मास्य के महापित्र्येष्टि प्रकरण में **"नार्षेयं वृणीते न होतारम्"**[1] आदि निषेध वाक्य पढ़े गये हैं। यहाँ पर भी यदि नञ् का अन्वय भावना के साथ करेंगे तो "वरणं न कर्तव्यम्" ऐसा वाक्यार्थ प्राप्त होगा, जो कि उचित नहीं है, क्योंकि निषेध सदैव प्राप्त विषय का ही होता है अप्राप्त का नहीं। यहाँ पर होतृवरण का विधायक कोई विधिवाक्य नहीं है, प्रत्युत दर्शपूर्णमास प्रकृतिक याग में प्राप्त "होता" का वरण ही यहाँ पर विकृतियाग में **"प्रकृतिवद्‌ विकृतिः कर्तव्या"** इस नियम से अतिदेश से प्राप्त है। निषेध तो यहाँ तब होता जबकि प्राप्ति एवं प्रतिषेध दोनो ही शास्त्रविहित होते, जबकि यहाँ केवल निषेध ही शास्त्र द्वारा प्राप्त होता है। अतः यहाँ पर नञर्थ का सम्बन्ध "वृञ्" के धात्वर्थ के साथ होगा और लक्षणा द्वारा यहाँ पितृयाग में होता एवं आर्षेयवरषभिन्न प्राकृत समूह ही कर्तव्य रूप से प्राप्त होंगे।

यदि यहाँ निषेध मानेंगे तो विकल्प की प्राप्ति होगी। विकल्प के आठ दोषों से युक्त होने के कारण कल्पनागौरव बढ़ेगा। अतः पर्युदास द्वारा यहाँ पर अभीष्ट की प्राप्ति हो जाने के कारण विकल्प से निषेध मानना ठीक नहीं है। यहाँ ऐसा करने के लिये विधि की मिथ्या कल्पना करनी होगी साथ ही दो अदृष्ट कल्पित करने होंगे। क्योंकि आर्षेय वरण से एक अदृष्टफल की उत्पत्ति माननी होगी और एवं वरण का अनुष्ठान न करने से दूसरे अदृष्टफल की प्राप्ति माननी होगी, जबकि पर्युदास से धात्वर्थ के साथ अन्वय करके लक्षणा द्वारा "आर्षेयवरण भिन्न का अनुष्ठान रूप" अर्थ प्राप्त होगा; जो अदृष्ट कल्पना की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

विकल्प द्वारा निषेध तो वस्तुतः वहाँ स्वीकार किया जाता है जहाँ पर्युदास आदि किसी अन्य उपाय से अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन न हो सके। जबकि यहाँ पर पर्युदास से नञर्थ का धात्वर्थ के साथ अन्वय करके "होतृवरण भिन्न 'अङ्ग समूह का अनुष्ठान रूप" अर्थ सम्भव है। अतः ऐसे निषेधवाक्यों का पर्युदास अर्थ मानने में ही लाघव है, क्योंकि इससे विधि द्वारा विहित का अनुष्ठान भी सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विकृतियाग में "नार्षेयं वृणीते न होतारम्" आदि निषेधवाक्य तो प्रत्यक्षश्रुति से प्राप्त हैं जबकि आर्षेयवरण आदि विधि के अनुमान से प्राप्त हैं। अतः दोनों के असमान बल वाले होने से इनका विकल्प नहीं प्राप्त होता। इन निषेध स्थलों पर कलञ्जभक्षणादि की भाँति नित्य प्रतिषेध की प्राप्ति भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि कलञ्जभक्षणादि निषिद्ध कर्मों की प्राप्ति रागतः

---

1. तै० ब्रा०1/6/9/11

है। अतः उनका नित्य प्रतिषेध सम्भव है, जबकि आर्षेपवरण[1] आदि में पुरुष की राग आदि हेतुओं से प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः यहाँ नियमनिषेध की नित्यप्राप्ति सम्भव नहीं। इस प्रकार "नार्षेयं वृणीते" आदि वाक्य के अनुसार आर्षेयवरणादि विकृतियाग के अङ्ग नहीं सिद्ध होते, अतएव यहाँ पर्युदास ही सिद्ध होता है।[2] "महापितृयाग" में प्रकृति यागों की भाँति ही आर्षेयवरणादि कर्तव्यों की प्राप्ति होती है इसलिये धात्वर्थ के साथ नञ् का अन्वय करने पर "आर्षेयवरणादि भिन्न" कर्म का अनुष्ठान ही निषेधवाक्य का वाक्यार्थ सिद्ध होता है,

12. विधान एवं प्रतिषेध दोनों के शास्त्र से प्राप्त होने पर विकल्प से प्रतिषेध होता है—जिन स्थलों पर पहले उसी वस्तु का विधि द्वारा विधान किया गया हो और बाद में नञ् श्रुति युक्त वाक्य द्वारा उसी विषय का प्रतिषेध किया गया हो, वहाँ पर "नञ्" का तात्पर्य प्रतिषेध ही है[3] अर्थात् ऐसे निषेधवाक्यों में "नञ्" का अन्वय आख्यात प्रत्यय के साथ होता है। जैसे ज्योतिष्टोम याग की अतिरात्र संस्था में पठित **"अतिरात्रे षोडषिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडषिनं गृह्णाति"** आदि वाक्य। यहाँ पर पर्युदास अर्थ सम्भव नहीं है। यदि यहाँ "नानूयाजेषु" आदि वाक्यों की भाँति नञर्थ का अन्वय क्रियाभिन्न धातु या नाम के साथ करके लक्षणा द्वारा पर्युदास की प्राप्ति मानेंगे तो इससे अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति न हो सकेगी। क्योंकि यदि यहाँ "नञ्" का अन्वय अतिरात्र के साथ करके पर्युदास अर्थ करते हैं तो "अतिरात्रभिन्न याग में षोडषी पात्र का ग्रहण करें" यह वाक्यार्थ होगा जिससे "अतिरात्रे षोडषिनं गृह्णाति" यह विधि बाधित होगी। यदि नञर्थ का अन्वय षोडषी के साथ करेंगे तो "अतिरात्र संस्था में षोडषीभिन्न अङ्गसमूह का अनुष्ठान करें "यह वाक्यार्थ होगा और इसका भी षोडषी ग्रहण की विधि "अतिरात्रे०" से साक्षात् विरोध होगा। अतः विकल्पप्रसक्ति के भय से यहाँ लक्षणा द्वारा पर्युदास परक अर्थ लेना युक्त नहीं है और न इस सम्बन्ध में हमें कोई प्रमाण ही उपलब्ध होता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ पर्युदास की सम्भावना नहीं है क्योंकि पर्युदास मानने पर भी विधि की निर्विषयता नहीं सिद्ध होती है।

1. सामधेनी ऋचाओं के पश्चात् "अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारत भार्गव च्यावनाप्नवानौर्व जामदग्न्यः "इस निर्वचन के अनुसार यजमान द्वारा आहवनीय अग्नि के आधान से उत्पन्न भृगु आदि यजमानगोत्रीय ऋषियों से उत्पन्न सन्तति को "आर्षेय" कहा जाता है।
2. द्र०-वासुदेव दीक्षित कृत कुतुहलवृत्ति पृ०-1543-44
3. यत्र तु तस्मिन्नेवार्थे प्रत्यक्षतो विधिः तस्मिन्नेव च निषेधः यथा "अतिरात्रे०----------तत्र विकल्पस्यावश्यकत्वात् प्रतिषेध एव न तु पर्युदासः लक्षणाभावात्। नापि अर्थवादः प्राप्त्यभावात्।" [भाट्टदीपिका पृ०-103

"नातिरात्रे०" इस निषेधवाक्य को "अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः" की भाँति अर्थवाद नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अर्थवाद में स्तुत्य और स्तावक पदार्थ भिन्न-भिन्न होते हैं, जबकि यहाँ पर एक ही षोडषी के स्तुति का विषय एवं स्तावक दोनों होने से वही अवस्था बनी रहेगी। इसका कारण यह है कि यहाँ अर्थवाद मानने पर षोडषी की निन्दा से षोडषी की ही स्तुति माननी पड़ेगी। अतः "न तौ पशौ करोति न सोमे" आदि निषेधशेषों की भाँति यहाँ अर्थवाद नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अङ्गीरूप से इसकी कोई पृथक् विधि प्राप्त नहीं है। अतः यहाँ पर "अतिरात्रे पोडषिनं गृहणाति" इस सामान्य विधि से विहित पोडषीग्रहण का "नातिरात्रे षोडषिनं गृहणाति" इस निषेध वाक्य द्वारा पाक्षिक निषेध ही प्राप्त होता है।[1] कोई अन्य उपाय न होने के कारण यहाँ अगत्या विकल्प ही स्वीकार किया जाना उचित है।

ज्योतिष्टोम याग में चार मुख्य संस्थायें हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडषी एवम् अतिरात्र। संस्था का शाब्दिक अर्थ है "समाप्ति"। जिस स्तोत्र से क्रतु की समाप्ति हो उसी स्तोत्र के नाम से वह संस्था याग सम्बोधित किया जाता है। जैसे-अग्निष्टोम स्तोत्र से समाप्त होने वाला याग "अग्निष्टोम संस्था" कहा जाता है। जहाँ सामगान के मन्त्रों द्वारा साध्य याग के विधेय देवता आदि के गुण का कथन किया जाता है वह "स्तोत्र" है। देवतादि का यह गुण कथन उद्गाता आदि ऋत्विजों के द्वारा किया जाता है। उक्त चार संस्थाओं के अलावा जितने भी सोमयाग हैं वे इन्हीं की विकृतियाँ हैं। जैसे—अत्यग्निष्टोम, वाजपेय एवम् अप्तोर्याम। इन सभी को मिलाकर ज्योतिष्टोम याग को सप्तसंस्थाक याग कहा जाता है। षोडषी स्तोत्र के बाद अतिरात्र याग में-रात्रि के पर्याय स्वरूप तीन स्तोत्र विशेष एवं एक आश्विन स्तोत्र है। अग्निष्टोम में बारह, उक्थ्य में तीन एवं षोडषी में एक स्तोत्र है। अग्निष्टोम संस्था वाला ज्योतिष्टोम नित्य एवम् काम्य याग है। अन्य उक्थ्य आदि इसी के विकृतियाग है, जो कि काम्य हैं नित्य नहीं। "नातिरात्रे षोडषिनं गृहणाति" का वाक्यार्थ है—"अतिरात्र संस्थाक ज्योतिष्टोम में अतिरात्र सम्बद्ध अङ्गों का ही ग्रहण करे; षोडषीग्रह का ग्रहण न करे।"

षोडषीग्रहण की प्राप्ति एवम् निषेध दोनों ही क्रत्वर्थ के उपकारक हैं, अतः दोनों सप्रयोजन हैं। अर्थात् षोडषीमात्र का ग्रहण करने पर अपूर्वोत्पत्ति होने से क्रतु का उपकार होगा और षोडषी का ग्रहण न करने पर भी अपूर्व की उत्पत्ति होगी जिससे क्रतु की उपकारकता ही प्राप्त होगी।[2] वस्तुतः यहाँ

1. "शिष्ट्वा तु प्रतिषेधः स्यात्" (जै०सू० 10/8/7)
2. "यत्रैकमर्थंशिष्ट्वा तद्विषये एव नकारः श्रूयते यथा अतिरात्रे०"------------अगत्या च करणाकरणयोः विकल्पप्रतिषेधोऽर्थवत्वाय, अकरणोऽपि च क्रतुसिद्धिरसतीति कल्प्यते।" (शा०दी० पृ० 468)

पर विकल्प-प्राप्ति अनिष्टकारी नही अपितु अभीष्ट सिद्धि के लिये है।[1]

भाष्यकार के मतानुसार क्योंकि "अतिरात्रे०" आदि स्थलों पर शास्त्रप्रमाण द्वारा प्राप्त विधि एवम् प्रतिषेध दोनों एक दूसरे के बाधक हैं।[2] अनन्यगत्या एक के चरितार्थ होने की दशा में दूसरे का मिथ्यात्व कल्पित करना पड़ेगा। जब विधि प्राप्त होगी तो निषेध अप्राप्त होगा, और निषेध की प्राप्ति होने पर विधि का अनुष्ठान न हो सकेगा। अतः वादी का यह कथन खण्डित हो जाता है कि विकल्प स्थल पर विधि एवम् निषेध दोनों के सर्वथा प्राप्त होने से यहाँ निषेध सम्भव है। यह तो स्पष्ट ही है कि विधि के प्रयोग के समय निषेध का ग्रहण सम्भव न होने के कारण दूसरे की कल्पना ही करनी पड़ेगी।

यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि एक की कल्पना के समय दूसरे का वैगुण्य प्राप्त होगा अर्थात् जैसे "समिधो यजति" इस विधि से विधान के समय क्रतु साद्गुण्य प्राप्त होता है और इसके विपरीत "नानृतं वदेत्" इस निषेध्य विषय का अनुष्ठान करने पर क्रतुवैगुण्य उत्पन्न होता है, वैसे ही यहाँ एक षोडषी पात्र के ग्रहण के विषय में साद्गुण्य एवम् वैगुण्य दोनों की प्राप्ति विरुद्ध है, अतः यहाँ विकल्प नहीं माना जा सकता। इसका समाधान यह है कि यहाँ वैगुण्य होने पर भी वाक्य-प्रमाण से उसकी सिद्धि हो जायेगी, क्योंकि निषेधवाक्य द्वारा षोडषी ग्रहण की निवृत्ति होने पर भी अन्य अङ्ग की प्राप्ति न होने से इसका साद्गुण्य तो होगा ही। अतः यहाँ पर विकल्प से प्रतिषेध मानने में कोई दोष नहीं है।[3] "नानूयाजेषु" आदि निषेध स्थलों में विकल्प द्वारा प्रतिषेध मानना इसलिये ठीक नहीं था, क्योंकि वहाँ पर्युदास द्वारा अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति हो गई थी। विकल्प तो वस्तुतः वहाँ स्वीकृत होता है जहाँ अन्य कोई उपाय अभीष्ट की सिद्धि न कर सके। यहाँ पर विधि द्वारा षोडषीग्रहण के विधान के पश्चात् षोडषीग्रहण निषेध करना याग द्वारा पहले से अधिक फलप्राप्ति की अपेक्षा से है।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विकल्प के अष्टदोषग्रस्त होने पर भी अन्य कोई उपाय न होने से "नातिरात्रे" आदि स्थलों में व्रीहि एवम् यवशास्त्र की भाँति विकल्प मानना अधिक उचित है। अतः "नातिरात्रे०" आदि निषेधस्थलों में प्रतिषेध ही है।

---

1. यत्र विकल्पापादकः प्रतिषेधः तत्र प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम्। उभयोरपि विधिप्रतिषेधयोः क्रत्वर्थत्वात्।" (मी० न्याय० पृ० 117)
2. द्र०- शा० भाष्य सूत्र 10/8/7 की व्याख्या।
3. न चैवम् ग्रहणेऽप्यवैगुण्यात् क्लेशात्मककरणं कदापि न स्यादिति वाच्यम्। अतएव ग्रहणे फलभूयस्त्वकल्पनात्।" (कु० वृ० पृ०-1545,भाग-4)
4. अतएव प्रथमतो विधिप्रवृत्या प्रतियोगिप्रसिद्धो जातायां निषेधेन निषेधे कृते पश्चात् विधेयस्य फलभूमकल्पनमिति विशेषः।" (भाट्टदीपिका पृ०-103)

13. ''न ब्रह्मा सामानि'' आदि वाक्य भी विहित के निषेधक होने से विकल्प के विधायक है—अग्न्याधान प्रकरण में "**गार्हपत्यम् आधीयमाने रथन्तरं गायति**'' आदि वाक्यों द्वारा सामगान का विधान किया गया है। वहीं पर ''**उपवीता वा एतस्याग्नयो भवति, यस्याग्न्याधेये ब्रह्मा सामानि गायति, न ब्रह्मा सामानि गायति**'' आदि वाक्य भी पढ़े गये हैं। यहाँ पर "**न ब्रह्मा सामानि गायति**'' आदि वाक्य वामदेवादि सामगान की स्तुति के लिये नहीं प्रयुक्त हैं, प्रत्युत ''षोडषीग्रहण'' आदि की भाँति विकल्प से प्रतिषेध के लिये पढ़े गये।[1] क्योंकि सामगान के विधान की अनेक विधियाँ है जो कि अपने-अपने समीप पढ़े गये अर्थवाद वाक्यों से ही निराकाङ्क्ष हो जाती है।

यहाँ यद्यपि ब्रह्मा नामक ऋत्विज् का सामगान विधि द्वारा विहित न होने से प्राप्त नहीं है तथापि इस वाक्य में ''ब्रह्मा'' पद के द्वारा ब्राह्मण आदि गुणों से युक्त ''उद्गाता'' का ही कथन किया गया है। उद्गाता का सामगान विधि द्वारा प्राप्त होने के कारण विधिवाक्य द्वारा विहित सामगान का इस निषेधवाक्य द्वारा निषेध होने से यहाँ विकल्प भी प्राप्त होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पर विधि एवम् निषेध दोनों ही शास्त्र विहित हैं। अतः ''न ब्रह्मा०'' आदि वाक्यों द्वारा यहाँ पर विकल्प से उद्गाता के सामगान का निषेध मानना अधिक उचित है; न कि ''नान्तरिक्षे न दिवि'' आदि की भाँति अर्थवाद का विषय मानना, क्योंकि षोडषीग्रह की भाँति यहाँ भी विधि एवम् निषेध दोनों का विषय उद्गाता का सामगान ही है। अतः षोडषीग्रह न्याय से यहाँ भी विकल्प स्वीकार करना युक्त है, क्योंकि जब ब्रह्मा का सामगान प्राप्त ही नहीं है तो उसकी निन्दा का प्रश्न ही नहीं उठता है।[2]

14. रागतः प्राप्त विषयों का निषेध करने वाले निषेधवाक्य अनिष्टनिवृत्ति कराने वाले होते हैं—जहाँ पर निषेध्य पदार्थ रागादि कारणों से प्राप्त हैं अर्थात् विधि द्वारा नहीं प्राप्त हैं, वहाँ पुरुष का अनिष्ट नरकादि फलों की प्राप्ति के कारण-स्वरूप कर्मों से निषेधवाक्य निवारण करते हैं। यह निवारण विकल्पादि रूप न होकर अत्यन्तनिवृत्ति रूप है। जैसे—"**न कलञ्जं भक्षयेत्**'' ''**ब्राह्मणो न हन्तव्यः**'', ''**न सुरां पिबेत्**'' आदि निषेधवाक्यों द्वारा पुरुष की इन निषेध्य कर्मों से अत्यन्त निवृत्ति ही अभीष्ट है।

इन निषेधस्थलों में नञर्थ का अन्वय प्रत्यय के लिङर्थ शाब्दी भावना के साथ होता है, क्योंकि यद्यपि कलञ्जभक्षणादि कर्म पुरुष के लिये स्वर्गादि इष्ट

1. ''उपवादश्च तद्वत्।" (जै०सू०10/8/9)
2. (क) "विध्यन्वयतो स्तोत्रं ब्रह्मोद्गाता तथा सति विषयैकत्वाद् विकल्पोऽत्र षोडषिग्रहवन्मतः।'' (जै०न्याय०वि०पृ०-604)
(ख) द्र०- भाट्टदीपिका पृ०-106।

प्राप्ति के साधन न होकर अनिष्टफल के जनक हैं। फिर भी इनकी अनिष्टसाधनता को न जानने के कारण पुरुष इन कर्मों में रागादि के कारण प्रवृत्त होता है। अतः इन कर्मों से पुरुष की निवृत्ति के पुरुषार्थ होने से ये निषेधवाक्य का विषय बनते हैं।

यहाँ पर "षोडषीग्रहण" आदि की भाँति विकल्प की प्राप्ति भी सम्भव नहीं है, क्योंकि षोडषीग्रहण की भाँति यहाँ कलञ्जभक्षणादि कर्मों की प्राप्ति एवम् प्रतिषेध दोनों श्रुतिप्रमाण से नहीं प्राप्त होते, प्रत्युत इन निषेध्य कर्मों की प्राप्ति तृप्ति आदि की इच्छा से होती है, जबकि निषेधवाक्य प्रत्यवाय परिहार रूप पुरुषार्थ की प्राप्ति का साधन होने के साथ ही शास्त्र प्राप्त भी हैं। अतः विधि एवम् निषेध दोनों के असमान बल वाले होने से यहाँ विकल्प का विषय ही नहीं है। क्योंकि राग से शास्त्र प्रबल होता है, अतः शास्त्र से राग सदैव बाधित होता है।[1] इस प्रकार कलञ्जभक्षण कर्म, ब्राह्मण हत्या, सुरापान मिथ्याभाषण आदि कर्मों का निषेध पुरुषार्थ प्राप्ति का कारण होने से निषेधवाक्य भी धर्म रूपी प्रमिति की उत्पत्ति कराने वाले हैं।

15. पुरुषार्थ रूप में प्राप्त दान-होमादि कर्मों का भी क्रत्वर्थ के लिये निषेध होता है—कुछ निषेधस्थलों में पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये शास्त्र द्वारा विहित कर्मों का भी याग के लिये निषेध किया जाता है। जैसे—ज्योतिष्टोम याग में "**दीक्षितो न ददाति न जुहोति न पचति**"[2] आदि वाक्य सोमयाग में दीक्षा प्राप्त पुरुष के लिये दान, होम, पाक आदि कर्मों का निषेध करते हैं। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि क्या इस निषेधवाक्य द्वारा "**हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते,**" "**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**", "**वैश्वदेवार्थमन्नं पचेत्**" आदि विधिवाक्यों द्वारा पुरुषार्थ के रूप में विहित दान-होमादि का निषेध किया गया है; अथवा "**दीक्षाहुतिं जुहोति**", "**व्रतं श्रपयति**" आदि वाक्यों द्वारा विहित क्रत्वर्थीय दानादि का निषेध किया गया है अथवा विधि एवम् अतिदेश द्वारा प्राप्त सभी प्रकार के दानादि कर्मों का निषेध किया गया है, अथवा यहाँ निषेध न होकर पर्युदास है, जिससे दान होमादि से भिन्न कर्मों का विधान किया गया है।

कुछ विद्वानों के मतानुसार पुरुषार्थ एवम् क्रत्वर्थ के रूप में उपदिष्ट एवम् अतिदिष्ट सभी प्रकार के दानादि कर्मों का "न ददाति०" आदि वाक्य निषेध करते हैं; जबकि अन्य का मत है कि यदि इस निषेधवाक्य द्वारा उपदिष्ट एवम् अतिदिष्ट अग्निहोत्रादि कर्मों का निषेध मानेंगे तो उपदेश वचन व्यर्थ सिद्ध होंगे।[3] अतिदेश

---

1. "यत्र तु न विकल्पः, प्राप्तिश्च रागतः एव, प्रतिषेधश्च पुरुषार्थः तत्र प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वम् यथा " न कलञ्जं भक्षयेत्" इत्यादौ कलञ्जभक्षणादेः।"
(अर्थ०कौ०सहित पृ०-188)
2. तै०सं० 1/2/3, मै०सं०2/6/5।
3. द्र०- जै०न्याय० वि०पृ०- 605-606

द्वारा प्राप्त एवम् पुरुषार्थ के रूप में प्राप्त दानादि कर्मों का निषेध ही यहाँ अभीष्ट है; जबकि क्रत्वर्थ के लिये उपदिष्ट दान, होमादि कर्म अनुष्ठान के योग्य हैं।

मीमांसाचार्यों के मतानुसार क्योंकि अग्निहोत्र आदि नित्य कर्म एवं दानादि कर्म श्रुति के द्वारा पुरुषार्थ के रूप में विहित हैं। अतः वे ज्योतिष्टोम याग के समय प्राप्त रहते हैं एवम् अतिदेश द्वारा प्राप्त दानादि भी याग काल में प्राप्त ही रहते हैं, किन्तु यहाँ पर प्रत्यक्ष श्रुति द्वारा विहित पुरुषार्थस्वरूप दान-होमादि की ही "दीक्षितो न ददाति" आदि वाक्यों द्वारा निवृत्ति कही गई है।

यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि यहाँ पर पुरुषार्थ एवम् क्रत्वर्थ रूप में प्राप्त विधि एवम् निषेध का विकल्प प्राप्त है, क्योंकि दोनों शास्त्रवचन से ही प्राप्त हैं तो इसका समाधान यह है कि यहाँ पर विधि एवम् निषेध दोनों का विषय षोडषिग्रह की भाँति एक न होकर भिन्न है। एक का विषय पुरुषार्थ प्राप्ति है, और दूसरे का क्रत्वर्थ प्राप्ति। अतः भिन्नविषयता के कारण यहाँ विकल्प सम्भव न होने से निषेध भी नहीं किया जा सकता। याग के लिये "दीक्षितो न ददाति०" आदि वाक्यों से किया गया निषेध ज्योतिष्टोम याग काल में पुरुषार्थ विषयक दान, होमादि कर्मों का निवारण करता है।[1] याग के अनुष्ठान की समाप्ति के पश्चात् विधि उनके द्वारा पुरुषार्थ की प्राप्ति कराती है। अतः यहाँ पुरुषार्थभूत दान-होमादि कर्मों की निवृत्ति ही निषेध का विषय है। इस प्रकार यहाँ "पुरुषार्थभूत दानादि से भिन्न कर्मों का ज्योतिष्टोम याग के समय अनुष्ठान करना चाहिए" यह वाक्यार्थ है।

यहाँ विधिविहित दान होमादि के पुरुषार्थ प्राप्ति का साधन होने से "न ददाति०" आदि वाक्य अनिष्ट निवारण नहीं करते, क्योंकि ये दानादि अनर्थकारी नहीं है। तथापि यागानुष्ठानकाल में इनका अनुष्ठान करने से क्रतु में वैगुण्य उत्पन्न होता है। क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्म क्लेशसाध्य हैं, अतः इनकी रागतः प्राप्ति न होने के कारण इनका अत्यन्त निषेध उचित नहीं है। इसलिये यहाँ पर पर्युदास का आश्रय लेकर "पुरुषार्थभिन्न दानादि कर्म का अनुष्ठान रूप" लक्षणार्थ लेना ही उचित है। इस प्रकार ऐसे निषेधवाक्यों में नञ् श्रुति का अन्वय भावना के साथ न करके धात्वर्थ के साथ करना चाहिए और लक्षणा से पर्युदासपरक अर्थ लेना चाहिए।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पर विकल्प-प्रसक्ति से बचने के लिये निषेध न मानकर पुरुषार्थ के साधन अग्निहोत्रादि का अनुवाद करके दीक्षित के योग्य पुरुषार्थभिन्न दानादि का विधान ही उचित है। सूत्रकार, जैमिनि, भाष्यकार एवम् न्यायसुधाकार आदि मीमांसकों का भी यही मत है।[2] निषेधवाक्य

---

1. "अपितु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात्, प्रतिषेधे विकल्पः स्यात्।"
(जै०सू०10/8/15)

2. द्र० भाट्टदीपिका पृ० 108-109

रागतः एवम् स्मृति आदि शास्त्रों से प्राप्त पुरुषार्थ का भी क्रत्वर्थ के लिये निषेध करते हैं। इसी प्रकार रागतः एवं मनुस्मृति आदि के वचनों से प्राप्त पुरुषार्थभूत कर्मों का भी याग के लिये निषेध किया जाता है। जैसे—**"ऋतौ उपेयात्"** आदि स्मृतिवाक्यों एवम् रागादि से प्राप्त स्वस्त्रीगमन आदि कर्मों का भी दर्शपूर्णमास याग के अनुष्ठान के समय निषेध **"न स्त्रियमुपेयात्"** आदि वाक्यों द्वारा प्राप्त होता है, किन्तु यह निषेध केवल क्रतुकाल में हीं लागू होता है, क्रतुभिन्न काल में नहीं। क्योंकि यद्यपि स्वस्त्रीगमन आदि कर्म रागतः प्राप्त है, तथापि वे नरकादि रूप अनिष्ट की उत्पत्ति करने वाले नहीं है और न ही क्रतु में वैगुण्य उत्पन्न करते हैं, किन्तु पुरुष को प्रत्यवाय प्राप्त कराने के कारण याग के समय ये कर्म निषेध के विषय बनते हैं।[1]

निषेधवाक्यों का लक्षण और भेद

मीमांसा सिद्धान्त के अनुसार "नञ्" श्रुति से युक्त लिङ्प्रत्यय युक्त वाक्य "निषेधवाक्य" हैं। निषेध्य ब्राह्मणहननादि कर्मों से पुरुष की निवृत्ति कराने के कारण इनकी धर्म के प्रति प्रामाण्यता सिद्ध होती है। **"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"** इस विधि के अनुसार सम्पूर्ण वेद के स्वाध्याय का विधान प्राप्त होने के कारण भी निषेध वाक्यों का धर्म के प्रति प्रामाण्य ही सिद्ध होता है। जिस प्रकार विधि अपने पुरुष प्रवर्तन रूप कार्य के द्वारा पुरुष में धर्मरूपी प्रमिति उत्पन्न करती है, उसी प्रकार निषेध वाक्य अनर्थकारी विषयों से पुरुष की निवृत्ति रूप प्रयोजन को सिद्ध करने के कारण क्रियारूप ही हैं। समस्त मीमांसा आचार्यों ने निषेधवाक्यों की धर्म के प्रति प्रामाण्यता कही है। अतः निषेधवाक्यों पर व्यर्थता एवं निन्दा-अर्थवाद आदि का आरोप नहीं किया जा सकता। विधि को प्रमाण मानने वाले मण्डनमिश्र आदि मीमांसकों ने भी नञ् युक्त लिङादि से प्रवर्तना के विरोधी "निवर्तना" अर्थ को अप्रामाणिक नहीं कहा है। यह "निवर्तना" निषेध रूप ही है। अतः विधि को मुख्य प्रमाण मानने वाले मीमांसकों ने भी निषेधवाक्यों को धर्म के प्रति प्रमाण माना है।

निषेधवाक्यों के मुख्यतः दो भेद है 1. पर्युदास 2. निषेध।

पर्युदास-जिन निषेध वाक्यों में लिङर्थ शाब्दीभावना के साथ नञर्थ के अन्वय में कोई बाधक हेतु उपस्थित होता है वहाँ "पर्युदास" होता है। पर्युदास में निषेधवाक्यगत "नञ्" श्रुति का अन्वय क्रिया के साथ न होकर धात्वर्थ या प्रतिपादिक के साथ होता है। धात्वर्थ या प्रातिपदिक के साथ

---

1. रागतः प्राप्तस्यापि क्रत्वर्थत्वेन प्रतिषेधे तदनुष्ठानात् क्रतोर्वैगुण्ये नानर्थोत्पत्तिर्यथा स्वस्त्र्युपगमनादिप्रतिषेधो रागतः प्राप्तस्य पुरुषार्थत्वेन प्रतिषेधे निषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वम्।' (मी०न्याय०पृ०117)

अन्वय के दो प्रमुख कारण हैं (1) "नञ्" का प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय करने पर वाक्य के प्रारम्भ में कर्तव्य रूप में विहित संकल्प की व्यर्थता की आपत्ति (2) प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय करने पर विकल्प की प्राप्ति होना।

निषेध-धात्वर्थादि के साथ अन्वय होने पर नञ् निषेधक न होकर तद्भिन्न अर्थ का वाचक होता है। जिन निषेधवाक्यों में नञर्थ का अन्वय लिङ् प्रत्यय के साथ होता है वहाँ पर "निषेध" होता है- यह निषेध भी दो प्रकार का है प्रथम-शुद्धनिषेध द्वितीय-विकल्प से निषेध। विकल्प से निषेध वहाँ स्वीकार किया जाता है जहाँ विधि और निषेध दोनों ही शास्त्र विहित होते है जैसे- "नातिरात्रे०" आदि वाक्यों में। ऐसे स्थलों पर विकल्प द्वारा प्रतिषेध मानने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग ही नहीं रहता। यदि पर्युदास या निषेध मानने पर अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति हो जाती है तो विकल्प से निषेध नहीं माना जाता।

इस प्रकार स्वरूप की दृष्टि से निषेध के पर्युदास एवम् प्रतिषेध दो ही भेद हैं, और यही दो भेद भाष्यकार, तन्त्रवार्तिककार एवम् खण्डदेवादि नव्यनैयायिकों द्वारा स्वीकृत किये गये हैं किन्तु इन दो भेदों के अतिरिक्त मीमांसाबालप्रकाशकार ने निषेधवाक्यों के आठ सौ भेद कहे हैं वस्तुतः ये मात्र उदाहरण भेद हैं। ये सारे उदाहरण भेद इन दो भेदों में ही समाहित हो जाते हैं। निषेधवाक्यों द्वारा जहाँ पर अभिधा द्वारा प्राप्त वाक्यार्थ अभीष्ट नहीं होता वहाँ ये पर्युदास का आश्रय लेकर लक्षणा द्वारा अभीष्ट अर्थ का ज्ञान प्राप्त कराते हैं। अभिधा से पुरुष में निवर्तना बोध सम्भव होने पर निषेध वाक्यों द्वारा पुरुष की अत्यन्त निवृत्ति ही इनका प्रयोजन है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि प्रवृत्तिवाचक "लिङ्" प्रत्यय संयुक्त नञर्थ पुरुष में निषेध्य विषयों के प्रति निवृत्तिबुद्धि उत्पन्न करने के कारण पुरुषार्थ की प्राप्ति कराने वाले हैं। विधि की भाँति ही निषेध-वाक्य भी पुरुषार्थ की प्राप्ति कराते हैं; इसलिये विधि वाक्यों की भाँति ही निषेधवाक्य अपौरुषेय हैं।

निषेधवाक्यो में प्रयुक्त "नञ्" निन्दार्थवाद रूप न होकर निवृत्ति के बोधक हैं। निषेधवाक्यगत "नञ्" अभाव अर्थ के वाचक नहीं है, क्योंकि अभाव कभी विधेय नहीं होता। निषेधवाक्यों में प्रयुक्त नञर्थ का अन्वय सदैव लिङ् प्रत्ययवाच्य शाब्दीभावना के साथ ही होता है, क्योंकि वह किसी के प्रति गौण नहीं है। नाम अथवा धातु या आख्यातांश के शाब्दीभावना के प्रति गौण होने से इनके साथ नञर्थ का अन्वय "नहि अन्योपसर्जनमन्येनान्वेति" इस न्याय से सम्भव नहीं है।

जिन निषेधवाक्यों में नञर्थ का प्रत्ययार्थरूपा शाब्दीभावना के साथ सम्बन्ध करने में कोई बाधक हेतु प्राप्त होता है, वहाँ अभिधा की अपेक्षा लक्षणावृत्ति से पर्युदास परक वाक्यार्थ लिया जाता है क्योंकि निषेधवाक्यों में प्रयुक्त ''नञ्'' का यह स्वभाव है कि वह अपने से सम्बद्ध के विरोधी अर्थ का प्रतिपादन करता है। अतः जब वह लिङर्थ के साथ सम्बद्ध होता है, तो प्रवर्तना के विरोधी निवर्तना का वाचक बनता है, और जब नाम अथवा धात्वर्थ के साथ संयुक्त होता है तो वह धात्वर्थादि से भिन्न अर्थ का विधायक होता है।

इस प्रकार जिन स्थलों पर नञ् का निषेध अर्थ लेने पर विकल्प प्राप्ति होती है अथवा प्रारम्भ में कर्तव्य के रूप में किया गया संकल्प बाधित होता है, वहाँ इन दोनों के निवारण के लिये लक्षणा द्वारा पर्युदास अर्थ ही लिया जाता है। पर्युदास वस्तुतः निषेधक न होकर तद्भिन्न अनुष्ठान परक होता है। इन बाधक हेतुओं के न होने पर निषेध द्वारा पुरुष की निषेध्य कर्मों से अत्यन्त निवृत्ति ही निषेधवाक्यों का प्रयोजन होता है। पुरुष में निवृत्तिबुद्धि उत्पन्न करने के कारण निषेध वाक्य भी क्रिया रूप होते हैं।

निषेध वाक्यों द्वारा रागतः प्राप्त निषेध्य विषयों से पुरुष की निवृत्ति करायी जाती है, क्योंकि ये निषेध्य कर्म अनर्थकारी हैं। कहीं पर ये नरकादि के साधनभूत कर्मों से पुरुष की निवृत्ति कराते हैं, तो कहीं पर प्रत्यवाय से बचने के लिये पुरुष में निवर्तनाबुद्धि के उत्पादक हैं। किन्हीं-किन्हीं स्थलों पर पुरुषार्थ के रूप में शास्त्रप्राप्त कर्मों का क्रत्वर्थ के लिये निषेध किया गया है। यदि निषेधवाक्यों द्वारा यागादि काल में इन कर्मों से पुरुष की निवृत्ति न करायी जाए तो क्रतु में वैगुण्य उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। अतः क्रतुकाल में पुरुषार्थ रूप कर्मों का निवारण भी निषेधवाक्य का विषय बनता है। इसलिये निषेध वाक्य पुरुषनिवृत्ति द्वारा पुरुषार्थ प्राप्ति में सहायक सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि निषेधवाक्य निष्प्रयोजन न होकर निषेध्य विषयों से पुरुषनिवृत्ति द्वारा पुरुषार्थ सम्पादन करते हैं। विधि की भाँति ही निषेधवाक्य भी अपौरुषेय हैं। पुरुष में निवर्तना बुद्धि उत्पन्न करने के कारण इनकी क्रियार्थता भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि ये अधर्म के साधनभूत कर्मों से पुरुष की निवृत्ति कराते हैं, अतः धर्म रूपी प्रमिति के उत्पादक होने के कारण धर्म के प्रति इनका प्रामाण्य भी सिद्ध होता है।

*****

उपसंहार

"**अर्थवादवाक्य**" विधेय कर्म अथवा तत्सम्बद्ध द्रव्य देवता आदि की स्तुति या निन्दा करते हैं। स्तुति या निन्दा के द्वारा वे विधि वाक्यों का उपकार करते हैं। यद्यपि विधि स्वतन्त्र रूप से पुरुष-प्रवर्तन में समर्थ है, तथापि जिस प्रकार लोक में बिना रुचि उत्पन्न हुए पुरुष किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, उसी प्रकार यागादि कर्मों के प्रति मनुष्य में रुचि उत्पन्न होनी आवश्यक है। यागादिकर्मों का अनुष्ठान दीर्घकालीन एवम् अधिक श्रम द्वारा सम्पन्न होता है। अर्थवादवाक्य इन क्लेशसाध्य कर्मों की प्रशंसा द्वारा पुरुष में उनके प्रति रुचि उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार अर्थवादवाक्य विधि की शक्ति को बढ़ाते हैं।

ये अर्थवादवाक्य यद्यपि साक्षात् पुरुष-प्रवर्तन न करने के कारण साक्षात् रूप से धर्म रूपी प्रमिति को नहीं उत्पन्न करते, तथापि यागादि कर्मों के प्रति अनुष्ठाता पुरुष में रुचि उत्पन्न करके विधि के अङ्गरूप से (परम्परया) धर्म के सम्पादन में सहायक होते हैं, अतः ये निष्प्रयोजन नहीं है; प्रत्युत धर्म के प्रति प्रमाण एवं उपयोगी हैं। जिस प्रकार विधि का अध्ययन-अध्यापन आदि गुरु-शिष्य परम्परा में अपेक्षित हैं, उसी प्रकार अर्थवादवाक्यों का विद्वानों में समान रूप से आदर है।

स्वाध्यायविधि के द्वारा सम्पूर्ण वेद का अर्थज्ञानपूर्वक अध्ययन विहित होने से भी अर्थवादवाक्यों की उपयोगिता सिद्ध होती है। विधिवाक्यों की भाँति अर्थवादवाक्य भी अपौरुषेय हैं। ये अर्थवाद वाक्य विधिवाक्यों के अङ्ग होने से उनके साथ एकवाक्यता प्राप्त करते हैं अतः उन्हें अक्रियार्थक नहीं वरन् क्रियार्थक मानना ही उचित है। क्योंकि जो प्रयोजन विधि का है, वही प्रयोजन विधि के साथ एकवाक्यता प्राप्त करने वाले अर्थवादों का भी है। विधि एवं अर्थवाद एक दूसरे की अपेक्षा करने के कारण परस्पर साकांक्ष हैं। इन अर्थवादों का विधेय की स्तुति रूप दृष्टि प्रयोजन है।

अर्थवाद वाक्यों में शास्त्रदृष्ट एवं प्रत्यक्षदृष्ट तथ्यों का विरोध नहीं वर्णित किया गया है। जिन "सोऽरोदीत्"[1] आदि अर्थवादों पर पूर्वपक्षी विरोध सिद्ध करता है, वह अज्ञान के कारण है। इन स्थलों पर उक्त तथ्य गुणवाद अर्थात् गौणीलक्षणा के द्वारा संगत हो जाता है। रोदन आदि कर्म कर्तव्य के रूप में न प्राप्त होने के कारण प्रत्यक्ष दृष्ट के विरुद्ध पदार्थ का प्रतिपादन नहीं करते। अर्थवादगत कथन तो सादृश्य आदि निमित्त से विधेय की निन्दा या स्तुति के

1. तै० सं० 1/5/1

लिये प्रयुक्त हैं।

जिन स्थलों पर अर्थवाद निन्दा करते हैं, वहाँ वे विधेय से सम्बद्ध या विधेय के रूप में ज्ञात हो रहे पदार्थ की निन्दा के द्वारा पुरुष को उनके अनुष्ठान से निवृत्त करते हैं। ऐसे अर्थवादवाक्य निषेधवाक्यों के अङ्ग बनते हैं। पुरुष के निवृत्ति -कार्य में सहायक होने से ऐसे अर्थवादवाक्य भी उपयोगी हैं। वस्तुतः ऐसे स्थलों पर वे **''नहिनिन्दा-न्याय''** से विधेय कर्म की प्रशंसा करते हैं।

जहाँ पर अर्थवाद वाक्यों द्वारा अप्राप्त अर्थ का प्रतिषेध वर्णित है वहाँ वे अप्राप्तप्रतिषेधक नहीं है, प्रत्युत नित्य प्राप्त अर्थ के अनुवाद द्वारा विधि के स्तावक हैं। जिन स्थलों पर अर्थवाद आख्यानपरक दृष्टिगत होते हैं, ऐसे स्थलों पर इनका प्रयोजन भूतार्थकथन द्वारा मनुष्य की तत्सबद्ध कर्म में रुचि उत्पन्न करना है ऐसे अर्थवाद, ''भूतार्थवाद'' कहलाते हैं।

अर्थवादवाक्यों में किसी अनित्य पदार्थ अथवा व्यक्ति से सम्बद्ध कथन नहीं किया गया है, प्रत्युत नित्यपदार्थों की ही स्तुति की गई है। अर्थवाद वाक्य परस्पर विरुद्ध अर्थ का कथन नहीं करते। जैसे लोक में कृषि आदि कर्मों में परिश्रम के अनुसार फल की न्यूनता या अधिकता देखी जाती है वैसे ही वैदिक कर्मों में भी समय और श्रम के अनुसार न्यूनाधिक फल प्राप्त होता है।

इस प्रकार अर्थवाद गुणवाद, अनुवाद एवं भूतार्थवाद कथन के द्वारा विधि की प्रशंसा करके अनुष्ठाता पुरुष में रुचि उत्पन्न करते हैं। अर्थवादों के द्वारा सृष्टि एवं प्रलय की प्रामाणिकता ज्ञात होती है। जहाँ पर अर्थवाद वाक्य प्रशंसा या निन्दा कार्य द्वारा उपयोगी नहीं होते, ऐसे स्थलों पर वे संदिग्ध अर्थों के निर्णायक भी होते हैं। अतः अर्थवादवाक्यों की धर्म के प्रति उपयोगिता सिद्ध है।

याज्ञिकों के द्वारा मंत्र के रूप में व्यवहृत वेदभाग **''मन्त्र''** हैं। मन्त्र यागादि कर्म से सम्बन्धित द्रव्य, देवता आदि अर्थों का स्मरण कराते हैं। वेदमन्त्रों का अर्थप्रकाशन रूप दृष्ट प्रयोजन है। यद्यपि स्मृति आदि अन्य उपायों से यह अर्थप्रकाशन सम्भव था, तथापि ऐसा करने पर ''मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्'' आदि नियमविधियाँ व्यर्थ हो जायेंगी। जिससे ''अपूर्व'' का सम्पादन न हो सकेगा। मन्त्रों का अर्थ विवक्षित हैं। यज्ञकाल में विधि के उपयोगी अर्थों का प्रकाशन करने के कारण मन्त्र विधि के सहायक हैं।

जैसे-लोक में विवक्षित अर्थ वाले यथार्थ पदों का व्यवहार होता है, वैसे ही वेदगत मन्त्रों में प्रयुक्त पद एवं वाक्य भी विवक्षित अर्थ वाले हैं। ये मन्त्र लिङ्ग एवं प्रकरण द्वारा विधि के साथ अङ्गता प्राप्त करते हैं अतः इन्हें अक्रियार्थक नहीं कहा जा सकता। किसी भी लौकिक अथवा वैदिक प्रमाण से मन्त्रों की अदृष्ट-फलकता की पुष्टि नहीं होती। संहिताभाग में पढ़े गये मन्त्रों

का ब्राह्मणभाग में पुनः उल्लेख गुणविधान आदि रूप में विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिये है।

वेद में जिन मन्त्रों में परिसंख्या विधि की सहायता से अर्थप्रकाशन किया जाता है वहाँ पर श्रुतहानि, अश्रुतकल्पना एवं प्राप्तबाध आदि दोषत्रय नहीं प्राप्त होते। स्वरूप की दृष्टि से यह परिसंख्या-विधि श्रौती एवं लाक्षणिकी दो प्रकार की होती है। जबकि विधेय की दृष्टि से इसके शेष परिसंख्या एवं शेषिपरिसंख्या रूप दो भेद प्राप्त होते हैं।

''उरुप्रथा[1] आदि कतिपय स्थलों पर मन्त्र यागकर्मों की स्तुति भी करते हैं। अतः जहाँ पर मन्त्रों द्वारा क्रियार्थ प्रकाशन अथवा क्रिया के साथ सम्बन्ध न सिद्ध हो वहाँ उन्हें स्तुतिपरक मानना उचित है। विशेष क्रम से उच्चरित मन्त्र अदृष्टोत्पत्ति के साथ ही अर्थ की प्रतीति भी कराते हैं। इन मन्त्रों का ज्ञान यद्यपि पुरुष को अध्ययन काल में ही हुआ रहता है; किन्तु अनुष्ठान-कालपर्यन्त वह ज्ञान पुरुष में अविकल रूप में उपस्थित नहीं रहता, अतः स्मृति के उद्‌बोधन के लिये सम्प्रैष मन्त्रों का पुनः पाठ किया गया है। कहीं-कहीं अर्थ की स्मृति में दृढ़ता लाने के लिये एक ही क्रिया के प्रकाशक कई मन्त्रों का प्रयोग भी हुआ है, किन्तु वह सब अदृष्टफल के लिये नहीं प्रत्युत दृष्टप्रयोजन के लिये पढ़े गये हैं।

"चत्वारि श्रृङ्गा''[2] आदि मन्त्र किसी अस्तित्वरहित पदार्थ का वर्णन नहीं करते। वे तो रूपक की सहायता से यज्ञपुरुष अथवा यज्ञकर्म का ही वर्णन करते हैं। अतः वादी द्वारा उन्हें अविद्यमान पदार्थ का वर्णन करने वाला कहना अज्ञानमूलक हैं। वस्तुतः तो वे विवक्षित अर्थ वाले ही हैं। मन्त्रों में जो अचेतन पदार्थों को सम्बोधित किया गया है, वह भी गौणार्थ लेने पर संगत हो जाता है। इनमें अचेतन पदार्थों में चेतन का आरोप भी गुणवाद से सिद्ध होता है। मन्त्रों द्वारा गौणकथन मान लेने पर ''अदितिर्द्यौः''[3] आदि मन्त्रों में विरुद्धार्थ कथन भी नहीं सिद्ध होता।

इस प्रकार मन्त्र सदैव विद्यमान पदार्थों का ही कथन करते हैं। विधिवाक्यों की भाँति ही मन्त्र अपौरुषेय एवं नित्य है तथा वे नित्य पदार्थों का ही वर्णन करते हैं। ''परंतु श्रुतिसामान्यमात्रम्''[4] आदि कथन भी इसमें प्रमाण हैं। जिस प्रकार लोकव्यवहार के लिये पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष कल्पित किये जाते हैं, उसी प्रकार वेदार्थ को स्पष्ट करने के लिये मन्त्रों में ऋषि एवं आर्षेय विषयों की कल्पना की जाती है। वस्तुतः ऋष्यादि का स्मरण अर्थज्ञान

1. तै० ब्रा० 3/2/8/4
2. ऋ० सं० 4/58/3
3. तै० आ० 1/13
4. जै० सू० 1/1/31

को दृढ़ करने के लिये हैं।

लिङ्ग की सामर्थ्य से भी मन्त्रों का अर्थप्रकाशन रूप उपयोग ज्ञात होता है ''आग्नेया०'' आदि विधियाँ इनकी अर्थपरता का ही ज्ञान कराती हैं। मन्त्रों में ''ऊहदर्शन से भी इनका अर्थप्रकाशन रूप दृष्टफल प्रमाणित होता है, क्योंकि प्रकृतियाग में पढ़े गये मन्त्रों का विकृतियागों में अर्थपरिवर्तन इनकी अर्थविवक्षा को ही सिद्ध करता है। विधिभाग में मन्त्रों की व्याख्या प्राप्त होने से भी मन्त्रों की अर्थ प्रकाशन रूप उपयोगिता प्रमाणित होती है। यदि मन्त्रों को अर्थ स्मारक नहीं मानेंगे तो ब्राह्मणवाक्यों में किया गया उनका व्याख्यान असंगत हो जायेगा, जबकि विधिभाग की प्रामाणिकता सन्देह से परे है। मन्त्रों द्वारा किया जाने वाला यह अर्थ प्रकाशन यज्ञकाल में ही होता है, स्वाध्यायकाल में नहीं। स्वाध्यायकाल में तो पुरुष अक्षराभ्यास एवं अर्थज्ञान में ही तत्पर रहता है।

जिन स्थलों पर मन्त्रों का दृष्ट प्रयोजन न प्राप्त हो, वहाँ पर उनका अदृष्ट प्रयोजन मानना चाहिए, जैसे 'हुं'' ''फट्'' आदि साममन्त्र। किन्तु जहाँ पर उनके द्वारा अर्थप्रकाशन हो रहा हो वहाँ पर उन्हें दृष्टफलक ही मानना चाहिए। मन्त्रों के ऋक्, यजुष् एवं सामन् तीन भेद हैं। जबकि विषय की दृष्टि से इन्हें करणमन्त्र, क्रियमाणानुवादी मन्त्र एवं अनुमंत्रण या अभिमन्त्रण तीन प्रकार से विभक्त किया जाता है।

अतः स्पष्ट है कि इन सभी मन्त्रों का उपयोग यागकर्म से सम्बद्ध द्रव्यादि का स्मरण कराने के लिये तथा अदृष्ट के सम्पादन के लिये होता है। विधि को अभीष्ट यागादि कर्म में पुरुष-प्रवृत्ति के समय उन्हें याग समवेत अर्थों का स्मरण कराने के कारण इनकी विधि के प्रति स्मारकता सिद्ध है, अतः मन्त्र भी धर्म के प्रति प्रमाण ही हैं।

''**नामधेयपाद**'' विधेयगागकर्म का अन्य यागों से व्यावर्तन करते हैं। उत्पत्तिवाक्यों में प्रयुक्त ये नामधेय पद यागों के नामनिर्धारण द्वारा पुरुष में विशेषयाग विषयक प्रमा उत्पन्न करने के कारण पुरुष प्रवर्तन में उपयोगी हैं। याग का परिच्छेद करने के कारण नामधेय यह व्यवस्था करते हैं कि अमुक फल की प्राप्ति हेतु पुरुष अमुक याग करे और इस प्रकार नामधेयपद विधिवाक्यों की व्यवस्था में सहायक होते हैं। यद्यपि प्राचीन मीमांसकों ने वेदवाक्यों के नामधेयभाग का अलग से विभाजनपूर्वक उल्लेख नहीं किया है, तथापि ये विधि के विधान कार्य में सहायक होने के कारण उसी में संग्रहीत हो जाते हैं। नामधेयपद एवं "यज" धातु दोनों की प्रवृत्ति का कारण याग ही होने से इनका सामानाधिकरण्य है। इनका यह सामानाधिकरण्य ''वैश्वदेवी'' और ''आमिक्षा'' पदों की भाँति एकार्थवाचकता के कारण है। इस प्रकार

''यज'' धातु से सामान्य रूप से प्राप्त याग ही इन नामधेयपदों से युक्त होकर विशेष अर्थ का निश्चायक होता है।

स्वरूप की दृष्टि से ये नामधेयपद चार वर्गो में विभक्त किये जाते हैं 1.**यौगिक पदों का नामधेयत्व,** 2. **रूढ पदों की नामधेयत्व,** 3. **योगरूढ पदों की नामधेयता** तथा 4. **निरूढ अर्थात् लोकरूढ़ पदों का नामधेयत्व।**

विधिवाक्यों में प्रयुक्त इन पदों को यागनामधेय मानने के चार प्रमुख कारण हैं- 1. मत्वर्थलक्षणा का भय 2. वाक्यभेददोष की प्राप्ति का भय 3.तत्प्रख्यन्याय 4. तद्व्यपदेश न्याय।

''उद्भिदा यजेत पशुकामः[1] आदि वाक्यों में प्रयुक्त उद्भिद्, बलभिद् आदि यौगिक पदों को मत्वर्थलक्षणा से बचने के लिये यागनामधेय माना जाता है। इन्हें नामधेयपद न मानकर गुणविधि या गुणविशिष्ट कर्मविधि मानने पर यागकर्म का विधायक अन्य वाक्य न प्राप्त होने से यहाँ पर मत्वर्थलक्षणा द्वारा यागकर्म की कल्पना करनी पड़ती है। साथ ही पशुकामादि फलविधायक पद भी व्यर्थ सिद्ध होते हैं। गुणविशिष्टकर्म-विधि मानने घर एक ही वाक्य में प्रधानत्व, गुणत्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों को मानना पड़ता हैं। इसके फलस्वरूप यहाँ पर ''विरुद्धत्रिकद्वयापत्ति'' नामक दोष प्राप्त होता है। अतः लक्षणावृत्ति के ग्रहण के कारण प्राप्त होने वाले इन दोषों से बचने के लिये इन वाक्यों में प्रयुक्त यौगिक पदों को अभिधावृत्ति से याग की संज्ञा माना गया है। वेद के ब्राह्मणभाग में उल्लिखित उद्भिदादि यौगिक पदों के निर्वचन भी इन्हें नामधेय के रूप में प्रमाणित करते हैं।

इसी प्रकार ''चित्रया यजेत''[2] आदि वाक्यों में प्रयुक्त चित्रा, आज्य, पृष्ठ आदि रूढ पद भी याग की संज्ञा हैं। इन्हें यागकर्म की संज्ञा मानने पर वाक्यभेद-दोष की निवृत्ति होती है। इसके विपरीत चित्रादि पदों को गुणविधायक मानने पर एक पद से अनेक गुणों का विधान मानना होगा, जो कि शास्त्रविरुद्ध है। ''चित्रया'' आदि पदों में विधायक प्रत्यय के एक ही होने से चित्रत्व-स्त्रीत्व आदि गुणों के विधान के लिये विधि की आवृत्ति माननी पड़ेगी; जिससे वाक्यभेद नामक दोष उपस्थित होता है। जबकि इन्हें याग की संज्ञा मानने पर कल्पना गौरव से निवृत्ति होती है, साथ ही इन यागों के लिये गुण का विधान करने वाले ''दधिमधु०'' आदि वाक्य भी व्यर्थ नहीं होते। वस्तुतः विचित्र द्रव्यों से सम्पादित होने के कारण ही इसे चित्रा याग कहा जाता है। गुण के विधायक पदों के सदृश प्रतीत होने वाले इन चित्रा, आज्य आदि पदों को याग की संज्ञा मानने पर श्रुतबाध और अश्रुतकल्पना रूप दोष

1. ता० ब्रा० 19/6/2/3
2. तै० सं० 1/5/9/18

भी नहीं प्राप्त होता, और इन यागविधायक पदों का याग के साथ सामानाधिकरण्य भी प्राप्त होता है। इन्हें याग की संज्ञा मानने पर याग के स्तावक अर्थवादवाक्य भी उपपन्न होते हैं।

"अग्निहोत्रं जुहोति"[1] आदि वाक्यों में प्रयुक्त अग्निहोत्रादि योगरूढ़ पद "**तत्प्रख्यन्याय**" से याग की संज्ञा सिद्ध होते हैं। इन पदों को देवता अथवा संस्कारादि गुणों का विधायक इसलिये नहीं माना जाता, क्योंकि इन गुणों का विधायक अन्य शास्त्र पहले से ही प्राप्त रहता है। मन्त्रवाक्य के द्वारा ही इनको अभीष्ट देवता आदि गुणों की प्राप्ति हो जाने के कारण ये पद याग की संज्ञा ही हैं। अतः इन वाक्यों में प्रयुक्त अग्निहोत्र, आधार, समित् आदि पद गुणविधायक नहीं, प्रत्युत याग की संज्ञा हैं। इन नामधेय पदों और "यज" का सामानाधिकरण्य एकविभक्तिक न होकर एकार्थवाचकता के कारण है।

"श्यनेनभिचरन् यजेत्"[2] आदि वाक्यों में प्रयुक्त श्येन, संदंश आदि पद लोकप्रसिद्ध द्रव्य रूप गुण के विधायक न होकर यागकर्म के नामधेय हैं। यदि इन्हें याग की संज्ञा न मानकर गुण का विधायक मानते हैं, तो अर्थवादगत श्येनादिरूप उपमान से श्येनादि की ही उपमा माननी होगी। जिससे एक ही पदार्थ में उपमानोपमेय भाव होगा, जो कि उचित नहीं है। अतः ऐसे पदों को "**तद्व्यपदेश न्याय**" से याग की संज्ञा माना गया है। वस्तुतः "यथा वै श्येनो०" आदि अर्थवादवाक्य श्येनादि संज्ञक याग की प्रशंसा द्वारा विधेय गुण के रूप में प्राप्त श्येन पक्षी से उसकी भिन्नता का वर्णन करते हैं। इस प्रकार उपमान पदार्थ की भिन्नता के कारण ये श्येनादि पद यागकर्म की संज्ञा हैं।

इसी प्रकार "वैश्वदेवेन यजेत", "वाजपेयेन यजेत" आदि वाक्यों में प्रयुक्त वैश्वदेवादि पदों की यागनामधेयता "**तत्प्रख्यन्याय**" से ही है। यह आवश्यक नहीं है कि विधेय गुण की प्राप्ति मन्त्र से ही हो या विधि से हो। उसकी प्राप्ति अर्थवाद वाक्य से भी हो सकती है क्योंकि वे भी विधि के शेष ही हैं। अतः यह स्पष्ट है कि नामधेयपद याग की विशेषता को प्रकट करते हैं। विशिष्टफल की प्राप्ति के लिये पुरुष में नामविशेषित प्रमा उत्पन्न करके ये विधि के उपकारक बनते हैं। क्योंकि पुरुष अपने अभीष्ट की प्राप्ति कराने वाले कर्मों को जानकर ही उनका अनुष्ठान करता है, अतः ये निष्प्रयोजन नहीं है। इसलिये ये धर्म के प्रति भी प्रमाण हैं।

वेदगत "**निषेधवाक्य**" अनर्थकारी कर्मों से पुरुष को निवृत्त कराते हैं। ये विधि से विपरीत अर्थ के बोधक होते हैं। अनिष्टनिवृत्ति के कारण निषेधवाक्य भी विधि की भाँति ही पुरुषार्थप्राप्ति में सहायक हैं। लिङादि युक्त

1. तै० सं० 1/5/9/18
2. ब्रा०3/8

नञ् के साथ पठित वाक्य ही निषेधवाक्य कहे जाते हैं। इनका कार्य निषेध्य विषयों से पुरुष निवर्तन है। निषेधवाक्यों में प्रयुक्त नञ् सदैव अपने से सम्बद्ध पदार्थ के विपरीत अर्थ का बोधक होता है। इन निषेधवाक्यों से यह ज्ञात होता है किन कर्मों के अनुष्ठान से पुरुष अधर्म का सम्पादन करता है। ऐसे निषेध्य कर्मों के अनुष्ठान के प्रति पुरुष में निवृत्तिबुद्धि उत्पन्न करना ही इनका प्रयोजन है। इस प्रकार निषेधवाक्यगत नञ् प्रवर्तना के विरोधी निवर्तना का ज्ञान कराता है।

लिङ्, लोट्, तव्य आदि युक्त वाक्यों में जब नञ् का सम्बन्ध विधायक प्रत्यय के साथ होता है, तो इनके द्वारा अत्यन्तनिषेध रूप अर्थ प्राप्त होता है। जब यही नञ् धातु अथवा प्रातिपदिक के साथ संयुक्त होता है, तो उसका प्रयोजन निषेध न होकर नञ् के साथ संयुक्त धात्वर्थ अथवा नाम से भिन्न की कर्तव्य के रूप में प्राप्ति कराना होता है। इस निषेध को **'पर्युदासनिषेध''** कहते हैं। ''ब्राह्मणो न हन्तव्यम्'' आदि वाक्यों में नञ् का सम्बन्ध विधायक प्रत्यय के साथ होने के कारण ऐसे स्थलों पर नञ् निषेधरूप ही होता है। जबकि ''यजत्तिषु ये यजामहं करोति नानूयाजेषु''[1] आदि वाक्यों में नञ् का सम्बन्ध प्रत्यय के साथ न होकर ''अनूयाज'' आदि प्रातिपदिक के साथ होता है अतः यहाँ लक्षणार्थ का सहारा लेकर इस वाक्य का ''अनूयाजभिन्न यागों में ये यजामह का उच्चारण'' कर्तव्य रूप से प्राप्त होता है- ऐसा अर्थ है, अतः यहाँ पर्युदास है। यहाँ वस्तुतः निषेध नहीं प्रत्युत विधि ही है, क्योंकि यहाँ तदन्यत् का अनुष्ठान ही कर्तव्य रूप में प्राप्त होता है अननुष्ठान नहीं।

जब नञ् का प्रत्ययार्थ अर्थात् शाब्दीभावना के साथ अन्वय करने पर अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं होती तभी नञ् का अन्वय धातु अथवा प्रातिपदिक के साथ किया जाता है। प्रत्ययार्थ के साथ नञ् के अन्वय में दो बाधक हेतु हैं, ''तस्य व्रतम्'' रूप संकल्प, विकल्प प्रसक्ति। इन बाधक हेतुओं में से किसी एक की प्राप्ति होने पर ही नञ् का लक्षणावृत्ति से पर्युदास अर्थ लिया जाता है। इन बाधक हेतुओं के न होने पर मुख्यवृत्ति से निषेध अर्थ ही लिया जाता है।

''नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्''[2] आदि वाक्यों में नञ् का भावना के साथ अन्वय करने में प्रारम्भ में किया गया ''तस्य व्रतम्'' ऐसा संकल्प बाधक है। अतः यहाँ पर नञ् का अन्वय प्रत्यय के साथ न करके ''ईक्ष्'' धातु के साथ किया जाता है। जिसके फलस्वरूप ''आदित्य विषयक अनीक्षण संकल्प'' ब्रह्मचारी के कर्तव्य रूप में प्राप्त होता है। जबकि ''नानुयाजेषु'' आदि वाक्यों में नञ् का भावना के साथ अन्वय करने पर विकल्प प्राप्त होता है। विकल्प के आठ

1. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 24/13/6
2. मनु० 4/137

दोषों से युक्त होने के कारण उसकी अपेक्षा लक्षणा ग्रहण करने में लाघव है। अतः यहाँ पर नञर्थ प्रातिपदिक अनूयाज के साथ संयुक्त होकर "अनूयाजभिन्न यागों में "ये यजामह" की कर्तव्य रूप से प्राप्ति कराता है।

निषेधवाक्यगत नञ् अपने से सम्बद्ध पदार्थ से भिन्न में व्यवस्थापन कराता है। अतः यह स्वमात्र में संकोच करने वाले उपसंहार से भिन्न है। जब विधान और प्रतिषेध दोनों ही शास्त्रवचन से विहित होते हैं तो वहाँ पर अगत्या विकल्पप्रतिषेध माना जाता है, क्योंकि शास्त्र प्राप्त का अत्यन्त निषेध नहीं हो सकता। अतः विधि से विहित का निषेध होने पर विकल्प प्रसक्ति का निवारण सम्भव नहीं होता। रागतः प्राप्त कर्मों का शास्त्र से सदैव निषेध किया जाता है। अनिष्ट निवारण करने के कारण ऐसे वाक्यों में नञर्थ अत्यन्त निषेधरूप होता है। इसलिये इन वाक्यों में नञ् का अन्वय प्रत्ययार्थ के साथ होता है।

पुरुषार्थ के रूप में शास्त्र द्वारा विहित दान, होमादि कर्मों का भी ज्योतिष्टोमादि यागों में क्रत्वर्थ के लिये निषेध होता है। यद्यपि दानादि कर्मों का अनुष्ठान नरकादि रूप अनर्थ का जनक नहीं है, तथापि क्रतु में वैगुण्य उत्पन्न करने के कारण क्रतुकाल में इनकी निवृत्ति अभीष्ट है।

राग के कारण प्राप्त एवं स्मृति आदि वचनों से प्राप्त पुरुषार्थभूत कर्मों का भी क्रत्वर्थ के लिये निषेध किया जाता है। जैसे- यागकाल में स्वस्त्रीगमनादि कर्मों का निषेध। यद्यपि ये कर्म न तो नरकादि रूप अनिष्ट फल वाले हैं और न ही क्रतु में वैगुण्योत पादक हैं, तथापि पुरुष को प्रत्यवाय की प्राप्ति कराने के कारण यागकाल में इनका निषेध किया गया है, क्योंकि प्रत्यवाय परिहार के लिये बाद में पुरुष को प्रायश्चित्त कर्मों का अनुष्ठान करना पड़ता है, जो अभीष्ट नही है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विधि की भाँति ही निषेधवाक्य भी पुरुषार्थ प्राप्ति में सहायक होते हैं, अतः ये निष्प्रयोजन नहीं है। धर्मरूपी प्रमिति के उत्पादन में सहायक होने के कारण इनका धर्म के प्रति प्रामाण्य भी सिद्ध है।

निष्कर्ष यह है कि स्वाध्यायविधि से सम्पूर्ण वेद के अर्थज्ञानपूर्वक अध्ययन का विधान होने से तथा विधि के पुरुष प्रवर्तन कार्य में सहायक होने से अर्थवाद, मंत्र यागनामधेय और निषेधवाक्यों की धर्म के प्रति प्रामाण्यता सिद्ध हो जाती है।

*****

परिशिष्ट

वाक्यशास्त्र के रूप में मीमांसा

मीमांसा वस्तुतः वाक्यशास्त्र के रूप में ही भारतीय दार्शनिक वाङ्मय में प्रसिद्ध है। वाक्यशास्त्र के रूप में मीमांसा का नैयायिकों, वैयाकरणों तथा वेदान्तियों से मतभेद है। 'पदवाक्यप्रमाण' शब्द क्रमशः व्याकरण, मीमांसा और न्याय के लिये प्राचीन काल से ही प्रयुक्त होता रहा है। वाक्यशास्त्र वस्तुतः मीमांसा का विषय है। बाद में विद्वानों ने वाक्य को अलग-थलग कर दिया जो कि उचित नहीं है। नैयायिक सम्मत प्रमाणों की स्थिति तभी संभव है जब वाक्य हो। वाक्य के बिना केवल अक्षर रूप शब्द अथवा पद से बोध नहीं हो सकता। अर्थबोध के लिये वाक्य की आवश्यकता अपरिहार्य है। मीमांसा में वाक्य का महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण ही उसके लिये 'वाक्यशास्त्र' शब्द का व्यवहार होता है। शब्दचिन्तन एवं शाब्दबोध का चिन्तन भी मीमांसा से ही आविर्भूत हुआ है। शाब्दबोध की इस परम्परा में वैयाकरण जहाँ बोध के लिये स्फोटवाद को मान्यता देते हैं वहीं नैयायिक तात्पर्यवाद को महत्त्व देते हैं इसके विपरीत मीमांसक वाक्यार्थबोध को स्वीकार करते हैं। इस वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया में जहाँ भाट्टमीमांसक अभिहितान्वयवाद को स्वीकृत करते हैं वहीं प्राभाकर मीमांसक अन्विताभिधानवाद को स्वीकृति देते हैं। स्फोटवाद तथा तात्पर्यवाद का मीमांसकों ने स्पष्ट खण्डन किया है उनका मत है कि स्फोटवाद से एवं तात्पर्यानुपपत्ति के शक्यार्थभूत लक्षणा से वाक्यार्थबोध संभव नहीं है। ऐसी दशा में यह प्रश्न उठता है कि स्फोटवाद, तात्पर्यवाद, तथा अभिहितान्वयवाद आदि का स्वरूप और अर्थ क्या है? इसके स्वरूप और अर्थ को संक्षेप में निम्नाङ्कित प्रकार से समझा जा सकता है—

1. स्फोटवाद—वैयाकरणों के अनुसार वाक्य की शक्ति स्फोट में होती है अतः वे वाक्य स्फोट से वाक्यार्थ बोध को स्वीकृति देते हैं। यहाँ अखण्डवाक्य ही अर्थबोधक होता है वाक्यगत पद अथवा पदगत वर्ण होते हैं जो कल्पित होने से उपाधिभूत हैं। जैसाकि कहा गया है—

> **"वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः**
> **साधुशब्देऽन्तर्गता हि बोधका न तु स्मृता"**[1]

तात्पर्य यह है कि यद्यपि वर्णस्फोट, पदस्फोट, अखण्ड पदस्फोट, अखण्ड वाक्यस्फोटादि के भेद से आठ प्रकार के स्फोट व्याकरण सिद्धान्त में मान्य हैं,

1. वैयाकरण भूषण- श्लोक-61

तथापि वाक्यस्फोट अर्थ का बोधक है ऐसा मानना चाहिए। वैयाकरण वाक्य की शक्ति स्फोट में मानते हैं और उनके अनुसार स्फोट ही मुख्य वाचक शब्द है; किन्तु यह 'स्फोट' किस स्वरूप वाला है? ऐसा प्रश्न उठने पर वैयाकरण कहते हैं कि इसके द्वारा अर्थ स्फुटित या प्रकाशित होता है, अतः इसे स्फोट की संज्ञा दी गई है अथवा "जहाँ अर्थ विकसित (प्रकाशित) होता है वही स्फोट है"। यह स्फोट यद्यपि एक और अखण्ड हैं तथापि जैसे जपाकुसुम आदि व्यञ्जक तत्त्वों के उपराग से स्फटिकमणि लाल या पीले रंग का दिखाई देता है वैसे ही वर्णादि के द्वारा व्यङ्ग्य स्फोट वर्णरूप, पदरूप और वाक्यरूप का कहलाता है। अथवा जैसे एक ही चेतन की ईश्वर एवं जीव की उपाधि के भेद से भिन्नता दृष्टिगत होती है उसी प्रकार स्फोट में व्यञ्जक ध्वनिगत कत्वआदि की उपाधि से ककारादि औपाधिक भेदों का बोध होता है। अतएव स्फोट को निरुपाधिक शब्दब्रह्म के स्वरूप का कहा जाता है।

वैयाकरणों का यह भी मानना है कि प्रत्येक वर्ण आशुतर विनाशी हैं। प्रत्येक वर्ण प्रथम क्षण में आविर्भूत होते हैं द्वितीय क्षण में उनकी स्थिति होती है और तृतीय क्षण में वे विनष्ट हो जाते हैं केवल उनके संस्कार ही वर्णपदादि क्रमानुसार स्फोट रूप आत्मा में स्थिर होते हैं और तभी अर्थ स्फुटित होता है। यह स्फोट अखण्ड अर्थात् निर्विकल्पक होता है और वर्णादि समस्त उपाधियों से रहित होता है। वैयाकरणों ने स्फोट को शब्दब्रह्म की भेदक ध्वनि कहा है।[1]

वैयाकरण यह भी मानते हैं कि परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार वाक् के भेद हैं। मूलाधार में स्थित वायु से संस्कृत और मूलाधार में ही स्थित शब्द ब्रह्मरूप क्रियाशून्य वाक् 'परा' है। मूलाधार से नाभिपर्यन्त स्थित और मन के द्वारा दृष्टिगोचर होने वाली वाक् "पश्यन्ती" है। यह शब्दब्रह्म की उपासना में लीन योगियों के सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञान का विषय होने के कारण मनोगोचरीभूता कहलाती है। नाभि से हृदय स्थल की ओर आने वाली प्राणवायु से अभिव्यक्त एवं विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन करने वाली स्फोटरूपा वाक् "मध्यमा" है यह श्रवणेन्द्रियगोचर नहीं होती है और सूक्ष्मरूपा होने से केवल बुद्धीन्द्रिय ग्राह्य होती है। हृदय से चलकर कण्ठदेश से होकर मुखपर्यन्त आने वाली वाक् वैखरी है यह मूर्धाभाग में टकराने के पश्चात् परावर्तित होती हुई उन-उन मूर्धादि स्थानों से व्यञ्जित होती है

1. स च यद्यप्येकोऽखण्डश्च तथापि पदं वाक्यं जपाकुसुमादि
लौहितत्वादि-व्यञ्जकोपरागवशाद् लोहितः पीतः स्फटिक इति भानवद् वर्णादिव्यङ्ग्यः
वर्णरूपो पदरूपो वाक्यरूपश्च"। [प० लघुम० पृ० 64]
पदे वर्णा न विद्यन्ते वाक्येष्वयवा न च
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन। [प०ल०म०पृ०64]

अतएव श्रावण प्रत्यक्ष का विषय होती है। इनमें मध्यमा और वैखरी से एक साथ शब्द उत्पन्न होता है। मध्यमाजन्य शब्द अर्थ का वाचक और स्फोटक शब्द का व्यञ्जक होता है। वैखरी नादजन्य ध्वनि है जो सामान्यजन के श्रवणेन्द्रिय से श्रव्य और भेरीनाद की भाँति निरर्थक है; अतएव मध्यमानाद से व्यङ्ग्य शब्द ही नित्य और स्फोटात्मक ब्रह्मरूप है। जैसाकि भर्तृहरि ने कहा है—

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्,
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।"

तात्पर्य यह है कि शब्दस्वरूप ब्रह्म अनादि अनन्त और अक्षर (अविनाशी) है। वह अर्थबोध के प्रयोजन से "क, ख' इत्यादि अक्षररूप में परिणत होता है। अतएव जैसे संसार परब्रह्म के विवर्त के रूप में प्रतीत होता है वैसे ही शब्दब्रह्म से वर्ण, पद, वाक्य आदि की सृष्टि होती है।

इसलिये पद वर्णरूप नहीं हैं और वाक्य में अवयव (पदविभाग) नहीं है। ऐसा वैयाकरण सिद्धान्त है।

वैयाकरणों द्वारा मान्य स्फोट की वाक्यार्थरूपता तर्कसङ्गत नहीं है, क्योंकि यदि शब्द अनित्य हैं तो वे नित्य शब्दब्रह्म के बोधक कैसे हो सकते हैं? इसी प्रकार आशुतर विनाशी ध्वनियाँ वाक्यार्थ बोधक नहीं हो सकती क्योंकि क्षणमात्र स्थिर वर्ण के आगामी क्षण में नष्ट हो जाने से वह पद अथवा वाक्य की अखण्डता का बोधक कैसे हो सकता है वस्तुतः ऐसा तो तब संभव होता जब आप शब्द को मीमांसकों की भाँति नित्य मानते। एक बार शब्द को तृतीय क्षण में नाशवान् मानना तदनन्तर शब्दब्रह्म की नित्यता मानना भला कैसे संभव है, क्योंकि प्रकृति प्रत्ययभूत वर्णों से पद और पदों के अन्वय से वाक्य बनता है और पदों का सम्बन्धज्ञान ही वाक्यार्थ की प्रतीति कराता है। असम्बद्ध अक्षर वर्ण अथवा पद वाक्य नहीं हो सकते एवं वाक्यार्थ बोध भी नहीं करा सकते हैं जैसे 'पुरुषो, अश्वः, हस्ती' आदि रूप पदसमूह वाक्यार्थबोधक नहीं होते एवं क, ग, ख रूप वर्ण भी वाक्यार्थ बोधक नहीं हो सकते; अपितु विशेष्य रूप से सम्बद्ध पद ही वाक्यार्थ में अन्वित होकर वाक्यार्थ बोधक होते हैं। अतः वैयाकरणों के स्फोटवाद को स्वीकार करने पर कल्पनागौरव होगा। साथ ही वाक्यार्थ की प्रतीति भी असंभव होगी इसलिए स्फोटवाद का मत अयुक्त है। वस्तुतः वर्णों से पदों की एवं अन्वित पदों से वाक्य की सृष्टि होती है पदों और वर्णों के बिना वाक्य की स्थिति संभव नहीं है और वाक्य का स्वरूप असिद्ध हो जाने पर वाक्यार्थ एवं उसका बोध भी व्यर्थ हो जाएगा। अतएव वैयाकरणों का स्फोटवाद वाक्यार्थबोधक नहीं हो सकता।

तात्पर्यवाद—नैयायिक वाक्यार्थबोध में स्फोटवाद को अस्वीकृत करते हैं और

लक्षणा शक्ति को वाक्यार्थबोधक मानते हैं। जब अभिधा या शक्ति से अर्थबोध संभव नहीं होता तो लक्षणावृत्ति अर्थबोध में सहायक होती है। प्रश्न यह उठता है कि यह लक्षणा क्या है? नैयायिक स्वशक्य सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं। यहाँ "स्व" का तात्पर्य लाक्षणिक पद से है। उस लाक्षणिक पद का शक्यार्थ के साथ संयोगादिरूप सम्बन्ध ही स्वशक्य सम्बन्ध है। जैसे "गङ्गायां घोषः" इस वाक्य में लाक्षणिक पद 'गङ्गा' का उसके शक्यार्थ प्रवाह के साथ संयोग सम्बन्ध है। इस संयोग सम्बन्ध के द्वारा गङ्गाप्रवाह के साथ सामीप्यादि सम्बन्ध से वर्तमान 'तट' अर्थ में लक्षणा होती है।

नैयायिक लक्षणा के दो भेद मानते हैं 1. गौणीलक्षणा 2. शुद्धालक्षणा। जहाँ स्वनिरूपित सादृश्य सम्बन्ध से शक्यार्थ का बोध होता है वहाँ "गौणी लक्षणा' होती है। जैसे "अग्निर्माणवकः" आदि वाक्य में अग्निनिरूपित सादृश्य सम्बन्ध से शक्यार्थ "अग्नि की भाँति तेजस्वी बालक' इस अर्थ का बोध होता है। इस अर्थ का प्रतिपादन सादृश्य सम्बन्ध द्वारा होने के कारण यहाँ गौणीलक्षणा है। सादृश्य से भिन्न कार्यकारण आधाराधेय आदि भावलक्षण सम्बन्ध के द्वारा जहाँ शक्यार्थ के सम्बन्धी का बोध होता है वहाँ शुद्धालक्षणा होती है। जैसे 'आयुर्वैघृतम्'' इस वाक्य में कार्यकारण भाव के सम्बन्धी आयु की तादात्म्यता प्रतीत होने से "आयु का कारण घृत है' ऐसा लक्षणार्थ किया जाता है। इसी प्रकार "गङ्गायां घोषः" इत्यादि वाक्य में आधाराधेयभाव सम्बन्ध, "राजाऽसौ गच्छति" आदि वाक्यों में स्वस्वामिभाव सम्बन्ध से लक्षणा के द्वारा अर्थबोध होता है। इस लक्षणा का प्राचीन नैयायिक 1. जहत्स्वार्था 2.अजहत्वार्था 3. जहदजहत्स्वार्था 4. लक्षितलक्षणा में चार भेद करते हैं। जहाँ लक्षणार्थ के साथ उसका वाच्यार्थ नहीं सम्बद्ध होता वहाँ "जहत्स्वार्था" होती है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' वाक्य में गङ्गा पद अपने प्रवाह रूप अर्थ को छोड़कर तीररूप अर्थ को लक्षित कराता है, अतः यहाँ 'अजहत्स्वार्था' है। जहाँ वाच्यार्थ का परित्याग किये बिना ही शब्द लक्ष्यार्थ का भी बोधक होता है वहाँ अजहत्वार्था लक्षणा होती है जैसे—'कुन्ताः प्रविशन्ति,, 'पीताम्बरमानय' आदि वाक्य कुन्तधारी पुरुष एवं पीताम्बर हरिरूप लक्ष्यार्थ के बोधक होने से अजहत्स्वार्था लक्षणा के उदाहरण हैं। नव्य नैयायिक लक्षणा के केवल 3 भेद मानते हैं 1. जहत्स्वार्था 2. अजहत्स्वार्था 3. जहदजहल्लक्षणा। नव्य नैयायिक लक्षितलक्षणा को लक्षणा का भेद नहीं मानते। "जगदीश तर्कालङ्कार' लक्षणा के पाँच भेद मानते हैं- 1. जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था 3. निरुढलक्षणा 4. गौणीलक्षणा 5. आधुनिकी लक्षणा।[1] ये व्यञ्जना को लक्षणा में ही अन्तर्भूत करते हैं।

1. द्र०- शब्द०प्र०-श्लोक-२५.

"प्राचीन नैयायिक अन्वयादि की अनुपपत्ति (असङ्गति) को लक्षणा का कारण मानते हैं जबकि नव्यनैयायिक तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा के बीज के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार यदि तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज नहीं मानेंगे तो "यष्टीः प्रवेशय" आदि स्थलों में अन्वयानुपपत्ति न होने से लक्षणा के प्रति उसकी कारणता व्यभिचरित होगी। इसी प्रकार 'गङ्गायां घोषः' आदि वाक्यों में घोषादि पद मकर मछली आदि लक्ष्यार्थों का बोधक होगा एवं 'गङ्गायां पापी गच्छति' आदि वाक्यों में गङ्गापद नरक का लक्षक होगा। अतः तात्पर्यानुपत्ति ही लक्षणा का बीज है।

यद्यपि मीमांसक भी लक्षणावृत्ति को स्वीकार करते हैं किन्तु वे स्वबोध्य संबन्ध को लक्षणा कहते हैं कुछ मीमांसक प्रतिपाद्य सम्बन्ध को लक्षणा मानते हैं। जैसे "छत्रिणो यान्ति' इस वाक्य में प्रतिपाद्य सम्बन्ध लक्षणा है, क्योंकि यहाँ शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा नहीं हो सकती। 'चित्रगुः' इत्यादि बहुव्रीहि समास में मीमांसक स्वबोध्य सम्बन्धरूपा लक्षणा मानते हैं वे समास में लक्षणा नहीं मानते। यहाँ "चित्रा गावो यस्य सः" वाक्य में लक्षणा है; जो चित्रा गायों के स्वामी का लक्षणा से बोधक है। वस्तुतः यहाँ चित्रगुसमुदाय में लक्षणा है। क्योंकि 'एकदेशविकृतमनन्यवत्" न्याय से चित्रगु में 'चित्रा गौः' यह वाक्य भी विद्यमान है अतः चित्रा गौ रूप स्व (लक्षणार्थ) के सम्बन्ध से स्वामी अर्थ लक्षित होता है।

इसी प्रकार 'गभीरायां नद्यां घोषः' इस वाक्य में स्वबोध्य सम्बन्ध को लक्षणा न मानने पर गभीर पद तीर अर्थ का लक्षक नहीं होगा, क्योंकि ऐसा मानने पर नदी पद के अन्वय की अनुपपत्ति होगी। क्योंकि तीर नदी रूप का नहीं है इसलिये नदी पद में लक्षणा नहीं हो सकती और नदी में लक्षणा न होने के कारण गभीर पदार्थ के अन्वय की भी अनुपपत्ति होगी। क्योंकि तीर अर्थ गम्भीर (गहरा) नहीं हो सकता, अतएव यहाँ गभीरत्वविशिष्ट नही का बोध संभव नहीं है। जबकि स्वबोध्य सम्बन्ध में लक्षणा मानने पर वाक्य समुदाय बोध्य गभीरत्व विशिष्ट नदी पदार्थ है और उसका सम्बन्ध लक्षणा है। इस प्रकार मीमांसक सिद्धान्त में वाक्य ही लक्षक होता है समास नहीं। मीमांसक वस्तुतः गौणीलक्षणा को स्वीकार करते हैं। इसका कारण यह है कि मीमांसक केवल अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं। तात्पर्यानुपपत्ति को वे लक्षणा का बीज नहीं मानते। अतः अन्वयार्थ के सङ्गत न होने पर सादृश्यादि सम्बन्ध से लक्षणा मानते हैं। जैसे 'यजमानः प्रस्तरः, इत्यादि में अन्वयानुपपत्ति होने के कारण स्रुगादि धारणरूप (तत्कार्यकारित्व) सादृश्य सम्बन्ध से यहाँ लक्षणा होती है।

जहाँ शक्य के परम्परा सम्बन्ध से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ "लक्षितलक्षणा" होती है। जैसे 'द्विरेफ' पद में लक्षितलक्षणा है। यहाँ

शक्यार्थ द्विरेफत्व के भ्रमर में न होने के कारण लक्षित लक्षणा से द्विरेफ पद भ्रमर अर्थ का बोधक है। प्राचीन नैयायिक स्वलक्षित पद के शक्य सम्बन्ध को लक्षितलक्षणा कहते हैं अर्थात् जहाँ लक्षित पद से शक्यार्थ का नहीं अपितु लक्ष्यार्थ का बोध हो वहां लक्षितलक्षणा मानते हैं; जबकि नव्यनैयायिकों के अनुसार जहाँ शक्यार्थ परम्परासम्बन्ध रूप का होता है वहाँ लक्षितलक्षणा होती हैं।

मीमांसक इस लक्षितलक्षणा का भी गौणीलक्षणा में ही अन्तर्भाव करते हैं। कतिपय नव्य नैयायिक भी इसे गौणीलक्षणा ही मानते हैं और वे लक्षित लक्षणा को लक्षणा का भेद नहीं मानते।

अखण्डार्थवाद-वेदान्ती लक्षणा द्वारा अखण्डार्थबोध को मान्यता देते हैं। क्योंकि यह अखण्डार्थबोध अभिधा से सम्भव नहीं है, अतः वे जहदजहल्लक्षणा या भागलक्षणा का आश्रय लेते हैं। ''सोऽयं देवदत्तः'', ''तत्त्वमसि'' आदि वाक्य सामानाधिकरण्य, विशेषण-विशेष्यभाव एवं लक्ष्यलक्षणभाव रूप संबंधों के द्वारा अखण्डार्थ का बोध कराते हैं। यद्यपि नीलमुत्पलम् आदि वाक्य में यह बोध अभिधा से ही हो जाता है, किन्तु ''तत्त्वमसि'' आदि वाक्य से जो निर्विशेष चैतन्यरूप अखण्डार्थ विवक्षित है वह भागलक्षणा से ही सम्भव होता है। इस प्रसङ्ग में वे तात्पर्यवाद का खण्डन करते हैं।

अभिहितान्वयवाद—भाट्टमीमांसक वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया में अभिहितान्वयवाद को स्वीकृति देते हैं। इनका मत है कि वाक्य में प्रयुक्त पद पहले स्वार्थ का अभिधान करते हैं तदनन्तर वे परस्पर अन्वित होकर अर्थात् गौणमुख्य न्याय से सम्बद्ध होकर वाक्यार्थबोध कराते हैं। ''अभिहितानां पदोपस्थापितानामर्थानामन्वयः (संसर्गः) संसर्गमर्यादया वाक्यार्थबोधे विषयो भवति इति वादः कथनम्'' अभिहितान्वयवादः'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पहले पदों के द्वारा उपस्थापित अर्थों का अन्वय सम्बन्ध होता है और इस अन्वय सम्बन्ध के द्वारा वे पद वाक्यार्थ के बोधक होते हैं—ऐसा सिद्धान्त जिस मत में स्वीकृत है वही ''अभिहितान्वयवाद'' है। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार उन उन अर्थों का बोध कराने में समर्थ और आकाङ्क्षादि सहकृत पद ही स्वार्थ अथवा लक्षणा शक्ति के द्वारा परस्परान्वित एवं अन्वय विशिष्ट उन पदों के एकार्थ का बोध कराते हैं। यह एकार्थ रूप वाक्यार्थ बोध ही शाब्दबोध कहलाता है। जैसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इस वाक्य में स्थित 'त' प्रत्यय प्रकृतिभूत ''यज'' के अर्थ से सम्बद्ध होकर ही भावना के बोधक होते हैं एवं ज्योतिष्टोम और स्वर्गकामादि पद भी अपने प्रत्ययांश से सम्बद्ध होने के अनन्तर भावना के साथ अन्वित होकर ही वाक्यार्थबोध कराते हैं।

तात्पर्य यह है कि अव्युत्पन्न बालक उत्तम वृद्ध के द्वारा उच्चरित 'गामानय' आदि लौकिक वाक्य को सुनकर मध्यमवृद्ध (प्रयोज्य पुरुष) की उन गवानयन आदि विषयों में प्रवृत्ति देखता है। तदनन्तर वह यह विचार करता है कि उस पुरुष में गवानयन विषयक बोध के पश्चात् ही प्रवृत्ति हुई है। इस प्रकार वह इस पुरुष में आनयन विषयक प्रवृत्ति ही होने से 'गामानय' इस वाक्य का अर्थ गवानयन में है- ऐसी अर्थबोधकता को जानता है। तदनन्तर 'गां नय, गां बधान, अश्वमानय' आदि अन्य वाक्यों का उत्तम वृद्ध द्वारा प्रयोग होने पर वह वाक्य में भिन्न-भिन्न पदों के योग अथवा त्याग रूप आवापोद्वाप को देखकर यह निश्चय करता है कि 'गो' पद सास्नादिमान् पिण्डविशिष्ट द्रव्य का वाचक है और 'आनय' शब्द लाना क्रिया का एवं 'बधान' पद बाँधने का और इस प्रकार वह पदार्थों की भिन्नता को जानता है। इस प्रकार पदार्थ का निश्चय होने के अनन्तर उसे विशिष्टानुपूर्वीकज्ञान रूप वाक्यार्थबोध होता है। यहाँ नैयायिक का मत है कि पदों के पदार्थ बोध से अवक्षीण पदार्थ ही स्वसंसर्गरूप वाक्यार्थ के बोधक होते हैं, जबकि भट्टमीमांसकों की मान्यता यह है कि वाक्य में प्रयुक्त पदार्थ पहले स्वार्थ के अभिधायक होते हैं और स्वार्थ के असङ्गत होने पर वे पुनः लक्षणा के द्वारा वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। यह लक्षणा वस्तुतः तब होती है जब अभिधा के द्वारा वाच्य अर्थ का अन्वय अनुपन्न हो जाता है। यहाँ यदि वाक्यार्थगत पद अन्वय सम्बन्ध से रहित निरपेक्ष रूप से स्थित होते तो विशिष्टैकार्थबोध में वाक्य का तात्पर्य बाधित होता किन्तु गामानय आदि वाक्यों में गोसम्बद्ध पदों के ही परस्पर अन्वय प्राप्त करने के कारण गवानयन रूप वाक्यार्थ की सिद्धि होती है। इसी प्रकार 'चैत्र पुत्रस्ते जातः' मृतो वा' आदि वाक्य का प्रयोग होने पर मध्यमवृद्ध के मुख पर आने वाली प्रसन्नता या विषाद को देखकर भी वह यह अनुमान करता है कि पुत्रोत्पत्ति आदि विषयक श्रवण के अन्तर ही इसे हर्ष या विषाद हुआ है और इस प्रकार वह पदों की वाक्यार्थ बोधकता का निश्चय करता है। निष्कर्ष यह है कि पदों से अभिहित पदार्थ ही परस्पर अन्वय प्राप्त करते हैं। जैसा कि ''शबरस्वामी'' ने कहा भी है—अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तो वाक्यार्थं बोधयन्ति।''

इस प्रकार भाट्ट मीमांसकों के अनुसार वाक्य में अभिहित अर्थ वाले पदों का अन्वय होने के अनन्तर ही वाक्यार्थ बोध होता है। लक्षणा की सहायता शक्यार्थानुपपत्ति के कारण ली जाती है तात्पर्यानुपपत्ति के कारण नहीं। इस सिद्धान्त को मानने के कारण भाट्ट मीमांसक 'अभिहितान्वयवादी' कहे गये।

अन्विताभिधानवाद—''प्रभाकरमतानुयायी वाक्यार्थबोध में अन्विताभिधानवाद को स्वीकार करते हैं। इनके मतानुसार वाक्यगत पद अन्वित होने के अनन्तर ही वाक्यार्थ बोधक होते है। वे स्वतंत्र रूप से अर्थाभिधान नहीं करते।

प्रभाकर के अनुसार वाक्य में होने वाले उस अन्वय के उन-उन पदार्थों का विशेषण होने से ही उनकी शक्यार्थता और पदार्थवाच्यता है। इनका मानना है कि लोक में शक्तिग्रहण वृद्धव्यवहार के अधीन होता है। क्योंकि वह वृद्धव्यवहार कार्यावलम्बी होता है अतएव कार्य ही वाक्यार्थ है। वह कार्य ही पुरुष का प्रवर्तक होता है। जैसे 'गामानय' इस वाक्य का पहले श्रवण होने पर ये शब्द गवानयन रूप अन्वित अर्थ के ही बोधक हैं- ऐसा जानता है, इसलिये उत्तमवृद्ध के द्वारा 'गामानय' वाक्य का प्रयोग होने पर गवानयनादि में प्रवृत्त हुए मध्यम वृद्ध को देखकर समीपस्थ व्युत्पित्सु बालक यह अनुमान करता है कि यह पुरुष "गामानय" वाक्य का प्रयोग होने पर ही गवानयन विषयक कार्य में प्रवृत्त हुआ है और इस प्रकार यहाँ गवानयनकार्य ही वाक्यार्थ है- ऐसा निश्चय करता है। तदनन्तर वह यह अनुमान भी करता है कि मध्यमवृद्ध (प्रयोज्य) की प्रवृत्ति का कारण उत्तमवृद्ध (प्रयोजक) का वाक्य है। तब वह यह अनुमान भी करता है कि 'गामानय' इस वाक्य से अनिर्णीत विशेष पदार्थ गो के लाने का कार्य यहाँ वाक्यार्थ है। इसी प्रकार वह 'अन्य वाक्यों में भी पदों की अन्विातार्थबोधकता ही माननी चाहिए पदार्थ की अर्थबोधकता नहीं' ऐसा निश्चय करता है। क्योंकि आवापोद्वाप के द्वारा पदार्थों की विविच्यमानता (भिन्नता) होने पर भी उन उन वाक्यों में उन उन पदों के द्वारा अन्वित पदार्थ ही दिखाई देते हैं केवल पदबोध नहीं कराते, अतः पदों की शक्ति स्वार्थ के अन्वित होने पर भी समाप्त नहीं होती इसलिये पदों के अभिधेय होने पर ही अन्वितरूप वाक्यार्थ होता है और वह वाक्यार्थ पदार्थगम्य नहीं हो सकता। इस मत के अनुयायी "अन्विताभिधानवादी" कहे जाते हैं। प्रभाकर के अनुसार पदार्थ विशेष का बोध तो बालक को पदान्तर ग्रहण और पूर्वपद के परित्याग से होता है। क्योंकि वह यह देखता कि 'गां बधान' का प्रयोग करने पर प्रयोज्य गाय को बाँधता है और 'गां मुञ्च' का प्रयोग करने पर गाय को बन्धन मुक्त करता है जिसे देखकर व्यत्पित्सु बालक यह चिन्तन करता है कि गो पद सभी वाक्यों में प्रयुक्त है अतः गो का अर्थ सास्नादिमान् पदार्थ है एवं 'आनय' का अर्थ ले आना, बधान का अर्थ बाँधना और मुञ्च का अर्थ मोचन कार्य है। इस प्रकार वह प्रत्येक पद के विशेष अर्थ का निश्चय करता है। इसी प्रकार वेद में भी लोकवेदाधिकरण से कार्य की वाक्यार्थता निर्णीत होने से प्रभाकर मत में वाक्य ही बोधक होता है, पद नहीं। जैसाकि "शालिकनाथ" ने कहा भी है—

"कार्यत्वेन नियोज्यं च स्वात्मनि प्रेरयन्नसौ
नियोग इति मीमांसा निष्णातैरभिधीयते।
कार्यस्यैव प्रधानत्वाद् वाक्यार्थत्वं च युज्यते,
वाक्यं तदेव हि प्राह नियोज्यविषयान्वितम्"

निष्कर्ष यह है कि प्राभाकर मीमांसक केवल वाक्य में ही वाक्यार्थ बोधकता मानते हैं पद या लक्षणा में वाक्यार्थबोधकता को वे नहीं स्वीकार करते। इसलिये प्रभाकर मत में अन्वितार्थक पदार्थ से ही वाक्यार्थबोध का सिद्धान्त मान्य है।

निष्कर्ष यह है कि मीमांसक शब्दनित्यतावादी हैं। इन शब्दों के अर्थबोध के लिये अभिधा, लक्षणा और गौणी तीन वृत्तियाँ हैं। इनमें से अबाधित शब्दसङ्केत जन्य प्रतीति कराने वाली वृत्ति अभिधा है। यह वृत्ति वस्तुतः 'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः' अर्थात् 'इस शब्द का यह अर्थ जानना चाहिए' इत्याकारक पदार्थ है इसी को "सङ्केत" कहते हैं। यह सङ्केतग्रह व्याकरण, उपमान, कोष आदि आठ कारणों की सहायता से होता है। लक्षणावृत्ति स्वबोध्य शक्य सम्बन्ध है जिसका आश्रय शक्यार्थान्वयानुपत्ति के कारण होता है मीमांसक तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज नहीं मानते, क्योंकि वेद के अपौरुषेय होने से वहाँ तात्पर्यानुपपत्ति सम्भव नहीं है। यह लक्षणा जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था के भेद से दो प्रकार की होती। वस्तुतः ये दो भेद मीमांसा, न्याय एवं वेदान्त तथा आलङ्कारिकों को भी मान्य हैं। स्वशक्यार्थ की विशेष्यता से रहित अन्वयबोध की प्रयोजिका लक्षणा "जहत्स्वार्था' कहलाती है। इसके उदाहरण "गङ्गायां घोषः' इत्यादि वाक्य हैं। स्वशक्यार्थ की विशेषता से युक्त अन्वयबोध की हेतुभूता लक्षणा 'अजहस्वार्था' कहलाती है। इसके उदाहरण 'कुन्ताः प्रविशन्ति', 'यष्टीः प्रवेशय' इत्यादि वाक्य हैं। आलङ्कारिक इसी को 'उपादानलक्षणा' कहते हैं। स्वशक्यसम्बन्धी गुण के सजातीय गुण के सादृश्य से उपस्थिति होने वाली शब्दवृत्ति 'गौणी' कहलाती है। इस गौणीवृत्ति के बोधक तत्सिद्धि जाति, सारूप्य, प्रशंसा, भूमा और लिङ्गसमवाय छह सहकारिकारण हैं। इन छह सहकारियों की सहायता से गौणार्थ प्राप्त होता है। 'यजमानः प्रस्तरः', सिहो माणवकः' आदि वाक्य गौणीवृत्ति के उदाहरण है वस्तुतः दो प्रकार के प्रमाण वाक्य दृष्टिगत होते हैं— लौकिक अर्थात् पौरुषेय वाक्य २. अलौकिक अर्थात् अपौरुषेय वाक्य। प्रथम प्रकार के वाक्यों को आप्तवचन' की संज्ञा दी जाती है। द्वितीय कोटि के वाक्य अपौरुषेय वेदवाक्य हैं। यह मत भाट्ट मीमांसकों का है। प्रभाकर मीमांसक लौकिक वाक्यों के प्रामाण्य को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार अपौरुषेय वेदवाक्य ही प्रमाणभूत हैं, पुरुष का वाक्य तो वक्ता के अभिप्राय (विवक्षा) का अनुमापक होने के कारण स्वयं वाक्यार्थ का बोधक नहीं होता। न केवल पुरुषाधीन वाक्य; अपितु व्युत्पत्तिसिद्ध लौकिक पदों की बोधकता के भी अनेक बार व्यभिचरित होने से पौरुषेय वाक्यों की अर्थबोधकता कुण्ठित होती है। क्योंकि इस वक्ता के द्वारा इस अर्थ को ज्ञात करने के बाद ही यह वाक्य प्रयुक्त है- ऐसा अनुमान नहीं होता, अतः उसकी अन्यथात्वबोधकता की

शङ्का निवृत्त नहीं होती। अतः लौकिक वाक्यों का वक्ता की बुद्धि द्वारा अनुमान करना चाहिए। वस्तुतः प्राभाकर मीमांसक केवल वेदवाक्यों की वाक्यार्थ बोधकता स्वीकार करते हैं, लौकिक वाक्यों की अर्थबोधकता को वे केवल अनुमान रूप मानते हैं। वैदिक वाक्यों के विधि, मन्त्र, निषेधादि अनेक भेद हैं। ये सभी वाक्य अर्थबोधक होने से प्रमाणभूत हैं।

वाक्य का स्वरूप और प्रयोजन

विशिष्ट अर्थों के बोधक पदों का समूह ही वाक्य की संज्ञा से अभिहित होता है। वैयाकरण जहाँ 'एकतिङ्वाक्यम्'' अर्थात् एक क्रियापद से युक्त वाक्य मानते हैं वहीं नैयायिक आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधियुक्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं यही मत आलङ्कारिकों का भी है। जबकि मीमांसक समभिव्याहार (सहोच्चारण) को वाक्य की संज्ञा देते हैं। वस्तुतः साध्यता आदि की वाचक द्वितीया आदि विभक्तियों का अभाव होने पर भी शेष और शेषिरूप (अङ्गाङ्गिबोधक) पदों का सहोच्चारण ही ''समभिव्याहार'' है और यही वाक्य हैं। इन पदों में आवश्यक योग्यता और सन्निधि तो होती ही है। जैसे- 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं श्रृणोति' (अर्थात् जिसका जूहू (पलाश का दोना) पर्णतायुक्त होता है उसका पाप नहीं सुनाई पड़ता) इत्यादि वाक्य यह बोध कराते हैं कि पर्णता जुहू का अङ्ग है और जुहू अङ्गी। ये वाक्य दो प्रकार के होते हैं— 1. विधिवाक्य. 2. निषेधवाक्य। विधिवाक्य पुरुष प्रवर्तक होते है, और निषेधवाक्य अनिष्ट कर्मों से पुरुष के निवर्तक होते हैं। 'स्वर्गकामो यजेत', गां नय' आदि वाक्य विधिवाक्य के उदाहरण हैं। 'न कलञ्जं भक्षयेत्', 'सुरा न पिबेत्' आदि वाक्य निषेधवाक्य के उदाहरण हैं।

वाक्य में स्थित पदगत शब्द वस्तुतः दो प्रकार के होते हैं 1. ध्वन्यात्मक 2. वर्णात्मक। भेरी, मृदङ्गादि से उत्पन्न शब्द ध्वन्यात्मक शब्दों के उदाहरण है और संस्कृत, जर्मन, हिन्दी आदि भाषारूप शब्द वर्णात्मक शब्दों के उदाहरण हैं। ये सभी शब्द प्रकारान्तर से तीन प्रकार के हैं—1. संयोगज 2. विभागज 3.शब्दज। इनमें भेरी और दण्ड के संयोग से उत्पन्न शब्द 'संयोगज हैं। इसी प्रकार कण्ठ, तालु आदि के साथ वायु का संयोग होने पर उत्पन्न वर्णात्मक शब्द भी संयोगज ही हैं। वस्तु के अथवा शारीरिक अङ्गों के विभाग से उत्पन्न शब्द विभागज हैं। जैसे —बाँस अथवा कपड़े के फटने से उत्पन्न 'चरचर' आदि रूप ध्वनियाँ विभागज हैं। इसी प्रकार दोंनों ओष्ठों के खुलने से उत्पन्न ध्वनि भी विभागज है। ''वीचीतरङ्गन्याय'' से अथवा ''कदम्बमुकुलन्याय'' से उत्पन्न शब्द शब्दज हैं। जैसे- जल में उठने वाली एक तरङ्ग (लहर) दूसरी की और दूसरी तीसरी की क्रमशः कारण होती है। अथवा जैसे कदम्बमुकुल के प्रारम्भिक वृन्त खिलने के बाद आगामी वृन्तों के खिलने का कारण होते हैं।

वैसे ही प्रारम्भ में उत्पन्न ध्वनि दशों दिशाओं में पहुँचकर अन्य दश ध्वनियों की उत्पत्ति का कारण और वे ध्वनियाँ क्रमशः अन्य ध्वनियों की जनक होती हैं इन्हीं को शब्दज ध्वनियाँ (शब्द) कहा गया है। इनमें प्रकृति, प्रत्यय और निपात एवं इनके संयोग से बने शब्द (पद) सार्थक हैं और यही प्रमाणभूत हैं। जबकि अन्य ध्वनियाँ निरर्थक होने से अप्रमाणभूत हैं।

"प्रमाणभूत शब्दात्मक वाक्यों को आप्तवाक्य कहा गया। इस आप्तोपदेश के भी लौकिक और वैदिक दो भेद प्राप्त होते हैं। लौकिक व वैदिक उभयविध वाक्य प्रारम्भ में विधि, निषेध और अर्थवाद के भेद से तीन प्रकार के माने गये हैं। लौकिक वाक्यों में कतिपय वाक्य ही प्रमाण की कोटि में रखे जाते हैं और इन्हें आप्तवचन कहा जाता है जबकि समस्त वेदवाक्य अपौरुषेय होने से प्रमाण ही हैं। वस्तुतः इन तीनों भेदों की मान्यता लोक एवं वेद में समानरूप से है।

इनमें लौकिक विधिवाक्य का उदाहरण 'गामानय' आदि वाक्य और वैदिक विधिवाक्य के उदाहरण 'स्वर्गकामो यजेत' आदि वाक्य हैं।[1] लौकिक निषेध वाक्य के उदाहरण 'ब्राह्मणो न हन्तव्यम्', अनिष्टं न कुर्यात्' आदि वाक्य और वैदिक निषेध के उदाहरण 'न कलञ्जं भक्षयेत्' आदि वाक्य हैं।[2] इसी प्रकार 'अयं ब्राह्मणः स्वमहिम्ना जगत्पुनाति' आदि लौकिक अर्थवाद वाक्य के उदाहरण हैं एवं 'आपो वै शान्ताभिः शुचं शमयति' आदि वाक्य वैदिक अर्थवाद के उदाहरण हैं।[3] प्राचीन मीमांसकों ने वैदिक वाक्यों के प्रारम्भ दो भेद किये 1. ब्राह्मण 2. मन्त्र (मन्त्रबाह्मणयोर्वेदनामधेयम्'') इस ब्राह्मण भाग के अन्तर्गत ही विधि निषेध, एवं अर्थवाद को रखा गया था। नव्यमीमांसकों विशेषतः प्रकरण ग्रन्थकारों ने वेदवाक्यों के पाँच प्रकार किये हैं 1. विधि 2. अर्थवाद 3. मन्त्र 4. नामधेय 5. निषेध।

ये प्रमाण भूत वाक्य दृष्ट, अदृष्ट और दृष्टादृष्ट प्रयोजन वाले हैं। मीमांसक वस्तुतः वैदिक वाक्यों को प्रमाण मानते हैं और प्रमाणभूत लौकिक वाक्यों को उनका अनुवादक मानते हैं। इस वाक्य के प्रकारान्तर से दो प्रकार किये जाते है। महावाक्य 2. अवान्तरवाक्य। प्रधान क्रिया से सम्बन्धित गौण क्रिया सम्बन्धी वाक्य अवान्तर वाक्य है' एवं प्रकरण भूत वाक्यों के साथ एक वाक्यता प्राप्त करने वाले मुख्य क्रिया सम्बन्धी वाक्य को महावाक्य कहते हैं। यह एकवाक्यता वस्तुतः दो प्रकार की है पदैकवाक्यता तथा वाक्यैकवाक्यता विधिवाक्यगत पदों की एवं अर्थवादगत पदों की एकवाक्यता पदैकवाक्यता

1. द्र०- ग्रन्थ का विधि वाक्य पृ०- 16
2. द्र०- निषेधवाक्य पृ०- 150
3. द्र०- अर्थवादवाक्य

तथा वाक्यैकवाक्यता रूप की है; जबकि अर्थवादवाक्यों की प्रकरणगत विधियों के साथ होने वाली एकवाक्यता वाक्यैकवाक्यता है।[1]

मीसांसक वाक्यगत पदों की शक्ति अन्वयविशिष्ट वाक्यार्थ में मानते हैं; जबकि नैयायिक 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' नियम से अन्वयविषयक शाब्दबोध के तत्तदानुपूर्वीक ज्ञान में हेतु होने के कारण उसकी सामर्थ्य से अन्वयप्रतीति में अन्वयविशिष्टार्थरूप शक्ति कल्पित करते हैं। शब्द विषयता को वे शक्यार्थ मानते हैं। अतएव अर्थबोध के लिये लक्षणा को स्वीकार करते हैं; जो कि अयुक्त एवं कल्पनागौरवाधायक है। वस्तुतः नैयायिक 'गामानय' आदि वाक्य का अर्थ गोकर्मकता और आनयन रूप (कृति भूत) पदों की उन-उन पदों के द्वारा उपस्थापित आकाङ्क्षा, सन्निधि और योग्यता के सामर्थ्य से परस्पर सम्बद्ध 'गोनिष्ठकर्मत्वनिरूपक आनयनानुकूलकृतिमान्' ऐसा वाक्यार्थ मानते हैं। जबकि वैयाकरण पदार्थों के उद्देश्य विधेय भाव रूप अन्वय या सम्बन्ध को वाक्यार्थ कहते हैं; जो तर्कसङ्गत नहीं है, अतः अन्वय विशिष्ट वाक्यार्थ में ही वाक्य की शक्ति स्वीकार्य है।

मीमांसा के लिये वाक्यशास्त्र शब्द का प्रयोग यद्यपि प्राचीन मनीषी भी करते थे; किन्तु सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी से मीमांसा वेदवाक्य विवेचन परक कलेवर में आई। वस्तुतः ऐसा तब हुआ जब प्रकरण ग्रन्थकारों आपदेव, अहोबलसूरि, लौगाक्षिभास्कर आदि ने इसकी वाक्यरूपता को प्रमुख प्रतिपाद्य के रूप में अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित किया। इन प्रकरणग्रन्थों में आपदेव का **मीमांसान्यायप्रकाश**, अहोबलसूरि का **वाक्यार्थरत्नम्**, लौगाक्षिभास्कर का अर्थसंग्रह एवं श्रीकृष्णयज्वा की **मीमांसापरिभाषा** तथा चिन्नस्वामी शास्त्री की **तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली** आदि उल्लेखनीय हैं। इन प्रकरण ग्रन्थों में इसकी वाक्यरूपता के प्रतिपादन के साथ ही वाक्यों के भेद एवं उनका धर्म में प्रामाण्य प्रतिपादित किया गया।

संभवतः मीमांसा के लिये वाक्यशास्त्र का प्रयोग इसलिये भी हुआ क्योंकि मीमांसा ने वेद प्रतिपादित वाक्यों की न्यायरूपता को सिद्ध किया और इन न्यायों या मीमांसावचनों का प्रयोग वर्तमान न्याय प्रक्रिया में निर्णयात्मक स्थिति के लिये होने लगा। मीमांसा में प्रयुक्त अनेक न्यायवाक्य आज भारतीय विधि संहिता के अङ्ग बने हुए हैं। जो व्याख्या सिद्धान्त कहे जा सकते हैं।

मीमांसा वर्तमान में एक जीवन्त विषय है जिसकी आवश्यकता अपरिहार्य है। मीमांसा के अनुकरण पर ही आगे चलकर नैयायिकों ने वाक्य एवं वाक्यार्थ बोध की प्रक्रिया का विवेचन किया इसी प्रकार वेदान्त में भी महावाक्यों का अर्थबोध कराने सम्बन्धित प्रक्रियाओं का वर्णन किया। वस्तुतः

1. द्र०अर्थवादवाक्य पृ० 31

वाक्यशास्त्र मीमांसा का प्रमुख विषय था। इसी के अनुकरण पर नैयायिकों वैयाकरणों एवं वेदान्तियों ने वाक्य एवं वाक्यार्थ का विवेचन प्रारम्भ किया। इस संदर्भ में वाचस्पति मिश्र की **सिद्धान्त मुक्तावली,** गोकुलनाथ शर्मा का **पदवाक्यरत्नाकर, वाक्यपदीय** एवं शङ्कराचार्य की **वाक्यवृत्ति** उल्लेखनीय है। ये सभी ग्रन्थ मूलतः मीमांसा से ही पाथेय ग्रहण करने के बाद निर्मित हुए।

तात्पर्य यह है कि वाक्यशास्त्र शब्द का व्यवहार अन्य दार्शनिक, साहित्यिक शाखाओं में मीमांसा से ही प्रचलित हुआ। वस्तुतः न्याय का प्रमाण तभी संभव है जब वाक्य हो। वाक्य के बिना क्या प्रमाणों की कल्पना की जा सकती है? प्रमाणों का स्वरूप तो वाक्य के बिना सम्भव ही नहीं हैं, अतः प्रमाणों से प्रमेयबोधन के लिये वाक्य की आवश्यकता अपरिहार्य है। इसी प्रकार वाक्य विहीन पद भी अर्थबोध नहीं करा सकते। जहाँ कहीं पद अर्थबोध कराते भी हैं वहाँ वे वाक्य कल्पना द्वारा ही अर्थबोध कराने में समर्थ होते हैं। वस्तुतः वाक्य में अन्वित अर्थवाले पद ही अर्थबोधक होते हैं।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि भाषा की इकाई वाक्य है। इस वाक्य से ही पद, अक्षर आदि का भी बोध होता है वस्तुतः वाक्य का विश्लेषण होने पर ही पदों और अक्षरों का बोध होता है। वाक्य से पृथक् पद या अक्षर अर्थबोध नहीं करा सकते। यह वाक्य ही शब्दबोध अथवा शब्द चिन्तन की प्रक्रिया को आगे बढ़ाता है। इस वाक्यार्थ बोध में स्फोटवाद अथवा तात्पर्यवाद कल्पित करना व्यर्थ है। यह सभी कल्पनायें मीमांसा के अनुकरण पर की गई है। वस्तुतः वैयाकरण और नैयायिक भी अंततः वाक्य को ही अर्थबोधक मानते हैं जो मीमांसा का ही प्रभाव है। अर्थबोध की प्रक्रिया को स्फोटविचार अथवा तात्पर्य विचार रूपी आयाम में विस्तारित करना कल्पनागौरव में वृद्धि करना है। वैयाकरण ध्वनि के जो परा, पश्यन्ती आदि चार भेद करते हैं उनमें वैखरी वृत्ति ही अर्थबोधक है; शेष भेद व्यर्थ हैं। इस वैखरीवृत्ति का विकास मीमांसा ही प्रस्तुत करता है। इसलिये मीमांसा के द्वारा मान्य वाक्य से वाक्यार्थ बोध ही प्रमुख है शेष कल्पना विस्तार। अतएव मीमांसा (वाक्यशास्त्र) इस युग में महत्त्वपूर्ण और अपरिहार्य है, मीमांसा को जाने बिना न्याय आदि अन्य शास्त्रों को जानना दुरूह हो जाता है। क्योंकि ये सभी मीमांसा के वाक्यशास्त्र पर ही आधारित हैं, इसलिये मीमांसा अन्य शास्त्रों के बोध का मूल आधार सिद्ध होती है।

*****

ग्रन्थ में प्रयुक्त श्रुतिवाक्यों की सूची

★★★★★